कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है

आलोक रंजन
आनन्द सिंह

कैसा है यह लोकतन्त्र और यह संविधान किनकी सेवा करता है?

आलोक रंजन
आनन्द सिंह

बिगुल पुस्तिका-18

राहुल फाउण्डेशन
लखनऊ

ISBN 978-93-80303-62-8

मूल्य : रु. 150.00

पहला संस्करण: जनवरी 2014

पहला पुनर्मुद्रण : जनवरी 2020

प्रकाशक : राहुल फाउण्डेशन 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226 006 द्वारा प्रकाशित

आवरण : रामबाबू

टाइपसेटिंग : कम्प्यूटर प्रभाग, राहुल फाउण्डेशन

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिण्टर्स, ई-33, सेक्टर ए 5/6, ट्रॉनिका सिटी, गाज़ियाबाद

मुख्य वितरक : जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ 226020 फोन : 0522-4108495 ईमेल: janchetna.books@gmail.com

वेबसाइट : www.janchetnabooks.org

Kaisa Hai Yeh Loktantra Aur Yeh Samvidhan Kinki Sewa Karta Hai? by Alok Ranjan & Anand Singh

eBook prepared on 20/01/2026 by copying content from www.mazdoorbigul.net. The content and chapter structure has been corrected and verified using the Physical copy of the book. Buy the physical book to support the authors and the movement.

प्रकाशकीय टिप्पणी

इस निबन्ध का धारावाहिक प्रकाशन भारतीय गणतंत्र और संविधान के 60 वर्ष पूरे होने के अवसर पर 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' अखबार में शुरू हुआ था। इसकी पहली चार किस्तें (जनवरी-फरवरी 2010 से जून 2010 तक) 'नयी समाजवादी क्रान्ति का उद्घोषक बिगुल' में प्रकाशित हुई थीं। इसके आगे की 22 किस्तें उसी अखबार के उत्तराधिकारी के रूप में प्रकाशित हो रहे 'मज़दूर बिगुल' में दिसम्बर 2010 से जनवरी 2014 के बीच प्रकाशित हुईं।

लेखमाला की पहली 12 किस्तों के लेखक आलोक रंजन हैं और शेष 14 किस्तें आनन्द सिंह ने लिखी हैं।

राहुल फाउण्डेशन

26.12.2013

अनुक्रम

औपनिवेशिक भारत में संविधान निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

अन्तरिम सरकार और संविधान सभा

माउण्टबेटन योजना, विभाजन और आज़ादी

1947-50 का संक्रमणकाल : क्रमिक पूँजीवादी विकास की आम दिशा का निर्धारण और संविधान की मूल प्रकृति

कैसे तैयार हुआ भारतीय संविधान?

डॉ. अम्बेडकर और भारतीय संविधान

संविधान की प्रस्तावना : लोक लुभावन लफ्फाज़ी के साथ रचा गया प्रपंच

संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित सम्प्रभुता की असलियत

प्रस्तावना में उल्लिखित "लोकतंत्रात्मक गणराज्य" के ढोल की पोल

प्रस्तावना में जोड़े गये "समाजवादी" शब्द की बेशर्म धोखाधड़ी

मूलभूत अधिकार : दावे और हक़ीक़त

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्त : खोखले सिद्धान्त, नंगी सच्चाइयाँ

मूलभूत कर्तव्य : राज्य की विफलता का ठीकरा जनता पर फोड़ने की बेशर्म कवायद

भारतीय संघात्मक ढाँचे के ढोल की पोल

उत्तर-पूर्व और कश्मीर की जनता के साथ भारतीय राज्य का ऐतिहासिक विश्वासघात

भारतीय राज्यसत्ता : पूँजीपति वर्ग की तानाशाही को मूर्त रूप देता एक दमनकारी तंत्र

इस लोकतंत्र के तीसरे और चौथे खम्भे यानी न्यायपालिका और मीडिया की स्वतंत्रता और निष्पक्षता की असलियत

उपसंहार

औपनिवेशिक भारत में संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, इसकी निर्माण-प्रक्रिया, इसके चरित्र और भारतीय बुर्जुआ जनवादी गणराज्य की वर्ग-अन्तर्वस्तु, इसके अति सीमित बुर्जुआ जनवाद और निरंकुश तानाशाही के ख़तरों के बारे में

”हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न समाजवादी पन्थनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय,** विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की **स्वतन्त्रता,** प्रतिष्ठा और अवसर की **समता** प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब में व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिए दृढसंकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवम्बर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”**

इन्हीं लच्छेदार शब्दों की प्रस्तावना के साथ दुनिया के सबसे बड़े जनतन्त्र के संविधान की शुरुआत होती है जो (90,000 शब्द) दुनिया का सबसे वृहद संविधान है। इस 26 जनवरी को भारतीय गणतन्त्र और भारतीय संविधान की साठवीं सालगिरह धूमधाम से मनायी गयी। जश्न और जलसे हुए। राजधानी दिल्ली में तगड़े सुरक्षा-बन्दोबस्त के साथ गणतन्त्र दिवस परेड हुई। वहाँ महामहिम गण और अतिविशिष्ट जन ही मौजूद थे। एक तो जनता में अब मेले-ठेले वाला पुराना उत्साह रहा भी नहीं, दूसरे तगड़े सुरक्षा बन्दोबस्त उसे राजपथ तक फटकने भी नहीं देते।

सवाल यह भी उठाया जा सकता है कि गणतन्त्र दिवस का मुख्य आकर्षण सैन्य शक्ति का प्रदर्शन ही क्यों हुआ करता है? क्या लोकतन्त्र की मजबूती सेना की ताकत से तय होती है? वैसे इस प्रतीकात्मकता से जाने-अनजाने एक सच्चाई ही प्रदर्शित होती है। हर बुर्जुआ जनवाद (लोकतन्त्र) वास्तव में बुर्जुआ वर्ग का अधिनायकत्व होता है, वह बहुमत पर शोषक अल्पमत का शासन होता है जो थोड़े कामचलाऊ और थोड़े दिखावटी जनवाद के बावजूद मुख्यतः बल पर आधारित होता है। सामरिक शक्ति उसकी आधारभूत ताकत होती है। गणतन्त्र दिवस के अवसर पर सामरिक शक्ति का प्रदर्शन एक ओर लोगों में अन्धराष्ट्रवादी भावोद्रेक पैदा करता है, दूसरी ओर यह भी संदेश देता है कि इतनी विराट सैन्य-शक्ति से लैस सत्ता के ख़िलाफ आवाज़ उठाने की जुर्रत कोई कत्तई न करे।

बहरहाल, इन ऊपरी, चलताऊ बातों से हटकर ऐसे मौके पर यह बुनियादी सवाल उठाये जाने की जरूरत है कि हम जिस सम्प्रभु, समाजवादी जनवादी (लोकतान्त्रिक) गणराज्य में जी रहे हैं, वह वास्तव में कितना सम्प्रभु है, कितना समाजवादी है और कितना जनवादी है? पिछले साठ वर्षों के दौरान आम भारतीय नागरिक को कितने जनवादी अधिकार हासिल हुए हैं? हमारा संविधान आम जनता को किस हद तक नागरिक और जनवादी अधिकार देता है और किस हद तक, किन रूपों में उनकी हिफाजत की गारण्टी देता है? संविधान में उल्लिखित मूलभूत अधिकार अमल में किस हद तक प्रभावी हैं? संविधान में उल्लिखित नीति-निर्देशक सिध्दान्तों से राज्य क्या वास्तव में निर्देशित होता है? ये सभी प्रश्न एक विस्तृत चर्चा की माँग करते हैं। इस निबन्ध में हम थोड़े में

संविधान के चरित्र और भारत के जनवादी गणराज्य की असलियत को जानने के लिए कुछ प्रातिनिधिक तथ्यों के जरिये एक तस्वीर उपस्थित करने की कोशिश करेंगे।

किसी भी चीज के चरित्र को संक्षेप में, सही-सटीक तरीके से समझने के लिए, ऊपरी टीमटाम और लप्पे-टप्पे को भेदकर उसके अन्दर की सच्चाई को जानने का सबसे उचित-सटीक तरीका यह होता है कि हम उस चीज के जन्म, विकास और आचरण की ऐतिहासिक प्रक्रिया की पड़ताल करें। यही पहुँच और पध्दति अपनाकर हम सबसे पहले भारतीय संविधान के निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से चर्चा की शुरुआत कर रहे हैं। इसके बाद हम संविधान सभा के गठन और संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पर चर्चा करेंगे। इसके बाद इसके चरित्र-विश्लेषण और भारतीय गणराज्य के चाल-चेहरा-चरित्र को जानने-समझने की बारी आयेगी।

संविधान-निर्माण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

आज बहुत कम लोगों को ही इस तथ्य की जानकारी है कि जो संविधान भारतीय लोकतन्त्र (जनवाद) का ”पवित्र” आधार ग्रन्थ है, जो हर नागरिक के लिए अनुल्लंघ्य और बाध्यताकारी है, उसका निर्माण भारतीय जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों ने नहीं किया था, न ही चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी निकाय द्वारा उसे पारित ही किया गया था। संविधान बनाने वाली संविधान सभा को उन प्रान्तीय विधानमण्डल के सदस्यों ने चुना था, स्वयं जिनका चुनाव देश की कुल वयस्क आबादी के मात्र 11.5 प्रतिशत हिस्से से बने निर्वाचक मण्डल ने किया था। जाहिर है कि इनमें से चन्द एक कांस्टीच्युएंसी से चुने गये प्रतिनिधियों को छोड़कर शेष सभी सम्पत्तिशाली कुलीनों के प्रतिनिधि थे। यानी संविधान सभा सार्विक नहीं बल्कि अतिसीमित वयस्क मताधिकार के आधार पर चुनी गयी थी और प्रत्यक्ष नहीं बल्कि परोक्ष चुनाव के आधार पर चुनी गयी थी। इन चुने गये प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उसमें राजाओं-नवाबों के मनोनीत प्रतिनिधि थे। कुछ उच्च मध्यवर्गीय विधिवेत्ता और प्रशासकों को भी उसमें मनोनीत किया गया था। यहाँ यह भी जोड़ दें कि इस संविधान सभा को चुनने वाले प्रान्तीय विधान मण्डलों का चुनाव (अतिसीमित मताधिकार पर आधारित होने के अतिरिक्त) धार्मिक एवं जातिगत आधार पर पृथक् निर्वाचक-मण्डलों द्वारा किया गया था। चुनाव के इन आधारों और प्रक्रिया का निर्धारण ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935’ के द्वारा औपनिवेशिक शासकों ने किया था। संविधान सभा ने 1946 में जब काम करना शुरू किया तो देश अभी गुलाम था। 1950 में संविधान जब बनकर तैयार हुआ तो देश आजाद हो चुका था। लेकिन सार्विक मताधिकार के आधार पर चुने गये किसी नये निकाय द्वारा पारित या पुष्ट किये जाने के बजाय उसी पुरानी संविधान सभा द्वारा इसे पारित करके पूरे देश की जनता पर इसे लाद दिया गया।

दरअसल 15 अगस्त 1947 को राजनीतिक आज़ादी मिलने के बाद सत्ता सँभालने वाला भारतीय पूँजीपति वर्ग जितना जनवादी था और साम्राज्यवाद से जिस हद तक इसकी आज़ादी वास्तविक थी, उसी हद तक यह भारतीय जनता को जनवाद दे सकता था। भारत के बुर्जुआ जनवाद और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का जितना खण्डित-विकृत-विकलांग चरित्र था, यहाँ का संविधान और उसकी निर्माण-प्रक्रिया भी उसी से मेल खाती हुई थी। इस बात को ठीक से समझने के लिए हमें इतिहास में थोड़ा और पीछे जाना होगा।

संविधान-पाश

यह पुस्तक मर चुकी है
इसे न पढ़ें
इसके शब्दों में मौत की ठण्डक है
और एक-एक पृष्ठ
ज़िन्दगी के आखिरी पल जैसा भयानक
यह पुस्तक जब बनी थी
तो मैं एक पशु था
सोया हुआ पशु...
और जब मैं जागा
तो मेरे इंसान बनने तक
यह पुस्तक मर चुकी थी
अब यदि इस पुस्तक को पढ़ोगे
तो पशु बन जाओगे
सोये हुए पशु।

भारत का पूँजीपति वर्ग ऊपर से आरोपित औपनिवेशिक सामाजिक संरचना के भीतर से पैदा हुआ था। आर्थिक धरातल पर, (यूरोप की तरह) कृषि-दस्तकारी-मैन्यूफैक्चरिंग’ इसकी विकास-यात्रा के सोपान नहीं थे। वैचारिक-राजनीतिक धरातल पर पुनर्जागरण (रिनेसाँ)-प्रबोधन (एनलाइटेनमेण्ट)-जनवादी क्रान्ति इसकी विकास-प्रक्रिया की मंजिलें नहीं थीं। उन्नीसवीं सदी के अन्त तक इसका औद्योगिक आधार बेहद कमजोर था, यह मुख्यत: ब्रिटिश औद्योगिक पूँजी के अधीन था। तब इसका राजनीतिक स्वर वफादार ब्रिटिश प्रजा का राजनीतिक स्वर था। इसके भीतर जब अपनी औद्योगिक पूँजी के विकास और राष्ट्रीय बाज़ार में हिस्सेदारी की आकांक्षा ने उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में, आर.सी. दत्त, दादाभाई नौरोजी आदि की राजनीतिक धारा को जन्म दिया जिसे कुछ इतिहासकार प्राय: आर्थिक राष्ट्रवाद का नाम देते हैं। यह धारा औपनिवेशिक गर्भ में पली-बढ़ी भारतीय पूँजी के हितों से भी अधिक, कुछ दबी जुबान से और कुछ मुखर रूप से,रियायतों की माँग करने वाले पढ़े-लिखे औपनिवेशिक मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करती थी जो ब्रिटिश प्रजा के रूप में अपने कुछ अधिकार माँग रहा था। फिर इसी की प्रतिद्वन्द्वी रैडिकल राष्ट्रवाद की एक दूसरी धारा भी (तिलक की धारा) पैदा हुई, जो मध्य वर्ग के

निचले-मँझोले संस्तरों की राष्ट्रीय चेतना का प्रतिनिधित्व करती थी। 1905 तक कांग्रेस में भारतीय पूँजीपति की सक्रियता कुछ और बढ़ी। प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के उलझे होने के कारण1914-18 के दौरान जब ब्रिटेन से भारत को होने वाले माल-निर्यात और पूँजी-निर्यात में भारी कमी आयी, और युद्ध सम्बन्धी उपकरणों और अन्य सामानों के भारी उत्पादन की आसन्न आवश्यकता पैदा हो गयी, तो इस दौरान भरतीय उद्योगों का तेज और भारी विकास हुआ। यानी अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा में ब्रिटेन के उलझाव का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपतियों ने अपनी ताकत बढ़ाई और इसी ताकत के अनुपात में उसकी राजनीतिक आवाज़ में भी दम आ गया।1916 में नरम दल और गरम दल के समझौते के बाद कांग्रेस भारतीय पूँजीपति वर्ग की क्लासिकी राजनीतिक पार्टी के रूप में काम करने लगी और गाँधी क्लासिकी बुर्जुआ सिध्दान्तकार और रणनीतिकार के रूप में सामने आये।

वफादार ब्रिटिश प्रजा से शुरू करके असहयोग आन्दोलन, नमक आन्दोलन की मंजिलों से होते हुए ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ तक गाँधी की विचारयात्रा भारतीय पूँजीपति वर्ग की विचारयात्रा और उसके विकास की कहानी है। ‘डोमीनियन स्टेटस’ फिर ‘होम रूल’ और आज़ादी की माँग तक की यात्रा भारतीय पूँजीपति वर्ग के क्रमश: शक्ति-संचय के साथ ही उसके आत्मविश्वास के बढ़ते जाने का नतीजा थी।

1916 से लेकर 1947 तक भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सभी हिस्सों का प्रतिनिधित्व करते हुए, कांग्रेस ने राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को कोई ‘रैडिकल’ दिशा देने के बजाय’समझौता-दबाव-समझौता’ की रणर्नीति अपनायी। जनाकांक्षाओं को जगाकर आन्दोलन का दबाव बनाकर वह पूँजी के विकास के अनुकूल कुछ राजनीतिक अधिकार हासिल करती थी और फिर समझौता करके जन पहलकदमी को बुर्जुआ वर्ग-हितों के सीमान्तों का अतिक्रमण करने से रोक देती थी। इसके बाद फिर वह अगले अनुकूल अवसर का इन्तजार करती थी। उसने एक चालाक बौने की तरह आम जनता के जनसंघर्षों का अपने पक्ष में इस्तेमाल किया,जनपहलकदमी और जुझारूपन को कभी भी निर्बन्ध होकर अपने नियन्त्रण से बाहर नहीं जाने दिया, सम्पूर्ण आज़ादी, रैडिकल भूमि सुधार, राष्ट्रीयताओं को आत्मनिर्णय के अधिकार, सार्विक मताधिकार आदि रैडिकल माँगों पर जनता को लामबन्द करना और फिर उन माँगों से पीछे हटकर विश्वासघात करना – यह कांग्रेस की आम फितरत थी। कांग्रेस के भीतर दक्षिणपन्थी धड़ों के अतिरिक्त मध्यमार्गी और गरमागरम आमूलगामी बदलाव और समाजवाद की बात करने वाले नेहरू और सुभाष जैसे लोग और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रैडिकल निम्न बुर्जुआ नेता भी मौजूद थे। कांग्रेस मुख्यत: गाँधी के नेतृत्व में (जब वे औपचारिक तौर पर कांग्रेस से अलग थे, तब भी) ज़रूरत के मुताबिक रैडिकल धड़ों का भी इस्तेमाल (दबाव बनाने के लिए और जनसमुदाय को साथ लेने के लिए भी) करती थी और फिर सभी धड़ों में सन्तुलन भी स्थापित करती थी।

इस तरह ‘समझौता-दबाव-समझौता’ के रास्ते राष्ट्रीय आन्दोलन की मुख्य धारा पर अपना वर्चस्व और नियन्त्रण बरकरार रखते हुए कांग्रेस राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करने की मंज़िल तक पहुँची। दूसरे विश्वयुद्ध के कुछ वर्ष बीतते ही यह तय हो चुका था कि मित्र राष्ट्रों की विजय की स्थिति में भी साम्राज्यवादी विश्व के चौधरी की कुर्सी से ब्रिटिश उपनिवेशवाद को हटना पड़ेगा, उपनिवेशवाद का दौर अब ज्यादा नहीं चल सकता। अमेरिका का मानना था और ब्रिटेन के उदारवादी एवं सामाजिक जनवादी नेताओं का भी मानना था कि यदि जनक्रान्तियों और समाजवाद के हौवे से बचना है तो भारत जैसे उपनिवेशों में वहाँ के बुर्जुआ वर्ग को, अपने

साम्राज्यवादी हितों की अधिकतम सम्भव हिफाजत के लिए भरपूर मोलतोल करके राजनीतिक सत्ता सौंप देनी चाहिए। भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए स्थिति अनुकूल थी। 1942 में 'भारत छोड़ो' का नारा देकर उसने दबाव बनाने में पूरी ताकत झोंक दी, फिर 1945 से, राजनीतिक आज़ादी की दिशा सुनिश्चित जानकर, वह समझौता वार्ताओं में मशग़ूल हो गयी। 1946 में सार्विक मताधिकार की माँग से पीछे हटकर जब वह संविधान बनाने की प्रक्रिया आगे बढ़ाने की हड़बड़ी में थी, तब इसका एक कारण देशव्यापी मजदूर उभार, तेभागा-तेलंगाना-पुनप्रा वायलार के किसान संघर्ष और नौसेना विद्रोह से बना राष्ट्रीय तूफानी माहौल भी था, जो उस समय तक के विश्व-परिवेश में सर्वहारा क्रान्ति का हौवा पैदा कर रहा था (अब यह दीगर बात है कि विचारधारात्मक रूप से कमजोर, बँटे हुए नेतृत्व और ढीले-ढाले ढाँचे वाली कम्युनिस्ट पार्टी इस दौर का कोई भी लाभ नहीं उठा सकी।)

1947 में देश को राजनीतिक आज़ादी तो मिली, पर साम्राज्यवादियों के आर्थिक हित (लूट के अवसर) सुरक्षित रहे। राज्यसत्ता अब भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में थी, लेकिन यह राज्यसत्ता साम्राज्यवादी विश्व से आमूल विच्छेद करने के बजाय उनके भी आर्थिक हितों की गारण्टर थी। यह सीमित आज़ादी और खण्डित सम्प्रभुता वाला देश था। भारतीय पूँजीपति वर्ग को यह सुविधा मिल गयी थी कि वह कई साम्राज्यवादी ताकतों से पूँजी और तकनीक लेते हुए मोलतोल कर सके और जनता से निचोड़े गये मुनाफे में अपनी हिस्सेदारी के लिए शर्तें रख सके और दबाव बना सके। भारतीय पूँजीपति वर्ग अपने देश में निचोड़े गये अधिशेष का बड़ा भागीदार था, पर विश्वस्तर पर साम्राज्यवादियों का जूनियर पार्टनर ही था। यह देशी-विदेशी पूँजी दोनों का साझा हित था कि यहाँ की खेती-बाड़ी का पूँजीवादी विकास हो और उनके माल का, पूँजी का और श्रमशक्ति का राष्ट्रीय बाज़ार निर्मित हो। लेकिन यह काम यदि क्रान्तिकारी ढंग से, एक क्रान्तिकारी झटके के साथ किया जाता, तो जनता उसी क्रान्तिकारी आवेग के साथ और आगे जाने की कोशिश करती और इससे बुर्जआ सत्ता के लिए ख़तरा पैदा हो जाता। इसलिए पूँजीपति वर्ग ने धीरे-धीरे सामन्ती भूमि सम्बन्धों को तोड़ने का रास्ता चुना। इससे पुराने भूस्वामियों के एक बड़े हिस्से को, अपने को पूँजीवादी भूस्वामी बना लेने का मौका मिल गया और धनी और खाते-पीते काश्तकारों-रैध्दयतों के बीच से कुलकों-फार्मरों का विकास हुआ। गाँवों में पूँजीवाद का सामाजिक आधार मजबूत हुआ। पूँजी की कमी को दूर करने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग केवल विदेश पूँजी पर ही निर्भर नहीं रहा (इससे साम्राज्यवाद पर उसकी निर्भरता बढ़ जाती), उसने समाजवाद के नाम पर, जनता के पैसे से पब्लिक सेक्टर और राजकीय पूँजीवाद का विकास किया। इस प्रक्रिया में नौकरशाह पूँजीपति वर्ग और मध्यवर्ग के ऊपरी-मँझोले संस्तरों का भी तेजी से विकास हुआ। जब भारत के पूँजीपति वर्ग ने पर्याप्त ताकत हासिल कर ली तो उसी पब्लिक सेक्टर के प्रतिष्ठानों को औने-पौने कीमतों पर उसे बेच दिया गया। पर यह आगे की कहानी है, उदारीकरण- निजीकरण के दौर की। हमारा विषय क्षेत्र यहाँ भारतीय संविधान और गणतन्त्र के चरित्र की चर्चा करना है।

उपरोक्त ऐतिहासिक-राजनीतिक पृष्ठभूमि की चर्चा हम यह स्पष्ट करने के लिए कर रहे हैं कि संविधान शासक वर्ग की हितपोषक नीतियों की मुखर और घनीभूत अभिव्यक्ति होता है, उसकी राज्यसत्ता की बुनियादी आचार संहिता होता है। जिस बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध कोई रैडिकल संघर्ष करने के बजाय 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनाकर सत्ता हासिल की, जो औपनिवेशिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ था और साम्राज्यवादी युग में पला-बढ़ा

था,जिसकी इतिहास-यात्रा ”पुनर्जागरण-प्रबोधन-क्रान्ति” की नहीं थी, जिसकी राजनीतिक आज़ादी भी कटी- फटी, अधूरी और विकृत थी, जिसने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया, जिसने पूँजीवादी जनवादी भूमि सुधार के काम को रैडिकल भूमि क्रान्ति के द्वारा नहीं, बल्कि धीरे-धीरे रेंगते हुए, किश्तवार, गैर-क्रान्तिकारी ढंग से किया, वह बुर्जुआ वर्ग जनता को अति सीमित नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकार ही दे सकता है और व्यवस्था पर थोड़ा-बहुत राजनीतिक संकट पैदा होते ही वह इन सीमित जन अधिकारों को भी छीनकर निरंकुश सर्वसत्तावादी शासन की स्थापना के लिए तैयार रहेगा। ऐसा ही भारतीय पूँजीपति वर्ग का इतिहास रहा है और ऐसा ही उसका संविधान रहा है। यह संविधान भारत की जनता को वस्तुत: अतिसीमित जनवादी अधिकार देता है, बाकी बड़ी-बड़ी बातों की लफ्फाज़ी बहुत करता है। इसीलिए काफी मोटा है।

जिन देशों में पूँजीपति वर्ग क्रान्ति करके सत्ता में आया, उनकी स्थिति से एकदम अलग, यहाँ का पूँजीपति वर्ग अपनी आर्थिक ताकत बढ़ते जाने और राजनीतिक आन्दोलन को क्रमश: (दबाव का पहलू बढ़ाते हुए) आगे बढ़ाते हुए कुछ विधायी (लेजिस्लेटिव यानी विधान बनाने सम्बन्धी) अधिकारों और कुछ कार्यकारी (एक्ज़ीक्यूटिव या शासन-प्रशासन में भागीदारी विषयक) अधिकारों की माँग उठाता रहा और कानूनी-विधायी दायरे में यह लड़ाई-लड़ता रहा। हर बार वह जनान्दोलनों के दबाव का इस्तेमाल करता रहा और भारतीय दीवानी कचहरियों के घुटे हुए मुकदमेबाजों की तरह अपने मामले की पैरवी करता रहा। यह काम उसकी राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने बड़ी कुशलता के साथ किया और इस तरह कई औपनिवेशिक कानूनों के जरिये होते हुए वह 1935 के ‘गवर्नवमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट’ और फिर 1946 में संविधान सभा बनाकर संविधान बनाने की प्रक्रिया तक पहुँचा।

1920 तक, औपनिवेशिक भारत की विधान परिषदों को वस्तुत: कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। इनकी हैसियत वायसराय की सलाहकार परिषद से अधिक नहीं होती थी। 1857 के महान जनविद्रोह के बाद, ब्रिटिश पूँजीपति वर्ग ने, औपनिवेशिक प्रशासन सीधो ब्रिटिश संसद और सरकार के प्रत्यक्ष नियन्त्रण में आने के बाद, पहला काम फौजी सुधारों का किया जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष यह था कि भारतीय सिपाहियों पर बेहतर नियन्त्रण के लिए भारतीय सामन्ती अभिजातों और उन्हीं के बीच से आये शहरी, शिक्षित मध्यवर्गीय कुलीनों को फौज की अफसरी में हिस्सा मिले (और केवल उन्हें ही मिले, आम भारतीय को नहीं) दूसरा प्रशासनिक कदम था 1861 का इण्डिया कौंसिल ऐक्ट, जिसके तहत वायसराय, तीनों (बंगाल, मद्रास और बम्बई) प्रेसिडेंसियों के गवर्नरों तथा उत्तर-पश्चिम प्रान्त और पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नरों के अधीन विधान परिषदें कायम की गयी, जो उन्हें सलाह दे सकती थीं। इनमें से आधे सदस्य वे होते थे, जो सिविल सर्विस में नहीं थे। ये प्रतिनिधि सामन्तों और वाणिज्य-व्यापार से जुड़े शहरी अभिजनों के बीच से चुनकर आते थे। हाउस ऑफ कॉमन्स में भारत मन्त्री सर चार्ल्स वुड ने स्पष्ट कर दिया कि इस कानून का उद्देश्य उच्चपदस्थ और अभिजात भारतीयों को ब्रिटिश शासन का पक्षधर बनाये रखना और औपनिवेशिक शासन को मजबूती प्रदान करना था। उल्लेखनीय है कि लेजिस्लेटिव कांउसिलों (विधायी परिषदों) के साथ-साथ वायसराय की एक्जीक्यूटिव काउंसिलों (कार्यकारी परिषदों) का गठन हुआ तथा तीनों प्रेसिडेंसियों और उत्तर पश्चिम प्रान्त में हाई कोर्टों की स्थापना की गयी।

फिर आया 1892 का इण्डियन काउंसिल ऐक्ट, जिसमें केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानपरिषदों में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या बढ़ा दी गयी। जिनमें से कुछ का निर्वाचन नगरपालिकाओं, जिला बोर्डों आदि के जरिये परोक्ष चुनाव द्वारा होना था। फिर भी परिषदों में सरकारी बहुमत था और वायसराय या गवर्नर जनरलों के निर्णयों को प्रभावित करने के मामले में उनके अधिकार नहीं के बराबर थे। इस कानून का खाका बनाने वाले लार्ड डफरिन और अन्य ब्रिटिश राजनीतिज्ञों-नौकरशाहों का मानना था कि इसके जरिये कुछ मुखर एवं प्रबुद्ध उच्च मध्यवर्गीय भारतीय नेताओं को (कांग्रेस के वे तत्कालीन नेता, जिन्हें कुछ इतिहासकार आर्थिक राष्ट्रवादी नाम देते हैं) औपनिवेशिक राजनीतिक ढाँचे में शामिल कर लेने से भाप निकलती रहेगी और राजनीतिक दबाव कम होता रहेगा। इस उद्देश्य में वे सफल भी रहे, लेकिन एकबार ऐसी परिषद के अस्तित्व में आ जाने के बाद इसकी मूल अन्दरूनी गति की एक विरोधी गति भी (गौण ही सही) इसके भीतर से पैदा हुई जो उपनिवेशवादियों की इच्छा से स्वतन्त्र थी। 1893 से 1909 के बीच, वफादार ब्रिटिश प्रजा के रूप में न्यायपूर्ण प्रशासन, शिक्षा आदि की माँग करने वाले तथा भारत का अकूत धन ब्रिटेन ले जाने के बजाय उसे यहीं उद्योग और वाणिज्य, शिक्षा, यातायात-परिवहन आदि में लगाने की माँग करने वाले गोखले, फीरोजशाह मेहता, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि नेता विधान परिषदों में बोलते हुए आर्थिक दोहन और भ्रष्ट निरंकुश प्रशासन के बारे में जो तथ्य देते थे,उनका पढ़े-लिखे मध्यवर्ग पर मन्तव्य से अधिक राजनीतिक प्रभाव पड़ता था। तिलक और कुछ अन्य गरम दली नेताओं ने भी विधान परिषदों में हिस्सा लिया। उस समय तक नौरोजी, गोखले और तिलक कनाडा और आस्ट्रेलिया की तरह स्वशासित उपनिवेशों की तर्ज पर भारत में स्वशासन की माँग रख रहे थे। बहरहाल, उस दौर की केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदें कानूनी तौर पर तो एकदम अधिकारविहीन थीं, लेकिन नवजात भारतीय बुर्जुआ वर्ग की रियायतों की माँग और मध्यवर्ग के मरियल नवजात राष्ट्रवाद को उन मंचों पर अभिव्यक्त होने का अवसर जरूर मिला।

औपनिवेशिक काल के संवैधानिक-वैधिक इतिहास का अगला मुकाम था, मॉरले-मिण्टो सुधार और 1909 का ‘इण्डियन काउंसिल ऐक्ट।’ इस समय की राजनीतिक पृष्ठभूमि को (जिसकी संक्षिप्त चर्चा ऊपर की जा चुकी है)। बाल-लाल-पाल जैसे गरम दलीय नेताओं और अजीत सिंह आदि के प्रभाव से (पूर्ण आजादी की माँग न रखते हुए भी) देश के विभिन्न हिस्सों में जनान्दोलन उठने लगे थे। मध्यवर्गीय क्रान्तिकारी आतंकवाद और मजदूरों-किसानों के पहले की अपेक्षा अधिक संगठित आन्दोलन की शुरुआत हो चुकी थी। मध्यवर्ग का विस्तार होने के साथ ही, उसके निचले संस्तरों को राष्ट्रवादी विचार प्रभावित करने लगे थे। (विशेषकर देशी भाषाओं के पत्र-पत्रिकाओं की इसमें विशेष भूमिका थी।) बंग-भंग के बाद सत्ता एक उग्र जनान्दोलन की साक्षी हो चुकी थी।

तत्कालीन वायसराय मिण्टो और भारत मंत्री मॉरले के संवैधानिक सुधारों और उनकी रोशनी में बने 1909 के ‘इण्डियन काउंसिल ऐक्ट’ का औपनिवेशिक भारत के इतिहास में एक विशेष महत्व है। राजनीतिक अशान्ति से निपटने के लिए मॉरले और मिण्टो ने ऐसी नीतियाँ तय की जो कमोबेश 1947 तक औपनिवेशिक शासन का मानक बनी रहीं। इन नीतियों के तीन प्रमुख अंग थे – ‘दमन और आतंक’, ‘नरम दल को पक्ष में लेने के लिए रियायतें’ तथा ‘फूट डालो और राज करो’ की नीति। 1910 में लागू ‘इण्डियन काउंसिल ऐक्ट’ के मुताबिक केन्द्रीय और प्रान्तीय विधान परिषदों में निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ाकर कुल सदस्य संख्या की आधी कर दी गयी। लेकिन इसके साथ ही, बड़े शातिराना ढंग से निर्वाचन क्षेत्रों का बँटवारा जातीय और धार्मिक

आधार पर करके साम्प्रादायिकता की राजनीति की जमीन तैयार की गयी। यह एक अलग कहानी है कि आगे चलकर किस प्रकार अपने संकीर्ण वर्ग-स्वार्थ के चलते भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि साम्प्रदायिक राजनीति और देश-विभाजन के औपनिवेशिक कुचक्र को न केवल रोकने में विफल रहे, बल्कि कई मुकामों पर स्वयं इस प्रक्रिया में सहायक बने गये और अन्ततः विभाजन के निर्णय को स्वीकार किया। 1909 के कानून के तहत केन्द्रीय काउंसिल के 68 प्रतिनिधियों में 36सरकारी अधिकारी और 5 गैरसरकारी व्यक्ति नामांकित किये जाते थे। 27 निर्वाचित प्रतिनिधियों में से 6 का चुनाव बड़े जमीन्दार और दो का अंग्रेज पूँजीपति करते थे। शेष 19 सीटें सामान्य और मुस्लिम निर्वाचक मण्डलों में बँटी थीं, जिसमें से मुस्लिम मतदाताओं को तो प्रत्यक्ष मताधिकार प्राप्त था, लेकिन सामान्य श्रेणी के सीटों पर परोक्ष चुनाव, दो-तीन चरणों में होते थे। तुर्रा यह कि इस तरह से बनी इन विधान परिषदों की हैसियत भी वायसराय और उच्च प्रशासकों के फैसलों में हस्तक्षेप करने की नहीं बनती थी। प्रान्तीय विधान परिषदों की भी यही स्थिति थी। इस कानून का मुख्य लक्ष्य सम्पत्तिशाली वर्गों में औपनिवेशिक शासन का आधार व्यापक बनाना था और साथ ही साम्प्रदायिक जातिगत आधार पर जनसमुदाय को बाँटना था।

औपनिवेशिक ‘संवैधानिक प्रयोगों में 1909 के इण्डियन काउंसिल ऐक्ट की उम्र सबसे कम थी। 9 वर्षों बाद ही, 1919 में मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट ने इसे पूरी तरह से बदल दिया। इस रिपोर्ट के आधार पर बना गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डियन ऐक्ट 1919 में लागू हुआ। यह कानून बनने के समय की राजनीति आर्थिक पृष्ठभूमि की चर्चा हम कर चुके हैं। महायुद्ध के दौरान अपनी आर्थिक शक्ति बढ़ाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ज्यादा दबाव बनाने और ज्यादा माँग करने की स्थिति में आ चुका था। तिलक के होम रूल आन्दोलन , शहरी मध्य वर्ग के आन्दोलन, किसानों-मजदूरों के बढ़ते आन्दोलन, क्रान्तिकारी आतंकवाद और विश्वयुद्ध के दौरान सशस्त्र विद्रोह की तीन विफल कोशिशों, गदर पार्टी की भूमिका और अक्टूबर 1917 की रूसी क्रान्ति के राष्ट्रीय आन्दोलन, मजदूर वर्ग और बुध्दिजीवियों पर पड़े प्रभाव को एकसाथ मिलाकर देखें तो मॉण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार और 1919 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट’ की जरूरत, चरित्र और लक्ष्य को आसानी से समझा जा सकता है। नये गृहसचिव मॉण्टेग्यू ने हाउस ऑफ कॉमन्स में घोषणा की कि प्रस्तावित कानून का लक्ष्य है भारतीय प्रशासन में भारतीय जनता को भागीदार बनाना और स्वशासन की विभिन्न संस्थाओं का क्रमिक विकास करना जिससे भारत में ब्रिटिश साम्राज्य से जुड़ी कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित की जा सके। वास्तव में, इसका लक्ष्य ब्रिटिश साम्राज्य से नाभिनालब) सामन्तों के अतिरिक्त भारतीय बुर्जुआ वर्ग को भी शासन में कुछ रस्मी भागीदारी देना तथा जनान्दोलन पर पानी के छींटे मारना था। 1919 के ऐक्ट ने केन्द्र में दो सदस्यों की प्रणाली (काउंसिल ऑफ स्टेट और लेजिस्लेटिव असेम्बली की प्रणाली) स्थापित की, जिनमें निर्वाचित प्रतिनिधियों का बहुमत तो था, लेकिन मन्त्रियों पर उसका कोई नियंत्रण नहीं था और वायसराय को वीटो का अधिकार भी था। यही स्थिति प्रान्तों की विधान परिषदों, मन्त्रियों और गवर्नरों की थी। नये कानून ने न केवल धार्मिक-जातिगत आधार पर पृथक् निर्वाचक मण्डलों को बनाये रखा, बल्कि उन्हें काफी बढ़ा भी दिया। निर्वाचक मण्डलों की संख्या प्रान्तों में बढ़कर 55 लाख और केन्द्रीय सदनों के लिए 15 लाख हो गयी। यह देश की वयस्क जनसंख्या के मुश्किल से एक से तीन प्रतिशत (ज्यादातर ऊपरी, कुलीन हिस्से को) भाग को ही अपने दायरे में लेता था। इतनी रियायतों से न तो भारतीय बुर्जुआ वर्ग सन्तुष्ट था, न ही जनभावनाओं के लिए ये ‘सेफ्टीवॉल्व’ या ‘कुशन’ का ही काम कर पायीं। इसका प्रमाण था 1919-22 के दौरान का प्रचण्ड साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलन जिसकी कमान जब बुर्जुआ वर्ग और उसकी पार्टी कांग्रेस

के हाथ से निकलती दीखी, ‘समझौता-दबाव- समझौता’ की रणनीति में दबाव का पहलू जब बुर्जुआ सीमाओं को लाँघने का ख़तरा पैदा करने लगा, तो गाँधी ने चौरीचौरा काण्ड के बहाने असहयोग आन्दोलन को वापस ले लिया।

1922-27 का दौर, असहयोग आन्दोलन की वापसी से पैदा हुई निराशा और कांग्रेस के बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्व से जनसमुदाय के मोहभंग के कारण, बुर्जुआ राष्ट्रवादी राजनीति के भीतर ठहराव और फूट का दौर था। स्वराज पार्टी वाले कौंसिलों में भागीदारी कर रहे थे। अपरिवर्तनवादी उनका विरोध कर रहे थे। गाँधी हरिजन उत्थान आदि रचनात्मक कार्यों में लगे थे। इससे पैदा हुई रिक्तता में, एक ओर मुस्लिम साम्प्रदियकता और हिन्दू साम्प्रदायिकता की राजनीति तेजी से पाँव पसार रही थी, दूसरी ओर क्रान्तिकारी आतंकवाद (जिसका बड़ा हिस्सा कम्युनिज्म की ओर आकृष्ट हो रहा था), कम्युनिस्ट पार्टी और मजदूर किसान पार्टियों की राजनीति, मजदूर आन्दोलन, किसान आन्दोलन और युवा आन्दोलन रूप में नयी शक्तियाँ राजनीतिक रंगमंच पर प्रभावी हो रही थीं। यह प्रक्रिया1927 के बाद के वर्षों में भी तेजी से आगे बढ़ी। 1928 में भारत में प्रशासन के तरीकों के सुझाव पेश करने के लिए नियुक्त साइमन कमीशन जब भारत आया तो कांग्रेसी, स्वराजियों, क्रान्तिकारियों, कम्युनिस्टों सभी ने उसका विरोध किया। साइमन के बहिष्कार और बारदोली सत्याग्रह से गाँधी और कांग्रेस की प्रतिष्ठा फिर से बहाल हो गयी। 1928 में मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में बनी संविधान समिति ने औपनिवेशिक स्वराज्य का प्रस्ताव रखा। कांग्रेस के रैडिकल धड़े ने (जो मुख्यत: रैडिकल बुर्जुआ और निम्न बुर्जुआ हिस्सा था) पूर्ण स्वराज्य की माँग को आगे बढ़ाया। गाँधी की अवस्थिति बीच की थी, सन्तुलनकारी थी और वही बुर्जुआ वर्ग की प्रतिनिधि अवस्थिति थी। कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन द्वारा पूर्ण स्वराज्य की घोषणा किये जाने के बाद भी गाँधी की भाषा यह हुआ करती थी कि यदि निर्धारित समय के भीतर ‘डोमीनियन स्टेटस’ नहीं मिल जाये तो हम पूर्ण स्वराज्य के लिए लड़ेंगे। 1930-35 के दौर में, नमक सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा आन्दोलन, गोलमेज सम्मेलन, गाँधी-इरविन समझौता, पुन: सविनय अवज्ञा आन्दोलन, काउंसिल राजनीति की वापसी और कांग्रेस के भीतर ”वाम” और दक्षिण प्रवृत्तियों के टकराव के दौरान गाँधी ने ”समझौता-दबाव-समझौता” की राजनीति का कुशलतम प्रयोग किया। सत्ता पर दबाव के लिए वे कांग्रेसी ”वाम धडे” क़ा इस्तेमाल करने के साथ ही उग्र जनान्दोलनों के बेकाबू हो जाने का भी भय दिखलाते थे, वर्ग संघर्ष का भी भय दिखलाते थे और कांग्रेस के भीतर के निम्न बुर्जुआ रैडिकल तत्वों को नियन्त्रित करने के लिए नरमपंथी- दक्षिणपंथी धड़े का इस्तेमाल करते थे।

1935 का गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट भारतीय बुर्जुआ वर्ग और पूरे राष्ट्रीय आन्दोलन के दबाव के आगे शासन विधान में बदलाव करके भारतीय बुर्जुआ वर्ग को कुछ और रियायतें देने की औपनिवेशिक नीति की अभिव्यक्ति था। दूसरी ओर यह औपनिवेशिक सत्ता के सामाजिक आधारों के विस्तार की एक महत्वपूर्ण कोशिश थी। नवम्बर 1934 के काउंसिल चुनावों में केन्द्रीय विधान परिषद में कांग्रेस को आधे से अधिक मत एवं स्थान मिले थे। नये केन्द्रीय विधानमण्डल में साइमन कमीशन और गोलमेज सम्मेलन की सिफारिशों पर आधारित ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया बिल’ को किसी भी पार्टी ने समर्थन नहीं दिया, फिर भी अगस्त, 1935 में ब्रिटिश संसद ने इस ऐक्ट का अनुमोदन कर दिया। इस नये शासन-विधान में निर्वाचकों की संख्या को विस्तारित कर दिया गया था। अब देश की वयस्क आबादी के 11.5 प्रतिशत हिस्से को मताधिकार मिल गया था, पर इसका भी बहुलांश, जाहिर है कि समाज का सम्पत्तिशाली हिस्सा ही था। धनी हिसानों और

मजदूर निर्वाचक मण्डल के प्रतिनिधियों को चुनने वाले कुछ मजदूरों को भी मताधिकार दिया गया था। सरकारें अब उनके प्रति एक हद तक उत्तरदायी थीं,लेकिन वास्तविक सत्ता, निर्णय की वीटो पॉवर अभी भी वायसराय और गवर्नरों के ही हाथ में थी। ऐक्ट ने भारतीय पूँजीपतियों और भूस्वामियों को तथा उच्च मध्यवर्ग को विशेष रियायतें दी थीं, लेकिन इसका एक दूसरा लक्ष्य आन्दोलन में फूट डालना और पृथक निर्वाचक मण्डलों की व्यवस्था को मजबूत बनाकर साम्प्रदायिकता की राजनीति को आगे बढ़ाना भी था। राजाओं-रियासतों का प्रभाव बढ़ाकर औपनिवेशिक सत्ता के अवलम्बों को मजबूत बनाना भी इसका एक मकसद था। केन्द्रीय विधान मण्डल में उनके प्रतिनिधियों को 1/3 और राज्य विधान परिषदों में 2/5 स्थान प्राप्त थे। इसका सबसे साजिशाना पहलू इसके भीतर निहित देश के सम्भावित विभाजन की व्यवस्था भी थी। ऐक्ट तथाकथित "संघीय योजना" के तहत राजाओं को यह तय करने की छूट देता था कि वे ब्रिटिश साम्राज्य में रहना चाहेंगे या इससे स्वतन्त्र सम्बन्ध बनाना चाहेंगे। यह ऐक्ट 'डोमीनियन स्टेटस' तक के बारे में पूरी तरह मौन था। संयुक्त संसदीय समिति के अध्यक्ष और 1936 से वायसराय के आकलन से इस ऐक्ट का मकसद एकदम साफ हो जाता है। उनके अनुसार, ऐक्ट को ऐसा इसलिए बनाया गया था कि"उनकी दृष्टि में भारत में ब्रिटिश प्रभाव को बनाये रखने का वही सर्वोत्तम उपाय था। मैं समझता हूँ कि...हमारी नीति में ...कहीं भी यह बात नहीं कि भारतीयों को नियंत्रण सौंपने की गति को अनावश्यक रूप से उस गति की तुलना में बढ़ाया जाये, जिसे, हम, दीर्घकालीक दृष्टि से भारत को साम्राज्य से जोड़े रखने के लिए सर्वोत्तम समझते हैं।"

इस ऐक्ट को "गुलामी के शासन विधान' की संज्ञा देते हुए पूरे देश में इसका व्यापक विरोध हुआ। कांग्रेस की राजनीति के दोहरे चरित्र के समझने के लिए उसके उस दौर के राजनीतिक व्यवहार को समझना जरूरी है। कांग्रेस ने 1935 के ऐक्ट का पुरजोर विरोध किया। उसने सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के केन्द्रीय नारे की हिमायत की। आगे 1946 में संविधान के गठन के समय जो हुआ, उसमें कांग्रेस के विश्वासघात को समझने के लिए इस बात को याद रखना जरूरी है कि नेहरू और कांग्रेस का "वाम धड़ा" 1930 के दशक में लगातार सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के चुनाव की माँग कर रहे थे। लखनऊ और फैजपुर अधिवेशनों (अप्रैल-दिसम्बर 1936) में नेहरू ने इस माँग को केन्द्रीय नारा बनाने की हिमायत की थी। लखनऊ अधिवेशन में तो उन्होंने यहाँ तक कहा था कि ऐसा केवल "अर्ध्दक्रान्तिकारी स्थिति में ही हो पायेगा" और इसके लिए कांग्रेस को एक वास्तविक 'साम्राज्यवाद विरोधी जन मोर्चा' बनाना होगा। उस दौर में बिड़ला, ठाकुरदास, वालचन्द आदि पूँजीपतियों के आपसी पत्र व्यवहार का सुमित सरकार व अन्य कई इतिहासकारों ने अध्ययन करके दर्शाया है कि अग्रणी भारतीय पूँजीपतियों को नेहरू को पटरी पर रखने की महात्माजी की योग्यता पर पूरा भरोसा था। वे जानते थे कि कांग्रेस के दक्षिणपंथी तत्व नेहरू के समाजवाद की काट करते रहेंगे और गाँधी इसमें सन्तुलनकारी भूमिका निभाते रहेंगे। नेहरू की "सदाशयता" पर और सत्ता में आने पर"सन्तुलित" आचरण पर भी उन्हें पूरा भरोसा था और वे यह भी जानते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन में किसानों-मजदूरों और रैडिकल मध्यवर्ग को साथ बनाये रखने के लिए नेहरू के रैडिकल तेवर और समाजवादी लफ्फ़ाजी उनके लिए बड़े काम की चीज है!

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय बुर्जुआ वर्ग की यह चारित्रिक विशेषता थी कि वह उपनिवेशवादी ब्रिटेन की मजबूरियों और साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर अपनी आर्थिक शक्ति बढ़ाता रहा था और 'समझौता-दबाव-समझौता' की रणनीति अपनाकर कदम-ब-कदम राजनीतिक सत्ता पर काबिज होने की दिशा में आगे बढ़ रहा था। व्यापक जनसमुदाय को साथ लेने के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग की प्रतिनिधि कांग्रेस पार्टी प्राय: गाँधी के आध्यात्मिक चाशनी में पगे बुर्जुआ मानवतावादी यूटोपिया का सहारा लेती थी। किसानों के लिए उसके पास गाँधीवादी 'ग्राम-स्वराज' का नरोदवादी यूटोपिया था। जब-तब वह पूँजीवादी भूमि-सुधार की बातें भी करती थी, लेकिन सामन्तों-जमींदारों को पार्टी में जगह देकर उन्हें बार-बार आश्वस्त भी किया जाता था कि उनका बलात् सम्पत्तिहरण कदापि नहीं किया जायेगा। मध्यवर्ग को लुभाने के लिए कांग्रेस के पास नेहरू, सुभाष और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के रैडिकल समाजवादी नारे थे, जिनका व्यवहारत: कोई मतलब नहीं था और इस बात को भारतीय पूँजीपति वर्ग भी समझता था। ब्रिटिश उपनिवेशवादी भी समझते थे कि नेहरू का "समाजवाद" ब्रिटिश लेबर पार्टी के "समाजवाद" से भी ज्यादा थोथा, लफ्फाजी भरा और पाखण्डी है। भारतीय पूँजीपति वर्ग राजनीतिक स्वतन्त्रता के निकट पहुँचते जाने के साथ ही यह समझता जा रहा था कि आधुनिक औद्योगिक भारत का नेहरू का सपना बुर्जुआ आकांक्षाओं का ही मूर्त रूप था। 'समाजवादी नियोजित अर्थतन्त्र' जैसे जुमलों से पूँजीपति आशंकित नहीं, बल्कि खुश थे। वे पहले से ही इस बात को भली-भाँति समझते थे कि उत्तर-औपनिवेशिक भारत में आधारभूत और अवरचनागत उद्योगों को राज्य के नियन्त्रण में रखना ही उनके हित में होगा, क्योंकि 'पब्लिक सेक्टर' के अन्तर्गत ही जनता को निचोड़कर यातायात-परिवहन, बाँध-पनबिजली परियोजनाओं, खनिज-खदानों, इस्पात कारखानों आदि का विराट ढाँचा खड़ा किया जा सकता है। पूँजीपतियों के स्वामित्व वाले उद्योगों के विकास के लिए उद्योगों का यह आधरभूत ढाँचा जरूरी था, पर उस समय भारतीय पूँजीपतियों के पास इतनी पूँजी नहीं थी और इसके लिए समाजवादी मुखौटा जरूरी होगा। पूँजीपति वर्ग जानता था कि 'पब्लिक सेक्टर' उसी का हितसाधन करेगा, उसके शीर्ष पर बैठी शक्तिशाली नौकरशाही अन्तत: उसी की वर्ग-सहयोगी होगी और सरकार के मार्फत (जो वस्तुत: पूँजीपतियों की ही 'मैनेजिंग कमेटी होती है) पब्लिक सेक्टर पर वास्तविक नियन्त्रण भी उसी का होगा। (आश्चर्य नहीं, कि जैसे ही भारतीय पूँजीपति वर्ग आर्थिक दृष्टि से ताकतवर हो गया, वैसे ही निजीकरण की प्रक्रिया शुरू हो गयी)।

उल्लेखनीय है कि 1934 में ही विश्वेश्वरैया ने सरकार द्वारा योजनाएँ बनाने की बात कही थी। 1938 में नेहरू के अधीन जो राष्ट्रीय योजना समिति बनी थी, उसकी 29 सहायक समितियों में भारतीय उद्योगपतियों-व्यापारियों के प्रतिनिधि शामिल थे। उस समिति में भी नेहरू ने मिश्रित अर्थव्यवस्था की बात की थी और साथ ही यह भी स्वीकार किया था कि औपनिवेशिक औद्योगिक संरचना को एक आधार के रूप में स्वीकार करना जरूरी होगा। आगे चलकर, भारतीय उद्योगपतियों ने 1944 में जब भावी भारत के आर्थिक विकास की वृहद् योजना ('बॉम्बे प्लान' या 'टाटा-बिड़ला प्लान' के नाम से प्रसिद्ध) प्रस्तुत की, तो उसमें मिश्रित अर्थव्यवस्था (प्राइवेट सेक्टर-पब्लिक सेक्टर) का खाका पेश करने के साथ ही ब्रिटिश महाजनी पूँजी के साथ और पूरे साम्राज्यवाद के साथ सहयोग-सहकार की बात भी स्पष्ट शब्दों में कही गयी थी। दिलचस्प बात है कि बॉम्बे प्लान

के प्रकाशन के तुरन्त बाद, जब कांग्रेस एक ओर सत्ता हस्तान्तरण के लिए वार्ताओं-सौदेबाजियों में व्यस्त थी और दूसरी ओर जनता को तरह-तरह के सपने दिखा रही थी, उसी समय संवैधानिक समझौतों के साथ-साथ ब्रिटेन और भारत के बड़े पूँजीपतियों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध कायम हो रहे थे। ब्रिटिश पूँजीपतियों के साथ बॉम्बे प्लान के तीन मुख्य सूत्रधारों – टाटा, बिड़ला और सर श्रीराम ने तभी समझौते कर लिये थे। बहरहाल, यह चर्चा हम कांग्रेस और उसके नेतृत्व में स्थापित भारतीय बुर्जुआ लोकतन्त्र के चरित्र को समझने के लिए कर रहे थे। अब हमें पीछे 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' के पारित होने के बाद के वर्षों की ओर लौटना होगा, और वहाँ से आगे के राजनीतिक घटनाक्रम के विकास पर सरसरी नजर दौड़ानी होगी।

1935-36 के वर्षों में भारतीय राजनीति का एक ऐसा स्वरूप उभरकर सामने आया, जो बाद के वर्षों में, और 1947 के बाद भी एक आम ढर्रा के रूप में स्थापित हो जाने वाला था। यह समय था जब ऊपरी तौर पर वामपन्थी राजनीति की धारा लगातार आगे बढ़ती और शक्तिशाली होती दीख रही थी। मजदूरों-किसानों के उग्र आन्दोलन, वामपन्थी नेतृत्व वाले जनसंगठनों की स्थापना और मध्यवर्गीय बुध्दिजीवियों के बीच वामपन्थ का प्रभाव इसके प्रमुख लक्षण थे। 1936 तक महासचिव पी. सी जोशी के नेतृत्व में कम्युनिस्ट पार्टी साम्राज्यवाद-विरोधी संयुक्त मोर्चे की रणनीति पर काम करती हुई कांग्रेस के भीतर इस उद्देश्य से काम करने लगी थी कि उसको 'साम्राज्यवाद-विरोधी जन मोर्चा' में तब्दील कर दिया जाये। लेकिन पार्टी की विचारधारात्मक कमजोरी और जोशी धड़े के दक्षिणपन्थी विचलन के कारण पार्टी कांग्रेस के बुर्जुआ नेतृत्व को अलग-थलग करने के बजाय स्वयं उसके हाथों इस्तेमाल हुई। लखनऊ और फैजपुर के अधिवेशनों में भरपूर वामपन्थी तेवर दिखाने वाले नेहरू वस्तुत: एक भ्रामक मुखौटा ही सिद्ध हुए। कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के भाँति-भाँति के मध्यवर्गीय रैडिकल तत्व भी वास्तव में बुर्जुआ वर्ग द्वारा समय-समय पर उपयोग किये जाने वाले दबाव-समूह ही सिद्ध हुए। अन्तत: कांग्रेस के भीतर के कट्टर दक्षिणपन्थी और मध्यमार्गी तत्व "वामपन्थी" तूफान को न केवल नियन्त्रित करने, बल्कि उसका कुशलतापूर्वक इस्तेमाल करने में सफल रहे।

कांग्रेस ने 1935 के जिस 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' को 'गुलामी के चार्टर' की संज्ञा दी थी, उसी के तहत होने वाले 1937 के प्रान्तीय असेम्बलियों के चुनाव में उसने हिस्सा भी लिया। कारण स्पष्ट था। चुनाव बहिष्कार करके जुझारू जनसंघर्ष में उतर पड़ने के लिए कांग्रेसी नेतृत्व कतई तैयार नहीं था। कांग्रेस में मतभेद सत्ता में भागीदारी के प्रश्न पर था। नेहरू, सुभाष और कांग्रेस के भीतर के अन्य वामपन्थियों (कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी वाले) का मानना था कि चुनाव जीतकर प्रान्तीय असेम्बलियों में घुसा जाये, लेकिन मन्त्रिमण्डल में शामिल न हुआ जाये, वहाँ भी 1935 के कानून का विरोध किया जाये, उस पर अमल न होने दिया जाये और फिर व्यापक जनान्दोलन की तैयारी की जाये। कम्युनिस्ट पार्टी (जो कांग्रेस को 'साम्राज्यवाद-विरोधी जन मोर्चा' बनाने के उद्देश्य से ट्रेडयूनियनों और किसान संगठनों को, सामूहिक तौर पर कांग्रेस से सम्बध्द करने का निर्णय ले चुकी थी और जिसके सदस्य पहले से ही कांग्रेस में शामिल होकर काम कर रहे थे) का भी यही मानना था कि चुनाव जुझारू कार्यक्रम के आधार पर लड़े जायें किन्तु पद न ग्रहण किये जायें और सार्विक वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा बुलाने की माँग को मुख्य सकारात्मक मुद्दा बनाया जाये। कांग्रेस के भीतर के दक्षिणपन्थी और भारतीय पूँजीपति इससे जरा भी चिन्तित नहीं थे। वे जानते थे कि एक बार चुनाव जीतने के बाद तमाम वामपन्थी लच्छेदार बातों के बावजूद, नेहरू और कांग्रेसी सोशलिस्ट मन्त्रिमण्डल बनाने के दबाव के आगे झुकने को बाध्य

होंगे। बिड़ला ने ठाकुर दास को लिखे एक पत्र में (20 अप्रैल, 1936) भविष्यवाणी की थी कि, ”आगामी चुनाव को ‘वल्लभभाई का ग्रुप’ नियन्त्रित करेगा और यदि लार्ड लिनलिथगो स्थिति का ठीक संचालन करें तो कांग्रेसियों के सत्ता में आने की पूरी सम्भावना है।”

फरवरी, 1937 में हुए चुनावों में कांग्रेस ने कुल 1,585 में से 1,161 सीटों पर चुनाव लड़ा और 716 पर जीत हासिल की। अपने घोषणापत्र में उसने 1935 के कानून को खारिज करने के साथ ही नागरिक स्वतन्त्रता की बहाली, राजनीतिक बन्दियों की रिहाई, कृषि ढाँचे में आमूल बदलाव, लगान में कटौती, किसानों की ऋण-मुक्ति, मजदूरों को यूनियन बनाने व हड़ताल करने के अधिकार देने के कई लुभावने वायदे किये थे। उसे मुख्य चुनाव प्रचारक नेहरू के रैडिकल तेवरों का भी बहुत लाभ मिला। प्रसंगवश, यह उल्लेख कर दें कि कांग्रेस को चुनाव लड़ने के लिए पूँजीपतियों से भरपूर आर्थिक मदद मिली थी। पटेल के नेतृत्व वाले कांग्रेस के केन्द्रीय संसदीय बोर्ड को बिड़ला ने 5 लाख रुपये का दान दिया। बिहार कांग्रेस द्वारा एकत्र 37,000 रुपये के चुनाव कोष में 27,000 रुपये अकेले डालमिया ने दिया था। फिर भी चुनाव लड़ने के भारी खर्च को देखते हुए प्रत्याशियों से अपना चुनावी खर्च खुद उठाने को कहा गया था। इसके कारण ज्यादातर धनवान लोग ही चुनाव लड़ पाये। बिहार में अधिकांश कांग्रेसी उम्मीदवार जमींदार वर्ग के थे और जमींदारों के ही दबाव के कारण किसान सभा के कई नेताओं को टिकट नहीं दिया गया।

चुनाव जीतने के बाद, राजेन्द्र प्रसाद और पटेल ने यह प्रस्ताव रखा कि यदि गवर्नर अपनी विशेष शक्तियों का प्रयोग न करने का आश्वासन दे तो कांग्रेस को मन्त्रिमण्डल गठित कर लेना चाहिए। किसी भी हालत में पद न ग्रहण करने का जयप्रकाश नारायण का प्रस्ताव कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन में 78 के मुकाबले 135 मतों से पराजित हो गया। इसे बिड़ला ने लार्ड लिनलिथगो के निजी सचिव को लिखे गये पत्र में ‘दक्षिणपन्थ की महान विजय’ बताया। लार्ड लिनलिथगो द्वारा कांग्रेसी शर्त के बाबत कोई आश्वासन नहीं दिये जाने के बावजूद, जुलाई 1937 तक गाँधी भी मन्त्रिमण्डल गठन के पक्षधर हो चुके थे। बिड़ला आदि पूँजीपतियों की आशाओं के अनुरूप नेहरू को भी मना लिया गया। मद्रास, बम्बई, मध्यभारत, उड़ीसा, बिहार और संयुक्त प्रान्त में जुलाई में और फिर कुछ महीनों बाद पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने पदभार सम्हाला। सिम्तबर, 1938 में कांग्रेस के ”वामपन्थी” अध्यक्ष सुभाष चन्द्र बोस ने घटिया तीन तिकड़म और दलबदल के सहारे असम में भी कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनवा दिया।

प्रान्तों में कांग्रेसी शासन के अट्ठाइस महीनों ने इस पार्टी के बुर्जुआ चरित्र की विशिष्टताओं को एकदम स्पष्ट कर दिया। शुरू में तो कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों से सभी वर्गों के साम्राज्यवाद-विरोधी आन्दोलनों को विशेष प्रेरणा मिली, लेकिन इनकी सीमाएँ जल्दी ही सामने आ गयीं और मोहभंग की प्रक्रिया तेज हो गयी। कल तक पूर्ण स्वराज्य के लिए प्रतिबध्दता जाहिर करने वाली और 1935 के अधिनियम की आलोचना करने वाली पार्टी अब उसी के अन्तर्गत शासन कर रही थी। गवर्नरों के विशेषाधिकारों, केन्द्रीय औपनिवेशिक सत्ता के अपरिमित अधिकारों, सीमित संसाधनों और औपनिवेशिक सिविल सर्विस एवं पुलिस पर निर्भरता के चलते वह घोषणापत्र के लोकरंजक वायदों को पूरा करने में कतई समर्थ नहीं थी। सत्ता हाथ में आने के साथ ही भ्रष्टाचार, गुटबाजी जैसी बुराइयाँ भी जल्दी ही सामने आने लगीं। नौकरशाही के साथ कांग्रेसी सरकारों का तालमेल आश्चर्यजनक था। साम्राज्यवादी इतिहासकार आर. कूपलैण्ड को कांग्रेसी शासनकाल और उसके पहले के दिनों में ‘कोई विशेष अन्तर’ नहीं दीखता और वे कानून व्यवस्था के लिए कांग्रेसी सरकारों की प्रशंसा भी करते हैं (‘दि कांस्टीटयूशनल प्रॉब्लम इन इण्डिया, भाग2, पृ. 135)।

संयुक्त प्रान्त और बिहार के मन्त्रिमण्डलों ने गवर्नरों द्वारा सभी राजनीतिक बन्दियों की तत्काल रिहाई अस्वीकार कर दिये जाने के बाद फरवरी, 1938 में इस्तीफा दे दिया। लेकिन यह वास्तव में एक नौटंकी थी, जो हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन के ठीक पहले आम कार्यकर्ताओं को भ्रम में रखने और वामपन्थियों को चुप कराने के लिए रची गयी थी। अधिवेशन के तुरन्त बाद त्यागपत्र वापस ले लिये गये जबकि गवर्नर तत्काल, सार्वजनिक रिहाई के बजाय व्यक्तिगत रिहाई के स्टैण्ड पर अटल थे। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल वामपन्थी नेतृत्व वाले मजदूर-किसान आन्दोलनों का साम्प्रदायिक दंगों से भी अधिक कड़ाई के साथ दमन कर रहे थे। सितम्बर, 1938 में कांग्रेस कमेटी ने "जन-धन की रक्षा के लिए" कांग्रेसी सरकारों द्वारा उठाये गये सभी कदमों का समर्थन किया और कांग्रेसियों सहित उन सभी लोगों की निन्दा की जो "नागरिक स्वाधीनता के नाम पर हत्या, आगजनी, लूटपाट और हिंसक तरीकों से वर्ग संघर्ष की हिमायत करते हैं।" कांग्रेसी शासन के शुरुआती दिनों में मजदूर संगठनों और आन्दोलनों को विशेष बढ़ावा मिला। जनाधार बनाये रखने और कम्युनिस्टों के बढ़ते वर्चस्व का मुकाबला करने के लिए कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने कथनी में मजदूरों की माँगों का समर्थन किया। उसने बंगाल में फजलुलहक और पंजाब में सिकन्दर हयात खान की सरकारों द्वारा मजदूरों के दमन की निन्दा की। लेकिन पूँजीपतियों ने जैसे ही अपनी नाराजगी दिखायी और दबाव बनाया, वैसे ही कांग्रेसी सरकारें मजदूर आन्दोलनों को कानून और डण्डे के जोर से काबू करने में जुट गयीं। पूँजीपतियों को प्रसन्न करने और कम्युनिस्ट नेतृत्व वाले मजदूर आन्दोलनों को कुचलने के लिए कांग्रेस किस हद तक कटिबध्द थी, इसे 'बॉम्बे ट्रेड्स डिस्प्यूट्स एक्ट (नवम्बर, 1938) की कड़ी धाराओं को देखकर समझा जा सकता है, जिसकी गवर्नर लुमले ने भी प्रशंसा की थी। पंजीकरण सम्बन्धी कुछ धाराओं को छोड़कर नेहरू को भी बॉम्बे एक्ट "कुल मिलाकर... अच्छा ही लगा।"

जहाँ तक किसानों का ताल्लुक है, कांग्रेस सरकारों द्वारा बनाये गये कानून फैजपुर अधिवेशन के मामूली प्रस्तावों को भी लागू नहीं करा सके। संयुक्त प्रान्त और बिहार कांग्रेस कमेटियों के 1936 और 1937 के जमींदारी उन्मूलन सम्बन्धी प्रस्तावों को भुला दिया गया। सितम्बर, 1937 में जमींदारों द्वारा आन्दोलन की धमकी से घबराकर बिहार की कांग्रेस सरकार ने काश्तकारी विधेयक को काफी नरम बना दिया। फिर दिसम्बर, 1937 में मौलाना आजाद और राजेन्द्र प्रसाद ने जमींदारों से एक गुप्त समझौता किया। निश्चित ही, ब्याज की दरों को कम करके किसानों पर कर्ज का बोझ कम करने, लगान में बढ़ोत्तरी पर रोक लगाने, अवध में कानूनी काश्तकारों को पुश्तैनी दखली रैयतों का दर्जा देने, बिहार में मन्दी के जमाने में बकाश्त जमीनों से बेदखल किये गये दखली रैयतों की पुरानी स्थिति एक हद तक बहाल करने और बम्बई में रैयतवारी जोतधारियों के खोटी शिकमी काश्तकारों को कुछ हक देने तथा चराई शुल्क समाप्त करने जैसे सीमित भूमि-सुधार के कुछ कदम कांग्रेसी सरकारों ने उठाये, लेकिन याद रखना होगा कि इनके पीछे उन जुझारू किसान आन्दोलनों का विशेष हाथ था, जिनका नेतृत्व या तो कम्युनिस्टों के हाथ में था या सहजानन्द या अन्य कुछ स्थानीय जुझारू किसान नेताओं के हाथ में। यह भी उल्लेखनीय है कि साम्राज्यवादी इतिहासकार कूपलैण्ड भी स्वीकार करता है कि भूमि-सुधार के इन सीमित कदमों के दौरान जमींदारों के साथ दुर्व्यवहार नहीं किया गया और इस मायने में कांग्रेस की नीति लगभग रूढ़िवादी थी। वामपन्थ की ओर आकर्षित किसान नेता संन्यासी स्वामी सहजानन्द कांग्रेस के किसान-विरोधी और वर्ग सहयोगवादी नीति के कटुतम आलोचकों में से एक थे।

प्रान्तों में कांग्रेसी शासन के दौर को आर्थिक इतिहासकार क्लाड मार्कोवित्ज ने भारतीय व्यापारी समुदाय और कांग्रेस के बीच 'स्थायी मैत्री' स्थापित होने का दौर बताया है। व्यापक जनसमुदाय, विशेषकर किसान आबादी में आधार बनाये रखने और मजदूरों को कम्युनिस्ट नेतृत्व में लामबन्द होने से रोकने के लिए कुछ कल्याणकारी विधि-निर्माण का काम करना ही था और कुछ लोकरंजक राष्ट्रीय नारे देने ही थे। इस विवशता को बिड़ला जैसे कुछ दूरन्देश पूँजीपति समझते थे। वे जानते थे कि राष्ट्रीय आन्दोलन पर बुर्जुआ वर्चस्व के लिए और कांग्रेस के जनाधार के लिए यह जरूरी है। ऐसी स्थिति में, अपने हितों की रक्षा के लिए वे कई सन्तुलनकारी कदम उठाते रहते थे। संयुक्त प्रान्त के एक बड़े उद्योगपति जे.पी. श्रीवास्तव ने वायसराय वेवेल को बताया था कि 1937 में संयुक्त प्रान्त में कांग्रेसी शासन के दौरान वहाँ के प्रमुख उद्योगपतियों ने (जो सभी हिन्दू थे) कांग्रेस का विरोध करने के लिए हिन्दू महासभा के साथ ही जिन्ना और मुस्लिम लीग को भी धन देने का निश्चय किया था। तमाम संसदीय बुर्जुआ पार्टियों के बीच बुर्जुआ वर्ग यह खेल आज भी खेलता रहता है। यह भी उल्लेखनीय है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग एक ओर तो कांग्रेस के जरिये राष्ट्रीय आन्दोलन का दबाव बनाकर और अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों का लाभ उठाकर राजनीतिक सत्ता हासिल करना चाहता था, दूसरी ओर ब्रिटिश पूँजी के साथ ज्यादा से ज्यादा अनुकूल शर्तों पर सहकार-सम्बन्ध के लिए भी प्रयासरत था। फासीवाद और विश्वयुध्द के मँड़राते खतरों के मद्देनजर भारतीय पूँजीपतियों को प्रसन्न करने के लिए ब्रिटेन भी उन्हें तरह-तरह की रियायतें दे रहा था।

इस दौर में भारत की कम्युनिस्ट पार्टी की सबसे बड़ी, ऐतिहासिक चूक यह थी कि प्रान्तों की कांग्रेसी सरकारों की नीतियों और व्यवहार को उसने मुद्दा बनाया ही नहीं। यह पार्टी के दक्षिणपन्थी विचलन का ही नतीजा था कि संयुक्त मोर्चे का मतलब हर हाल में कांग्रेस के शीर्ष नेतृत्व से एकता बनाये रखना हो गया था। इस स्थिति में, कांग्रेस को साम्राज्यवाद- विरोधी व्यापक जन मंच में तब्दील करने और राष्ट्रीय आन्दोलन पर सर्वहारा वर्चस्व स्थापित करने तथा मजदूर-किसान संश्रय के आधार पर राष्ट्रीय मुक्ति युध्द का नेतृत्व अपने हाथ में ले पाने के बजाय कम्युनिस्ट पार्टी अपनी स्वतन्त्र पहलकदमी खोकर कांग्रेस की पिछलग्गू बन गयी और उसके बुर्जुआ नेतृत्व द्वारा कुशलतापूर्वक इस्तेमाल की गयी। पी.सी. जोशी के अनुसार उस समय का "सबसे बड़ा वर्ग-संघर्ष राष्ट्रीय संघर्ष" था और इसके लिए हर हाल में कांग्रेस से एकता बनाये रखना था। जिस समय कांग्रेसी 1935 के कानून के क्रियान्वयन को असम्भव बनाने और सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के चुनाव के लिए दबाव बनाने के अपने पूर्व निर्णय को ताक पर रखकर, बस सरकारें चला रहे थे, मजदूरों का दमन कर रहे थे, किसानों के साथ विश्वासघात कर रहे थे; जब उनका असली चरित्र नंगा होकर सामने आ रहा था और जनसमुदाय से उनका अलगाव बढ़ता जा रहा था, उस समय भी, आगे बढ़कर राष्ट्रीय आजादी, संविधान सभा के सार्विक मताधिकार आधारित चुनाव और आमूलगामी भूमि-सुधार की माँगों पर जनता को लामबन्द करने और पहलकदमी हाथ में लेने के बजाय कम्युनिस्ट पार्टी हर हाल में कांग्रेस के साथ एकता बनाये रखने के लिए चिन्तित थी (जबकि कांग्रेसी कम्युनिस्टों के प्रति ज्यादा से ज्यादा शंका और शत्रुता का रुख अपनाते जा रहे थे)। कांग्रेस के त्रिपुरी अधिवेशन में पूरे वामपक्ष के समर्थन से सुभाष चन्द्र बोस ने अध्यक्ष पद के गाँधी समर्थित उम्मीदवार सीतारमैया को हराया था। फिर दक्षिणपन्थी धड़े और गाँधी के एकजुट आक्रमण और नेहरू के अवसरवादी ढुलमुलपन के चलते सुभाष को न केवल इस्तीफा देना पड़ा बल्कि कालान्तर में कांग्रेस से भी बाहर होना पड़ा। सुभाष चन्द्र बोस का इतिहास ऐसा था कि उनको साथ लेकर कम्युनिस्ट भरोसे के साथ कांग्रेस के

रूढ़िवादियों से मोर्चा नहीं ले सकते थे। लेकिन त्रिपुरी संकट ने उन्हें कांग्रेस की मजदूर-विरोधी और किसान-विरोधी नीतियों को मुद्दा बनाकर पहलकदमी अपने हाथ में लेने का एक अवसर जरूर दिया था जिसका वे जरा भी लाभ न उठा सके।

1939 में द्वितीय विश्वयुध्द की शुरुआत हुई। 3 सितम्बर 1939 को प्रान्तीय मन्त्रिमण्डलों या किसी भी भारतीय नेता से सलाह लिये बिना वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने फासिस्ट जर्मनी के विरुध्द ब्रिटेन के युध्द में भारत के भी शामिल होने की घोषणा कर दी। कांग्रेस फासीवाद विरोधी युध्द में ब्रिटेन का साथ देने के लिए ये न्यूनतम शर्तें रख रही थी : युध्द पश्चात् सार्विक मताधिकार आधारित संविधान सभा का वायदा और केन्द्र में वास्तविक उत्तरदायी सरकार की स्थापना। वायसराय ने इन न्यूनतम शर्तों को भी सिरे से खारिज कर दिया। 'डोमिनियन स्टेटस' के अनिश्चित-अस्पष्ट पेशकश से आगे जाने के लिए उपनिवेशवादी कतई तैयार नहीं थे। ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग के कट्टरपन्थी राजनीतिक प्रतिनिधि युध्दकालीन स्थितियों का लाभ उठाकर भारत में नौकरशाही की निरंकुश सत्ता कायम करना चाहते थे, भारतीय जन और संसाधनों का बलपूर्वक युध्द में इस्तेमाल करना चाहते थे और इस बात के लिए कटिबध्द थे कि यदि भारतीय बुर्जुआ वर्ग की पार्टी कांग्रेस युध्द का लाभ उठाकर राजनीतिक आजादी की माँग के लिए दबाव बनाती है और यदि भारतीय जनता उग्र आन्दोलन का रास्ता पकड़ती है तो उसे कुचल दिया जायेगा। ब्रिटिश बुर्जुआ वर्ग के उदारपन्थी प्रतिनिधियों का आकलन था कि भारतीय स्वाधीनता की माँग को बहुत दिनों तक दबाया नहीं जा सकता, इसलिए उचित यही होगा कि सम्भावित जनक्रान्ति के खतरे को रोकने के लिए भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों को युध्दोत्तर काल में संविधान सभा और प्रतिनिधि सरकार के गठन का आश्वासन दे दिया जाये और फासिस्ट जर्मनी के विरुध्द भारतीय जनता की व्यापक लामबन्दी में कांग्रेस की मदद ली जाये। उनकी मंशा थी कि युध्द के बाद इन शर्तों पर कांग्रेस को सत्ता सौंपी जाये कि भारत में ब्रिटेन के आर्थिक हित (शोषण के अधिकार) अक्षुण्ण बने रहेंगे। वे चाहते थे कि युध्द पश्चात् भी सौदेबाजी में कांग्रेस पर दबाव बनाने के लिए मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग और देसी रजवाड़ों के भारत में शामिल होने या न होने की आजादी को हवा दिया जाये तथा देश के विभाजन के विकल्प को भी, फायदेमन्द हो तो, आजमाया जाये। ज्ञातव्य है कि एमरी और क्रिप्स जैसे लेबर नेता जून, 1939 में ही नेहरू और कृष्णमेनन को उनकी ब्रिटेन यात्रा के दौरान वायदा कर चुके थे कि अगली लेबर सरकार सार्विक वयस्क मताधिकार आधारित संविधान सभा को इस शर्त पर पूर्णरूपेण सत्ता हस्तान्तरित कर देगी कि भारत में ब्रिटिश दायित्वों और हितों की रक्षा की जायेगी। मई, 1940 में ब्रिटेन की मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार बनी और घोर अनुदारवादी चर्चिल प्रधानमन्त्री बना। चर्चिल ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा के लिए जर्मनी से दृढ़निश्चयी निर्णायक संघर्ष का हामी था, इसलिए पूरी दुनिया के फासीवाद-विरोधी जनवादी लोगों में भी मित्र राष्ट्रों के एक अगुवा नेता के रूप में उसकी प्रतिष्ठा थी, लेकिन उपनिवेशों की स्वाधीनता के प्रश्न पर उसका रुख पूरी तरह से निरंकुश दमनकारी था। फलत: उसके मन्त्रिमण्डल में एटली और क्रिप्स जैसे लेबर नेताओं की मौजूदगी का कोई मतलब नहीं रह गया।

अगस्त, 1940 में लिनलिथगो ने भारतीय बुर्जुआ नेतृत्व को एक प्रस्ताव दिया। इसमें भी अनिश्चित सुदूर भविष्य में 'डोमिनियन स्टेटस' और युध्द पश्चात् संविधान बनाने के लिए एक निकाय के गठन (इसमें सार्विक मताधिकार का कोई उल्लेख नहीं था) का वायदा किया गया था। तुष्टीकरण के लिए वायसराय की कार्यकारिणी का इस प्रकार विस्तार किया गया कि अब उसमें भारतीयों का

बहुमत था (हालाँकि ये भारतीय घोर राजभक्त थे और इस कार्यकारिणी के अधिकार भी अतिसीमित थे)। एक राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद भी बनायी गयी, जिसका काम बस सलाह देना था।

मुस्लिम लीग के दावों को बढ़ावा देना युध्दकालीन साम्राज्यवादी रणनीति का एक अंग था। यह 'बाँटो और राज करो' की उसी पुरानी औपनिवेशिक नीति की निरन्तरता थी, जो ब्रिटिश शासकों ने बीसवीं शताब्दी के शुरू से ही (विशेषकर मार्ले-मिण्टो रिफॉर्म के समय से) लगातार लागू की थी और साम्प्रदायिक आधार पर हिन्दुओं-मुसलमानों को बाँटकर राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष को कमजोर करने की हर सम्भव कोशिशें की थी। साम्प्रदायिकता की परिघटना का विश्लेषण और इतिहास-चर्चा यहाँ सम्भव नहीं। यह विषयान्तर होगा। यहाँ बस हम इतना उल्लेख कर सकते हैं कि साम्प्रदायिकता आधुनिक इतिहास (पूँजीवाद के युग की) की परिघटना है और इसका विकास राष्ट्रवाद की परिघटना के साथ-साथ हुआ है। भारत में साम्प्रदायिकता के विकास के जटिल सामाजिक-आर्थिक कारण उपनिवेशीकरण के दौर में मौजूद रहे हैं। प्रारम्भिक जुझारू राष्ट्रवाद के अन्दर मौजूद धार्मिक पुनरुत्थानवादी प्रवृत्ति भी आगे चलकर नरमपन्थी साम्प्रदायिक राजनीति के उद्भव में सहायक बनी और फिर नरमपन्थी साम्प्रदायिक राजनीति की एक तार्किक परिणति इनायतुल्ला खान मशरिकी के खाकसार, हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसे फासिस्ट प्रकृति के साम्प्रदायिक संगठनों के रूप में सामने आयी। ऐसे कट्टरपन्थी साम्प्रदायिक संगठनों ने तनाव व दंगे उकसाकर साम्प्रदायिक अलगाव बढ़ाकर औपनिवेशिक सत्ता की काफी मदद की। साथ ही, यह एक सच्चाई है कि कांग्रेस के बहुतेरे नेता भी नरमपन्थी साम्प्रदायिक मानसिकता के थे। इस चीज का, कांग्रेस के ग्रामीण लोकवाद की राजनीति का (जिसे शहरी साक्षर मुसलमान हिन्दुत्व और हिन्दू की राजनीति से जोड़ते थे), और हिन्दू-मुस्लिम एकता का जेनुइन पैरोकार होने के बावजूद, अपने सामाजिक आदर्शों को हिन्दू धर्म के मिथकों में प्रस्तुत करने तथा हिन्दू धर्म का आदर्शीकरण करने की गाँधी की लोकरंजकतावादी प्रवृत्ति का मुस्लिम साम्प्रदायिक नेताओं ने भरपूर इस्तेमाल किया और चौथे दशक के अन्त तक मुस्लिम लीग मुसलमानों के एक बड़े हिस्से को विश्वास दिलाने में सफल रही कि कांग्रेस मूलतः हिन्दुओं की पार्टी है। 1937 में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल बनने की प्रक्रिया में और उसके बाद सत्ता की राजनीति का जो बुर्जुआ खेल शुरू हुआ, उसमें कांग्रेस ने भी वह जमीन तैयार की, जो मुस्लिम लीग की अलगाववादी राजनीति के लिए अनुकूल थी। यह भी इतिहास का तथ्य है कि किस प्रकार एक बुर्जुआ पार्टी (कांग्रेस) में शीर्ष पर पहुँचने और भविष्य में सत्ता सम्हालने की महत्तवाकांक्षा विफल होने के बाद, एक राष्ट्रवादी मुसलमान नेता (जिन्ना) ने धार्मिक अस्मिता की राजनीति का सहारा लिया और कालान्तर में अलगाववादी साम्प्रदायिक राजनीति का सूत्रधार बन गया। बहरहाल, इन परिस्थितियों का ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने भरपूर लाभ उठाया। 1937 में संयुक्त प्रान्त में मिली-जुली सरकार बनाने के मुस्लिम लीग के प्रस्ताव को कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया था। लीग का आधार उस समय अभिजात मुसलमानों में था और वह भूमि-सुधारों के कांग्रेसी प्रस्तावों का विरोध करती थी। अतः कांग्रेस की सोच यह थी कि लीग को साथ लेने के बजाय व्यापक जनसम्पर्क आन्दोलन चलाकर आम मुसलमानों के बीच जनाधार बनाया जाये। यह सोच तो अमल में नहीं आयी (कांग्रेसी तो राजकाज चलाने में ही उलझे रहे), लेकिन मुस्लिम लीग ने आम मुसलमानों के बीच एक लोकप्रिय छवि बनाने की जी तोड़ कोशिश की और इसमें सफल भी रही। उसने पूर्ण स्वाधीनता के सिध्दान्त को स्वीकार किया, बड़े पैमाने पर आम सदस्यों की भर्ती की तथा पंजाब के मुख्यमन्त्री और यूनियनिस्ट नेता सिकन्दर हयात खान और बंगाल के मुख्यमन्त्री और कृषक प्रजा पार्टी के नेता फजलुल हक को भी साथ लेने में सफल रही। लेकिन लीग की राजनीति की

तरक्की का सर्वप्रमुख कारण था किसी प्रकार के जुझारू कार्यक्रम लागू कर पाने में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों की विफलता।

23 मार्च, 1940 को मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन ने पाकिस्तान के नारे को अन्तिम रूप देते हुए जो प्रसिद्ध प्रस्ताव पारित किया, उसके पीछे अंग्रेजों के प्रोत्साहन की विशेष भूमिका थी, तत्कालीन भारत सचिव जेटलैण्ड और वायसराय लिनलिथगो के दस्तावेज इसके स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। यह प्रस्ताव दरअसल काफी अस्पष्ट था। विभाजन की इसमें कहीं स्पष्ट चर्चा नहीं थी और मुख्यत: इसका अर्थ निकलता था : एक ढीले-ढाले संघ के अन्तर्गत पूर्ण स्वायत्तता। जिन्ना के लिए पाकिस्तान का नारा एक सौदेबाजी का साधन था, जिसके द्वारा वे कांग्रेस को सम्भवत: मिलने वाली संवैधानिक रियायतों की राह में रोड़ा अटका सकते थे और मुसलमानों के नेता के रूप में सत्ता में अपने हिस्से का दावा पेश कर सकते थे। अंग्रेजों के लिए यह नारा इसलिए उपयोगी था कि इसके माध्यम से वे संवैधानिक गतिरोध बनाये रख सकते थे और कांग्रेस के दबावों का मुकाबला कर सकते थे।

विडम्बना यह थी कि स्वयं कांग्रेस का नेतृत्व औपनिवेशिक सत्ता पर किसी प्रकार का जनान्दोलनात्मक दबाव बना पाने की स्थिति और मन:स्थिति में नहीं था। गाँधी और नेतृत्व पर हावी दक्षिणपन्थी धड़ा जनता और कतारों को लगातार संयम का उपदेश देता रहा और कोशिश करता रहा कि अंग्रेजों से किसी किस्म का समझौता हो जाये। लेकिन सरकार के अड़ियलपन और जनता, कांग्रेसी कार्यकर्ताओं और वामपन्थी धड़े के भारी दबाव के कारण रामगढ़ कांग्रेस (मार्च, 1940) में 'संगठन के इस योग्य होते ही' सविनय अवज्ञा आन्दोलन छेड़ने की बात कही गयी तथा इसका समय और स्वरूप तय करने की जिम्मेदारी गाँधी पर छोड़ दी गयी। अक्टूबर से आन्दोलन शुरू भी हुआ, लेकिन यह बेहद प्रभावहीन और सीमित था, इतना कि सरकार को कोई कड़ी दमनमूलक कार्रवाई भी नहीं करनी पड़ी। इसका कारण क्या था? – इसे जानने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति और अवस्थिति को समझना होगा। प्रथमदृष्टया, स्वाभाविक बात तो यह लगती है कि जब अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पध्र्दा युध्द के रूप में फूट पड़ी हो तो इसका लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग राजनीतिक स्वाधीनता की कोशिश करे। पर भारतीय पूँजीपति वर्ग औपनिवेशिक सत्ता से मुक्ति की चाहत से भी अधिक इस बात से डरता था कि किसी व्यापक जनसंघर्ष में जनता की पहलकदमी और उग्र परिवर्तनकामी जनाकांक्षाओं का ज्वार कहीं उसके पकड़ से बाहर न चला जाये और किसी आमूलगामी जनक्रान्ति का सबब न बन जाये। इसलिए जनता में जब किसी उग्र उभार की स्थिति होती थी तो कांग्रेसी नेतृत्व भरसक आन्दोलन को नरम बनाने या टालने की कोशिश करता रहता था। भारतीय पूँजीपति वर्ग किसी व्यापक जनान्दोलन के बजाय युध्द से ज्यादा से ज्यादा आर्थिक लाभ उठाने और अपनी औद्योगिक-वित्तीय पूँजी की ताकत बढ़ाने के बारे में व्यग्र था। पहले महायुध्द का अनुभव उसके सामने था और उसका सोचना सही भी था। युध्दकालीन माँग के कारण भारतीय औद्योगिक विकास को बड़ा बल मिला, क्योंकि आयात बन्द हो गये थे। अंग्रेज चाहकर भी भारतीय उद्योगपतियों के शक्ति-संवर्धन की इस प्रक्रिया को रोक नहीं सकते थे। भारतीय व्यापारी और दुकानदार युध्द की स्थिति में ज्यादा से ज्यादा लाभ कमा लेना चाहते थे, खासकर ऐसी स्थिति में जबकि युध्द देश की भूमि से काफी दूर लड़ा जा रहा था। खलीकुज्जमा (लीगी नेता) के अनुसार, मुस्लिम जमींदार और ताल्लुकेदार लकड़ी, कोयला आदि के ठेके पाने के लिए, अंग्रेजों से ज्यादा

से ज्यादा सहयोग के लिए लीग पर दबाव डाल रहे थे। निश्चय ही, कांग्रेस भी ऐसे दबावों से अछूती नहीं रही होगी।

कम्युनिस्ट पार्टी के सामने एक बार फिर यह अवसर था कि वह कांग्रेस के बुर्जुआ नेतृत्व की इस कमजोरी का लाभ उठाती और साम्राज्यवादी युध्द में ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के उलझाव की अनुकूल स्थिति में राजनीतिक आजादी और संविधान सभा की माँग को केन्द्रीय नारा बनाकर देशव्यापी संघर्ष छेड़ देती। लेकिन पार्टी नेतृत्व अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक कमजोरियों के शुरू से जारी सिलसिले और विशेषकर पी.सी. जोशी के नेतृत्व काल के दक्षिणपन्थी भटकाव के चलते निर्णायक हो पाने की स्थिति में ही नहीं थी। नतीजतन, वामपन्थी नेतृत्व छिटफुट और स्थानीय संघर्षों से ऊपर उठकर ब्रिटिश शासन के लिए कोई देशव्यापी चुनौती नहीं प्रस्तुत कर सका।

1941 के उतार में रूस पर हिटलर के हमले के बाद भारत की कम्युनिस्ट पार्टी ने फासीवाद विरोधी 'जनयुध्द' को पूर्ण समर्थन देने की लाइन ली। हालाँकि उसने स्वतन्त्रता और तत्काल राष्ट्रीय सरकार के गठन की माँग को दुहराया, लेकिन इन माँगों पर कोई देशव्यापी आन्दोलन खड़ा करना उसके एजेण्डे पर नहीं था, क्योंकि वह सोवियत संघ के साथ फासीवाद-विरोधी युध्द में खड़े ब्रिटेन के विरुध्द निर्णायक संघर्ष करके फासीवाद-विरोधी विश्वव्यापी मोर्चे की कमजोर नहीं करना चाहती थी। लेकिन कम्युनिस्ट पार्टी की यह सोच गलत थी। विश्व स्तर के समीकरणों में सोवियत संघ के साथ धुरी शक्तियों के विरुध्द मोर्चा बनाना ब्रिटेन और सभी पश्चिमी साम्राज्यवादियों की मजबूरी थी। आज यह स्थापित सत्य है कि ब्रिटेन और उसके साम्राज्यवादी मित्रों की सोच यह थी कि समाजवाद के सोवियत दुर्ग को फासिज्म की आँधी ढहा देगी और इस प्रक्रिया में फासिस्ट ताकतें जब कमजोर पड़ जायेंगी तो वे उनसे निपट लेंगे। हिटलर की 200 डिवीजनों से अकेले सोवियन संघ जूझ रहा था (मात्र 54 डिवीजनें यूरोप में तैनात थीं), लेकिन बार-बार कहने के बावजूद यूरोप में मोर्चा खोलने में काफी देर की गयी। ऐसी स्थिति में भारतीय कम्युनिस्ट यदि भारत में राष्ट्रव्यापी संघर्ष का दबाव बनाते तो अंग्रेजों से राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए और संविधान सभा के लिए आश्वासन लेने और राष्ट्रीय आन्दोलन के कांग्रेसी नेतृत्व के सामने प्रभावी चुनौती प्रस्तुत करने के साथ ही ब्रिटेन पर पश्चिम में भी युध्द का मोर्चा खोलने का दबाव बना सकते थे। सोवियत संघ की इस तरह से वास्तविक मदद की जा सकती थी। वैसे भी, फासीवाद-विरोधी जनयुध्द को भारतीय कम्युनिस्टों के समर्थन से सोवियत संघ या जनयुध्द को कोई वास्तविक मदद नहीं मिली। इस दौरान भारतीय कम्युनिस्टों की एक और गम्भीर गलती अगस्त-सितम्बर 1942 में गंगाधर अधिकारी द्वारा प्रस्तुत यह विचित्र प्रस्थापना थी कि बहुराष्ट्रीय भारत में सिन्धी, बलूची, पंजाबी (मुसलमान) और पठान आदि मुस्लिम राष्ट्रीयताएँ हैं और इस रूप में इन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार है। प्रकारान्तर से यह मुस्लिम लीग के अलगाववादी नारों का समर्थन था और इसका लाभ उपनिवेशवादियों को भी मिलना ही था। इन दो गम्भीर गलतियों ने भारतीय कम्युनिस्ट आन्दोलन को गम्भीर धक्का पहुँचाया और ग्रास रूट स्तर पर मजदूरों-किसानों के जुझारू संघर्षों और उनमें अपनी गहरी साख के बावजूद राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस के हाथों से छीनने के मामले में कम्युनिस्ट काफी पीछे छूट गये तथा पार्श्वभूमि में धकेल दिये गये।

जनवरी, 1942 में कम्युनिस्ट पार्टी 'जनयुध्द' के समर्थन का आह्वान कर रही थी, उस समय कांग्रेस के विभिन्न धड़े, गाँधी और बोस के अनुयायी अलग-अलग तरीके से सोच रहे थे। कुछ ऐसा

सोच रहे थे कि इस समय ब्रिटेन हार रहा है और यह राजनीतिक स्वाधीनता के लिए दबाव बनाने का सुनहरा अवसर है। कुछ सोच रहे थे कि ब्रिटेन पर समझौते के लिए दबाव बनाने से आगे नहीं बढ़ा जाना चाहिए, क्योंकि इससे जनक्रान्ति का और कमान कांग्रेस के हाथों से निकल जाने का खतरा होगा। नेहरू चाहते थे कि (क्रिप्स मिशन के दौरान) कोई न कोई समझौता हो जाये और फासीवाद विरोधी संयुक्त मोर्चे में भारत शामिल हो जाये। एम.एन. राय और उनके अनुयायी विश्वयुध्द को फासीवाद-विरोधी युध्द मानकर इस नतीजे पर पहुँचे थे कि बिना शर्त ब्रिटेन का साथ दिया जाना चाहिए। 1940 के सत्याग्रह के बाद नजरबन्द सुभाष बोस अफगानिस्तान से रूस होते हुए जर्मनी पहुँच चुके थे। प्रथम विश्वयुध्द के आतंकवादी क्रान्तिकारियों की भाँति उनकी रणनीति आन्तरिक ताकतों पर निर्भरता के बजाय ब्रिटेन के शत्रुओं से मदद लेकर सैन्य बल से स्वाधीनता हासिल करने की थी। आगे चलकर जर्मनी के बजाय जापान से मदद लेना, भारतीय युध्दबन्दियों और प्रवासियों को लेकर आजाद हिन्द फौज बनाना, बर्मा के रास्ते पूर्वोत्तर भारत में प्रवेश करना और फिर जापान के पीछे हटने और पराजय के साथ ही इस प्रयास की विफलता – यह आगे की सर्वज्ञात कथा है। यह सुभाष बोस की मध्यवर्गीय अराजकतावादी वामपन्थी राष्ट्रभक्ति का नाटकीय चरमोत्कर्ष और तार्किक परिणति थी। कांग्रेस के बाहर की बात करें। लीग इस पूरे दौर में अपने अलगाववादी एजेण्डे पर काम करती हुई ब्रिटिश सत्ता के साथ खड़ी रही, फासीवाद-विरोधी किसी सैध्दान्तिक स्टैण्ड के चलते नहीं बल्कि कांग्रेस को पछाड़कर उपनिवेशवादियों की मदद से अपना हित साधने के लिए। पाकिस्तान के नारे के इर्दगिर्द एक लोकवादी, लफ्फाजीभरी साम्प्रदायिकता विकसित हुई जो स्वतन्त्र मुस्लिम राज्य को हर मर्ज की दवा बताते थे। डॉ. अम्बेडकर (1942 से 1946 तक) श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक थे। उनका मुख्य एजेण्डा था कांग्रेस के नेतृत्व में मिलने वाली स्वाधीनता का विरोध करना। वे मानते थे कि ऐसी स्वाधीनता दलितों के लिए सवर्णों की गुलामी होगी, अत: ब्रिटिश सत्ता के रहते ही पहले दलितों की समस्या हल होनी चाहिए। राजनीतिक तौर पर केन्द्रीय और प्रान्तीय विधनमण्डलों में दलितों के लिए आरक्षण से आगे उनका एजेण्डा नहीं जाता था। यह भी उल्लेखनीय है कि 1940 में उन्होंने पाकिस्तान की माँग का समर्थन भी किया था। गोलवलकर के नेतृत्व वाली आर.एस.एस. और सावरकर की हिन्दू महासभा – दोनों ही किसी जनान्दोलन के विरोधी थे और आगे चलकर अगस्त 1942 के जन-विद्रोह का विस्फोट हुआ तो ये दोनों हिन्दू कट्टरपन्थी फासिस्ट संगठन उससे पूरी तरह से अलग रहे।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया में जापान के सैन्य अभियान की नाटकीय सफलता के बाद और भारतीय नेताओं से बातचीत के लिए अमेरिकी रूजवेल्ट के दबाव के बाद चर्चिल को भी अहसास हुआ कि भारतीय जनमत को साथ लेने के लिए कुछ आश्वासनों और कुछ सद्भावना-प्रदर्शन की जरूरत है। युध्दकालीन मन्त्रिमण्डल में शामिल एटली और क्रिप्स जैसे लेबर नेता भी कांग्रेसी नेताओं एवं अन्य पक्षों से वार्ता के लिए दबाव बना रहे थे। इनके परिणामस्वरूप क्रिप्स के नेतृत्व में एक मिशन भारत आया, लेकिन अपने साथ घोषणापत्र का जो मसौदा वे लाये थे, वह नितान्त निराशाजनक था। उसपर, चर्चिल, सेनाध्यक्ष वेवेल और वायसराय लिनलिथगो जैसे अनुदारवादियों का स्पष्ट दबाव था। क्रिप्स ने आते ही घोषणा की कि "जितनी जल्दी हो सके, भारत में स्वशासन की स्थापना" ब्रिटिश नीति का उद्देश्य है। लेकिन उनके घोषणापत्र के मसौदे में युध्द समाप्ति के बाद भारत को डोमीनियन स्टेटस (स्वतन्त्र उपनिवेश) का दर्जा देने की बात थी, उसकी स्वाधीनता की नहीं। सार्विक वयस्क मताधिकार के बजाय प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा निर्वाचित संविधान सभा की बात की गयी थी, जिसमें रियासतों का प्रतिनिधित्व करने के लिए

उनके शासकों द्वारा नामांकित प्रतिनिधियों के लिए कुछ सीटें रखी जानी थीं। पाकिस्तान की मॉग के लिए (और कुछ रियासतों के अलग अस्तित्व बनाये रखने के लिए भी) यह गुंजाइश बनायी गयी थी कि यदि किसी प्रान्त को नया संविधान स्वीकार नहीं होता तो वह अपने भविष्य के लिए ब्रिटेन से अलग समझौता कर सकेगा। जाहिर है कि इन प्रावधानों पर कांग्रेसी नेतृत्व को कड़ी आपत्ति थी। नतीजतन क्रिप्स मिशन विफल हो गया और अप्रैल में क्रिप्स वापस ब्रिटेन लौट गये।

जिस समय क्रिप्स मिशन विफल हुआ, उस समय युध्द में मित्र राष्ट्रों की पराजय का खतरा अधिक था। युध्द में पाँसा पलटा। 1942 के मध्य में स्तालिनग्राद में जर्मन सेना की पाँव उखड़ने के बाद। 1942 की गर्मियों में भारतीय बुर्जुआ वर्ग की कुशलतम राजनीतिक प्रतिनिधि और रणनीति-निर्माता गाँधी समझ चुके थे कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद पर जनान्दोलन का दबाव बनाकर अधिकतम सम्भव हासिल करने का अनुकूलतम समय आ चुका है। जुलाई 1942 में कांग्रेस कार्यसमिति की वधर् बैठक ने संघर्ष के निर्णय की स्वीकृति दी। अगस्त में बम्बई में कांग्रेस के खुले अधिवेशन में गाँधी ने ‘करो या मरो’ और ‘भारत छोड़ो’ का नारा देते हुए स्पष्ट कहा कि स्वाधीनता से कम उन्हें कोई भी चीज – कोई भी रियायत स्वीकार्य नहीं। पहली बार गाँधी राजनीतिक हड़ताल के लिए तैयार थे। उल्लेखनीय है कि कांग्रेस ने निर्णायक, उग्र तेवर वाले संघर्ष का निर्णय तब लिया, जब कम्युनिस्टों का अलग रहना तय था और कांग्रेस को विश्वास था कि जनाक्रोश को वह अपने नियन्त्रण से बाहर नहीं जाने देगी। निश्चय ही, भारत छोड़ो आन्दोलन एक देशव्यापी जन-उभार था। यह साम्राज्यवाद विरोधी जनभावना की प्रचण्डतम अभिव्यक्ति थी। चोटी के कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के बाद भी जनसंघर्ष स्वत:स्फूर्त ढंग से जारी रहा और देश के कई अंचलों में महीनों तक आजाद सरकारें काम करती रहीं।

1942 के अन्त तक युध्दकालीन परिस्थितियों का लाभ उठाकर ब्रिटिश सत्ता ने जन-उभार को तो निर्ममतापूर्वक कुचल दिया लेकिन अंग्रेज यह समझ चुके थे कि भारत पर औपनिवेशिक सत्ता को कायम नहीं रखा जा सकता। विश्व परिस्थितियाँ भी अब इसके प्रतिकूल थीं और युध्द ने ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति भी जर्जर बना दी थी। वेवेल 1943 में भारत का वायसराय बना। अक्टूबर 1944 में चर्चिल को लिखे अपने पत्र में अनुदारवादी होते हुए भी, उसने स्पष्ट लिखा था कि युध्द के पश्चात् अंग्रेजों के लिए भारत पर बलपूर्वक अधिकार जमाये रखना सम्भव नहीं होगा। उसके शब्दों में, ”हमें पहले भी ऐसे ही विद्रोहियों से सन्धिवार्ता करनी पड़ी थी जैसे कि डिवेलेराँ और जगलुल के साथ। वस्तुत: युध्द समाप्त होने के पहले ही सन्धिवार्ता करना बुध्दिमानी होगी – इसके पहले कि युध्द की समाप्ति पर बन्दियों की रिहाई हो और सैनिकों की सेवा-समाप्ति तथा बेरोजगारी के कारण अशान्ति फैले और आन्दोलन के लिए उपयुक्त भूमि तैयार हो। यह तभी हो सकता है जब हम उनकी (कांग्रेस की) ऊर्जा को पहले ही किसी अन्य लाभप्रद दिशा में मोड़ दें, अर्थात् उन्हें भारत की प्रशासनिक एवं संवैधानिक समस्याओं के समाधान ढूँढ़ने में लगा दें।” (वेवेल : दि वायसराय जर्नल, पृ. 97-98)। अड़ियल चर्चिल ने वेवेल के सुझाव पर कान नहीं दिया, लेकिन 1945 में लेबर पार्टी जब सत्ता में आयी तो उसने इसी प्रक्रिया को आगे बढ़ाया और कांग्रेसी नेताओं को इसके लिए सहमत करने में वह सफल भी रही।

1942 के ‘भारत छोड़ो आन्दोलन’ से मिले संकेतों और विश्व परिस्थितियों को देखते हुए अंग्रेज अब कांग्रेस को सत्ता हस्तान्तरित करने के लिए सोचने लगे थे। यह समय इसके लिए सर्वाधिक अनुकूल था, क्योंकि जनता की नजरों में कांग्रेस को एक नयी प्रतिष्ठा हासिल हो चुकी थी, कम्युनिस्ट और अन्य वामपन्थी ताकतें पीछे धकेल दी गयी थीं और बिखराव का शिकार थीं।

पूँजीपति वर्ग की प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस नेहरू के तमाम "समाजवादी" तेवरों के बावजूद, भारत में ब्रिटिश हितों की हिफाजत के लिए तैयार थी, क्योंकि भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद कर ही नहीं सकता था। ज्यादा से ज्यादा वह मोल-तोल कर सकता था। उपनिवेशवादी चाहते थे कि कांग्रेस को अपनी शर्तों पर झुकाने के लिए मुस्लिम लीग का इस्तेमाल किया जाये और या तो मुस्लिम बहुल प्रान्तों की अधिकतम स्वायत्तता वाले एक ढीले-ढाले संघ के रूप में स्वाधीन भारत अस्तित्व में आये, या फिर देश का विभाजन हो जाये। उपनिवेशवादी जानते थे कि उत्तर औपनिवेशिक दौर में भी साम्प्रदायिक अन्तरविरोधों का प्रभावी इस्तेमाल अपने हित-साधन के लिए किया जा सकता है। वे यह भी जानते थे कि कम्युनिस्ट पार्टी की तमाम कमजोरियों के बावजूद, उनके फिर से ताकतवर हो उठने का और किसी सम्भावित जनक्रान्ति का भय भारतीय पूँजीपति वर्ग को और कांग्रेसी नेतृत्व को लगातार सताता रहता है। इसलिए समझौते के द्वारा सत्ता प्राप्ति की उन्हें भी काफी उतावली है।

इन्ही परिस्थितियों में युध्दोत्तर काल का घटनाक्रम आगे विकसित हुआ।

ब्रिटिश उपनिवेशवादियों और कांग्रेस के बीच युध्दोत्तरकालीन समझौतों-सौदेबाजियों की पृष्ठभूमि विश्वयुध्द के अन्तिम वर्ष के दौरान ही तैयार हो चुकी थी। मई, 1944 में गाँधी की रिहाई के बाद नये वायसराय वेवेल की मध्यस्थता में, पाकिस्तान के प्रश्न पर गाँधी और जिन्ना के बीच कई असफल वार्ताएँ हुईं। ब्रिटिश सत्ता ने दोनों पक्षों के बीच के मतभेदों को उग्र बनाने में अहम भूमिका निभायी। वेवेल केन्द्र में कांग्रेस और लीग की जो मिली-जुली अस्थायी सरकार का प्रस्ताव रख रहा था, उसका स्वरूप सारत: क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव जैसा ही था। कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया।

अगस्त 1942 के बाद कांग्रेस पर सरकारी दमन का मुस्लिम लीग ने भरपूर लाभ उठाया था। ब्रिटिश हुकूमत ने भी उसे भरपूर बढ़ावा दिया। असम, सिन्ध, बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त में लीग के मन्त्रिमण्डल सत्तारूढ़ हो चुके थे। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी के नेता सिकन्दर हयात की मृत्यु के बाद जिन्ना के लिए वहाँ अपना प्रभाव बढ़ाना सुगम हो गया। पंजाब और बंगाल के मुसलमान किसानों से लीग वायदा कर रही थी कि पृथक पाकिस्तान में हिन्दू जमींदारों और बनियों का शोषण समाप्त हो जायेगा। लीग यह भी कहती थी कि हिन्दू व्यापारियों-उद्योगपतियों की प्रतिस्पध्दा से मुक्त होने के चलते पाकिस्तान में छोटे मुसलमान व्यावसायियों-उद्यमियों को तरक्की के मौके मिलेंगे और उदीयमान मुसलमान बुध्दिजीवियों को नौकरियों के बेहतर मौके मिलेंगे। इन वायदों ने संयुक्त प्रान्त और बम्बई प्रान्त के मुसलमान व्यावसायिक समूहों, राजनीतिज्ञों, बुध्दिजीवियों को विशेष रूप से आकर्षित किया। लीग को अब केवल मुसलमान जमींदारों-ताल्लुकदारों से ही नहीं बल्कि इस्पहानी और आदमजी व्यापारिक घरानों से भी मदद मिल रही थी। अप्रैल 1945 में 'फेडरेशन ऑफ मुस्लिम चैम्बर्स ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री' की भी स्थापना हो चुकी थी। मुसलमानों में बड़े पूँजीपति नगण्य थे। और जो हिन्दू पूँजीपति और व्यापारी थे, उनमें से कुछ उदार हिन्दू (नरम साम्प्रदायिक) थे तो कुछ कट्टर पुनरुत्थानवादी और हिन्दूमहासभाई भी थे। इस स्थिति ने भी मुस्लिम अलगाववाद को बढ़ावा देने में एक भूमिका निभायी। इस तरह ब्रिटिश साम्राज्यवादी कुचक्र और जनान्दोलनों से भयाकुल होने के चलते, हमेशा बातचीत और समझौते की नीति अपनाने के कांग्रेसी रवैये के चलते तथा भारतीय बुर्जुआ वर्ग और उसकी प्रतिनिधि राजनीतिक पार्टी कांग्रेस के भीतर जुझारू जनवादी मूल्यों और वास्तविक धर्मनिरपेक्षता के अभाव के कारण बीसवीं शताब्दी में साम्प्रदायिकता की जो राजनीति

विकसित हुई, उसने 1945 तक आते-आते विभाजन की जमीन लगभग पूरी तरह से तैयार कर दी थी। मुस्लिम लीग की राजनीति को यहाँ तक पहुँचाने में निस्सन्देह हिन्दू महासभा, आर.एस.एस. जैसे कट्टरपन्थी हिन्दूवादी संगठनों ने भी अहम भूमिका निभायी थी। पाकिस्तान की माँग अब महज मोल-तोल का औजार नहीं थी। अब वह एक वास्तविक माँग बन चुकी थी। हालाँकि तब भी यह कतई नहीं कहा जा सकता था कि आम मुसलमानों की बहुसंख्यक आबादी विभाजन की पक्षधर थी। गौरतलब है कि मुसलमानों का अच्छा-खासा हिस्सा कांग्रेस के भी साथ था और गरीब कामकाजी मुसलमानों के बीच कम्युनिस्टों का भी अच्छा-खासा आधार था। आगे हम देखेंगे कि 1946 के चुनावों में अधिकांश आरक्षित मुस्लिम सीटें जीतकर मुस्लिम लीग ने मुसलमानों का एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा मजबूती के साथ रखा और पाकिस्तान की माँग दृढ़ता के साथ पेश की। लेकिन याद रखें कि सार्विक मताधिकार पर आधारित नहीं होने के कारण आम मुसलमान आबादी का अत्यन्त छोटा हिस्सा ही उन चुनावों में वोट दे सका था। दूसरे, पाकिस्तान या अपनी किसी भी माँग को लेकर लीग कभी भी कोई व्यापक जनान्दोलन खड़ा नहीं कर सकी थी।

जुलाई 1945 में इंग्लैण्ड में हुए आम चुनावों में लेबर पार्टी की विजय हुई। लेबर पार्टी के नेता भी किन्हीं अर्थों में टोरियों से कम साम्राज्यवादी नहीं थे। भारत छोड़ने का विचार उनके लिए भी दुखद था लेकिन वे इस बात को टोरियों से बेहतर समझते थे कि तत्कालीन अन्तरराष्ट्रीय और भारतीय राजनीतिक परिस्थितियों में उनके पास दूसरा कोई विकल्प नहीं है।

पहले अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियों को लें। नाजी जर्मनी के धवंस और जापान के समर्पण के बाद पूरे पूर्वी यूरोप में कम्युनिस्टों के नेतृत्व या कम्युनिस्टों की भागीदारी वाली आमूल परिवर्तनवादी सत्ताएँ उभर रही थीं। ऐसी ताकतें इटली और प्रफ़ांस में भी मजबूत थीं। चीन और कोरिया में कम्युनिस्ट नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियाँ तेजी से जीत के निकट पहुँच रही थीं। वियतनाम और इण्डोनेशिया में प्रफ़ांसीसी और डच औपनिवेशिक सत्ताओं की पुनर्स्थापना के विरुध्द उग्र जन प्रतिरोध जारी था। वियतनाम में भी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्ट कर रहे थे और इण्डोनेशिया में वे दूसरी सबसे बड़ी ताकत थे। यह पूरी स्थिति सिर्फ अंग्रेजों को ही नहीं बल्कि भारतीय पूँजीपति वर्ग और कांग्रेसी नेतृत्व को भी चिन्तित और भयभीत कर रही थी। अन्तरराष्ट्रीय पटल पर दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हो रहा था कि साम्राज्यवादियों के चौधरी का स्थान अमेरिका लेने जा रहा था जिसने युध्द में नगण्य नुकसान उठाया था और बहुत अधिक लाभ कमाया था। ब्रिटेन की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो चुकी थी। ब्रिटिश सेना और जनता युध्द से थक चुकी थी। उपनिवेशों में उठते जनज्वार को बल-प्रयोग से रोक पाने की स्थिति में अब ब्रिटिश उपनिवेशवादी नहीं रह गये थे। अत: पीछे हटने का दबाव उन पर देश के भीतर से भी था और अमेरिका की ओर से भी।

अब भारत की राजनीतिक परिस्थितियों पर दृष्टि डालें। 1942 के जनविद्रोह, उसके बाद लगातार जारी प्रतिरोध संघर्षों (1943-45 के दौरान मजदूरों-किसानों के जनसंघर्षों) तथा मध्यवर्ग, विशेषकर छात्रों-युवाओं-बुध्दिजीवियों के बीच बढ़ते जुझारू राष्ट्रवादी और वामपन्थी विचारों के प्रभाव के कारण यह स्पष्ट लग रहा था कि औपनिवेशिक शासन के दिन अब गिने-चुने ही रह गये हैं। अपनी अतीत की गलतियों के कारण कम्युनिस्ट राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने की स्थिति में तो नहीं थे, पर चीन, वियतनाम, कोरिया, इण्डोनेशिया की स्थिति को देखते हुए यह भय बना हुआ था कि यदि कांग्रेस के साथ सत्ता-हस्तान्तरण के लिए वार्ताओं को आगे नहीं बढ़ाया गया तो

जनता कांग्रेसी नेतृत्व के नियन्त्रण में नहीं रह जायेगी। वह क्रान्तिकारी ढंग से उपनिवेशवाद को उखाड़ फेंकने की दिशा में आगे बढ़ सकती है और इस प्रक्रिया में पहलवफदमी कम्युनिस्टों के हाथ में आ सकती है। इसी परिप्रेक्ष्य में ब्रिटेन में सत्तासीन हुई एटली की लेबर सरकार ने कांग्रेस के साथ बातचीत आगे बढ़ाने के लिए वायसराय वेवेल को निर्देश दिया। पर लेबर सरकार ने भी वार्ताओं की प्रक्रिया को धीमी गति से और काफी सौदेबाजी करते हुए आगे बढ़ाया। इस धीमी प्रक्रिया के दौरान साम्प्रदायिक तनाव और बँटवारे की माँग जोर पकड़ती गयी, जिसकी तार्किक परिणति आगे चलकर साम्प्रदायिक दंगों के भीषण विस्फोट और विभाजन के रूप में सामने आयी। ब्रिटिश उपनिवेशवादी चाहते भी यही थे। कांग्रेसी नेतृत्व विभाजन नहीं चाहता था, लेकिन जनसंघर्षों के हाथ से निकल जाने के भय से समझौते-सौदेबाजी की लम्बी प्रक्रिया से गुजरना उसके सामने एकमात्र रास्ता था और इस रास्ते से चलते हुए वह उस मुकाम तक पहुँचने को अभिशप्त था, जहाँ विभाजन को स्वीकारने के अतिरिक्त उसके सामने कोई चारा नहीं बचा।

आर्थिक-राजनीतिक दृष्टि से भारतीय पूँजीपति वर्ग युध्दोत्तर काल में इतना मजबूत हो चुका था कि ब्रिटेन पर देश छोड़ने के लिए दबाव बना सके, पर जनसंघर्षों से डरने की अपनी प्रवृत्तिा के चलते उसे समझौते से ही राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल करनी थी। ब्रिटिश आर्थिक हितों की सुरक्षा का आश्वासन देना और साम्राज्यवादी विश्व से असमानतापूर्ण शर्तों पर बँधो रहना उसकी वर्ग प्रकृति के सर्वथा अनुकूल था। युध्द के दौरान भारत के औद्योगिक उत्पादन में भारी वृध्दि हुई थी। फौजी आपूर्तियों के लिए प्राप्त भारी ऑर्डरों की बदौलत तथा युध्द के दौरान आयात के अभाव के चलते देशी बाजार की माँग का भरपूर लाभ उठाकर भारतीय उद्योगपतियों ने काफी पूँजी संचित की तथा शेयरों की खरीद के जरिये उन क्षेत्रों में भी प्रवेश किया (जैसे चाय बागान, जूट उद्योग आदि) जो अब तक ब्रिटिश पूँजी के अनन्य क्षेत्र थे। रसायन उद्योग (जैसे टाटा और इम्पीरियल केमिकल्स के बीच) और ऑटोमोबाइल (जैसे बिड़ला और एनफील्ड के बीच) आदि क्षेत्रों में भारतीय शीर्ष उद्योगपति मिश्रित कम्पनियाँ बनाने लगे। टाटा, बिड़ला, डालमिया-जैन आदि भारतीय इजारेदार समूह ब्रिटिश इजारेदार समूहों के छोटे भागीदार बनने लगे। बड़ौदा, ग्वालियर, मैसूर, जयपुर आदि विकसित रियासतों में भारतीय बड़े पूँजीपतियों ने प्रवेश किया और इन इलाकों के शासक उनकी औद्योगिक कम्पनियों में हिस्सेदार बन गये। देश के प्रौद्योगिक पिछड़ेपन के कारण भारतीय पूँजीपति विदेशी बड़े पार्टनरों का मुँह जोहने को मजबूर थे, लेकिन उनके सामने अब कई विकल्प थे और बदली परिस्थितियों में प्रौद्योगिक एवं पूँजीगत सहायता कम कठिन शर्तों पर मिलने की उम्मीद थी। यही स्थिति आजादी के बाद स्पष्ट रूप में विकसित हुई, पर इसकी प्रक्रिया तो 1945 से ही शुरू हो चुकी थी। एक और महत्वपूर्ण बात यह हुई थी कि 1944-45 तक भारत द्वारा किये जाने वाले आयात का सबसे बड़ा स्रोत ब्रिटेन की जगह अमेरिका बन चुका था। भारत द्वारा आपूर्ति की जाने वाली युध्द सामग्री के भुगतान के लिए ब्रिटेन द्वारा भारत के स्टर्लिंग ऋण पत्र लगातार खरीदे जाने के कारण भारत के स्टर्लिंग ऋण समाप्त हो गये। तात्कालिक तौर पर तो ये बड़े पैमाने पर भारतीय संसाधनों के हस्तान्तरण के बदले दिये गये वचन-पत्र मात्र ही थे, लेकिन 1947 के बाद भारत के विदेशी मुद्रा भण्डार को इनसे काफी बल मिला। इस प्रकार ऋण के भुगतान के रूप में ‘सम्पत्ति के दोहन’ की औपनिवेशिक नीति के एक पारम्परिक घटक का 1944-45 तक ही खात्मा हो चुका था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के युध्दकालीन आर्थिक शक्ति-संचय की चर्चा करते हुए यह बताना जरूरी है कि वास्तव में पूँजी की अधिकांश वृध्दि उत्पादन-क्षेत्र में न होकर लाभांशों में हुई, विशेषकर खाद्यान्नों की कालाबाजारी, सट्टेबाजी और शेयर बाजार की गतिविधियों द्वारा। मेधावी मार्क्सवादी इतिहासकार डी.डी. कोसम्बी ने 1946 में ही अपने एक लेख

में (‘दि बुर्जुआजी कम्स ऑफ एज इन इण्डिया’, ‘एक्जास्परेटिंग एस्सेज’) में बताया था कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग एक विशेष प्रकार का बुर्जुआ वर्ग था जो उत्पादन को बढ़ाने या उसकी क्षमता दर्शाने के बजाय सट्टेबाजी से अत्यधिक लगाव रखता था। भारतीय बुर्जुआ वर्ग की यही आर्थिक ताकत और चारित्रिक कमजोरी आगे चलकर हमें राजनीतिक पटल पर सत्ता-हस्तान्तरण और संविधान-निर्माण की पूरी प्रक्रिया के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व की नीति एवं व्यवहार में प्रतिबिम्बित होती दिखती है।

सत्तासीन होने के बाद ब्रिटेन की लेबर सरकार ने सितम्बर, 1945 में लन्दन और दिल्ली में एक साथ अपनी भारत-विषयक नीति की पहली घोषणा की। उसमें कहा गया था कि क्रिप्स मिशन के प्रस्तावों को अमल में लाते हुए 1945-46 की सर्दियों में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधानमण्डलों के चुनाव कराये जायेंगे। यह घोषणा जनता और बुर्जुआ राजनीतिक नेतृत्व दोनों को ही मायूस करने वाली थी। क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव तो कांग्रेस पहले ही ठुकरा चुकी थी। लेकिन जल्दी ही उपनिवेशवाद- विरोधी जन-उभारों की नयी लहर ने ब्रिटिश योजनाओं में संशोधन और उनके अमल में तेजी लाने की स्थिति पैदा कर दी।

1945 के मध्य में मजदूर हड़तालों की एक नयी देशव्यापी लहर आयी। ज्यादा से ज्यादा राजनीतिक होते जाना इस लहर की विशेषता थी। मजदूर हड़तालें छात्रों और अन्य मेहनतकश समुदायों के राजनीतिक संघर्षों-प्रदर्शनों के साथ जुड़ती जा रही थीं। ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (एटक) जनवरी 1945 में मद्रास में हुए 21वें अधिवेशन में ही राष्ट्रीय स्वाधीनता का प्रस्ताव पारित कर चुकी थी। परिस्थितियों ने ट्रेड यूनियन संगठनों के भीतर विभिन्न राजनीतिक गुटों के बीच, कुछ ही समय के लिए सही, लेकिन एकता कायम कर दी थी। 1945 के उत्तरार्द्ध में हड़तालें और प्रदर्शन सेना और पुलिस के साथ सशस्त्र झड़पों और टकरावों की शक्ल लेने लगे थे। इस जुझारू जन एकता को तोड़ने के लिए साम्राज्यवादी साम्प्रदायिक दंगे भड़काने की साजिशें रचते थे। बम्बई में सफल होने के बाद उन्होंने अपनी कोशिशें और तेज कर दीं और मुस्लिम लीग की राजनीति इसमें मददगार भी बनी, लेकिन, फिर भी जुझारू जनान्दोलनों का दबाव ब्रिटिश उपनिवेशवादियों पर बढ़ता गया।

अक्टूबर 1945 से लेकर फरवरी 1946 के बीच घटी कुछ घटनाओं ने ऐसा व्यापक जन-दबाव निर्मित किया कि ब्रिटिश साम्राज्यवादियों को अपनी नीतियों में कुछ बुनियादी बदलाव के लिए विवश होना पड़ा। उग्र देशव्यापी जन-उभार ने एक ओर जहाँ कांग्रेसी नेतृत्व को भयभीत किया, वही इसका लाभ उठाकर उन्होंने सत्ता-हस्तान्तरण के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादियों पर दबाव बढ़ा दिया। इस विस्फोटक दौर को वेवेल के जर्नल के सम्पादक पेण्डरले मून ने बिल्कुल सटीक ढंग से ‘ज्वालामुखी के कगार’ की संज्ञा दी है।

इस विस्फोटक स्थिति का पहला कारक उपादान अंग्रेजों द्वारा आजाद हिन्द फौज के 20,000 फौजियों पर सार्वजनिक मुकदमा चलाने का मूर्खतापूर्ण निर्णय था। साथ ही, कम से कम 7000 को नौकरी से निकालकर बिना मुकदमा चलाये हिरासत में रखा गया। तुर्रा यह कि ऐसा पहला मुकदमा लाल किले में चला जिसमें आजाद हिन्द फौज के एक हिन्दू, एक मुसलमान और एक सिख अफसर को एक साथ कठघरे में खड़ा किया गया। इससे जनता में जो तीव्र भावनात्मक लहर फैली, उसने कुछ समय के लिए साम्प्रदायिक अलगाव की दीवारों को गिरा दिया। मुस्लिम लीग भी इस व्यापक जनान्दोलन का समर्थन करने को विवश हो गयी। सुभाष चन्द्र बोस की

राजनीति और सामरिक नीति की विसंगतियाँ चाहे जो भी रही हों, आजाद हिन्द फौज के मुकदमे अब एक साम्राज्यवाद-विरोधी भावनात्मक मुद्दा बन चुके थे। महत्वपूर्ण बात यह थी कि आजाद हिन्द फौज की देशभक्तिपूर्ण शौर्य की भावना तेजी से सेना में भी फैलती जा रही थी (जनवरी 1946 में आजाद हिन्द फौज के रिहा किये गये कुछ सैनिकों के स्वागत समारोह में भारतीय सेना के बहुत सारे सिपाही वर्दी पहनकर शामिल हुए थे)।

एक और मुद्दा यह था कि दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों – विशेषकर वियतनाम और इण्डोनेशिया में फ्रांसीसी और डच औपनिवेशिक शासन को बहाल करने के लिए और राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन को कुचलने के लिए ब्रिटेन द्वारा भारतीय सेना का उपयोग किया जा रहा था। इससे शहरी मध्यवर्गीय और मजदूर जनता के साथ ही सेना के भीतर भी गम्भीर विक्षोभ फैल गया, जो साम्राज्यवाद विरोधी चेतना के प्रचण्ड उभार का एक द्योतक था। इसके विरोध में देशव्यापी प्रदर्शन हुए। गोदी मजदूरों ने इण्डोनेशिया को फौजी सामान ले जाने वाले जहाजों में माल लादने से इन्कार कर दिया और 25 अक्टूबर 1945 को पूरे देश में 'इण्डोनेशिया दिवस' मनाया गया। कम्युनिस्ट पार्टी और जनसंगठनों के अतिरिक्त कांग्रेस और लीग ने भी इस जनान्दोलन का समर्थन किया।

ब्रिटिश उपनिवेशवादी इस साम्राज्यवाद-विरोधी लहर से तथा साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन के अपने षड्यन्त्र को विफल होते देख घबरा उठे। लीग को भी स्वयं के अप्रासंगिक हो जाने का भय सताने लगा। अंग्रेजों को लगने लगा कि यदि कांग्रेस फिर से 1942 जैसे देशव्यापी आन्दोलन का आह्वान कर दे तो उसमें व्यापक मजदूर-किसान आबादी के अतिरिक्त शहरी मध्यवर्गीय आबादी, असन्तुष्ट सैनिक और फौजी अनुभव रखने वाले आजाद हिन्द फौज के सैनिक भी शामिल हो जायेंगे। कम्युनिस्ट पार्टी भी तब उसमें पूरी ताकत से शामिल हो जायेगी। तब स्थिति उनके हाथ से एकदम निकल जायेगी। लेकिन जल्दी ही उन्होंने समझ लिया कि दूरन्देश कांग्रेसी नेता ऐसा कतई नहीं करेंगे। वे समझ गये कि 1942 के नायकों-शहीदों को और आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों को महिमामण्डित करने वाले कांग्रेसियों के उग्र भाषण महज चुनावी लोकलुभावन पैंतरेबाजियाँ हैं। बात तब और स्पष्ट हो गयी जब कांग्रेस ने कम्युनिस्टों के विरुध्द जबर्दस्त अभियान चलाया जिसमें "वामपन्थी" लच्छेदार जुमलेबाजी करने वाले नेहरू की अग्रणी भूमिका थी। जगह-जगह कम्युनिस्टों पर हमले भी हुए। बम्बई में नेहरू के भाषण से उत्तोजित भीड़ ने कम्युनिस्ट पार्टी मुख्यालय पर धावा बोल दिया। इसकी चरम परिणति यह हुई कि 5 अक्टूबर को कांग्रेस से कम्युनिस्ट पार्टी सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया और दिसम्बर में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से सभी कम्युनिस्टों को निकाल दिया गया। 1945 के अन्त तक कांग्रेस को जुझारू राष्ट्रवादी और आमूल परिवर्तनवादी लहर में बहने से बचाने के लिए बिड़ला आदि पूँजीपति और पार्टी के भीतर के पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, भूलाभाई देसाई, टण्डन आदि दक्षिणपन्थी धड़े के अग्रणी सदस्य सक्रिय हो चुके थे। जवाहरलाल पूर्ववत सन्तुलनकारी तत्व और पार्टी के लोकलुभावन मुखौटे का काम कर रहे थे और पहले की तरह 1946 के चुनावों में भी पार्टी के अग्रणी चुनाव प्रचारक की भूमिका भी वही निभाने वाले थे।

फौजी अदालत द्वारा आजाद हिन्द फौज के उपरोक्त तीनों अफसरों को लम्बी कैद की सजा के बाद नवम्बर 1945 में देशव्यापी विरोध प्रदर्शन शुरू हो गये। कलकत्ता में जनप्रदर्शन आम राजनीतिक हड़ताल में बदल गये। छात्र, युवा, मजदूर और आम नागरिकों ने सड़कों पर बैरिकेड खड़े कर दिये। 22-23 नवम्बर को भीड़ सेना और पुलिस से मोर्चा लेती रही। कारखानों के

मजदूरों के अतिरिक्त टैक्सी ड्राइवरों और ट्राम चालकों ने कम्युनिस्ट नेतृत्व में हड़ताल कर दी। भीड़ ने रेलगाड़ियाँ रोक दीं। दर्जनों प्रदर्शनकारी मारे गये, सैकड़ों घायल हुए। पर पुलिस और सेना को भी भारी नुकसान उठाना पड़ा। इस शहरी जन-विद्रोह की घटना में कम्युनिस्टों और फॉरवर्ड ब्लॉक के अतिरिक्त कांग्रेस और लीग के आम कार्यकर्ताओं ने भी बढ़-चढ़कर भाग लिया, लेकिन इन पार्टियों के शीर्ष नेता इससे अलग रहे॥ सुभाष के भाई, कांग्रेसी नेता शरत बोस ने छात्रों की एक सभा को सम्बोधित करने से इन्कार कर दिया और कम्युनिस्टों पर हिंसा भड़काने का आरोप लगाया। भारी सैनिक दमन के साथ ही कांग्रेसी नेताओं के प्रयासों से यह हड़ताल समाप्त हो पायी। लेकिन इसी तरह की राजनीतिक हड़तालें (कम उग्र स्तर पर) बम्बई और अन्य नगरों में भी हुईं। कांग्रेस के चरित्र को समझने के लिए इस घटना पर उसके नेताओं की प्रतिक्रिया जानना दिलचस्प होगा। इसके तुरन्त बाद गाँधी जी ने बंगाल के गवर्नर से सौहार्दपूर्ण वार्ता शुरू कर दी। 7-11 दिसम्बर को कलकत्ता में हुई कांग्रेस कमेटी की बैठक में अहिंसा पर काफी जोर दिया गया था जो सितम्बर बैठक के तेवर (जिसमें 1942 के जनसंघर्ष का गौरवगान किया गया था) के एकदम उलट था। जाहिर है कि कांग्रेस जनान्दोलन से भयभीत हो गयी थी। उसे कमान अपने हाथ से निकल जाने का भय सताने लगा, बावजूद इसके, कि कम्युनिस्ट अपनी विचारधारात्मक-राजनीतिक-सांगठनिक कमजोरी तथा अनिर्णय के कारण तथा अतीत की गलतियों के चलते, निर्णायक पहलकदमी ले पाने की स्थिति में नहीं थे।

उधर अंग्रेजों ने महसूस किया कि कुछ रियायतें देना और नरमी बरतना तथा कांग्रेस और लीग के साथ बातचीत को आगे बढ़ाकर समझौते-सौदेबाजी के द्वारा बुर्जुआ वर्ग को सत्ता सौंपने की दिशा में आगे बढ़ने की रफ्तार तेज करनी होगी। 1 दिसम्बर को घोषणा की गयी कि ”सम्राट के विरुध्द युध्द छेड़ने” के आम आरोप में आजाद हिन्द फौज के सभी अफसरों-सैनिकों पर मुकदमा चलाने के बजाय केवल उन्हीं सैनिकों पर मुकदमा चलाया जायेगा जिन पर साथी कैदियों के साथ दुर्व्यवहार या उनकी हत्या करने के आरोप हैं। जनवरी 1996 में आजाद हिन्द फौज के पहले बैच को दी गयी सजा रद्द कर दी गयी। फरवरी तक हिन्दचीन और इण्डोनेशिया से भारतीय सैनिकों की वापसी शुरू हो गयी।

22 जनवरी 1946 को एटली की सरकार ने कांग्रेस और लीग के नेताओं के साथ सौदेबाजी-समझौते की प्रक्रिया तय करने के लिए एक कैबिनेट मिशन भारत भेजने का महत्वपूर्ण निर्णय लिया। इसमें भारत मन्त्री सर पेथिक लॉरेंस (मिशन के नेता) के अतिरिक्त दो और मन्त्री लॉर्ड अलेक्जेण्डर और सर स्टैफोर्ड क्रिप्स शामिल थे।

कैबिनेट मिशन, जनसंघर्ष की नयी लहर, नौसेना विद्रोह, और प्रान्तीय विधानमण्डल के चुनाव : अन्तरिम सरकार के गठन और संविधान सभा के चुनाव की पूर्वबेला

कैबिनेट मिशन मार्च के अन्त तक भारत पहुँचा। लेकिन इसके पहले, फरवरी के महीने में भारत में दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं, जिन्होंने ब्रिटिश सत्ता के समक्ष गम्भीर चुनौती उपस्थित कर दी और कैबिनेट मिशन के भावी क्रियाकलापों की दिशा एवं गति तय करने में अहम भूमिका निभायी।

इनमें से पहली घटना थी, फरवरी में एक बार फिर कलकत्ता की सड़कों पर बैरिकेड और आम हड़ताल। आजाद हिन्द फौज के अब्दुल रशीद को 7 वर्ष कैद की सजा सुनायी जाने के बाद 11

और 13 फरवरी के बीच एक बार फिर कलकत्ता की सड़कों पर प्रचण्ड जनरोष उमड़ पड़ा। छात्रों ने पहल ली और फिर व्यापक कामगार और मध्यवर्गीय आबादी सड़कों पर उमड़ पड़ी। 12 फरवरी को कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा आम हड़ताल की घोषणा ने कलकत्ता के औद्योगिक जीवन को ठप्प कर दिया। दो दिनों तक सड़कों पर सेना और पुलिस से मुठभेड़ के दौरान 84 लोग मारे गये। इसी दौरान रेलवे और डाकखाने के कर्मचारियों के अखिल भारतीय संगठन बढ़ी हुई कीमतों और राशन-कटौती के विरुध्द हड़ताल की धमकी दे रहे थे। जल्दी ही सरकारी कर्मचारी भी उनके साथ हो लिये। गौरतलब है कि कांग्रेसी नेता ऐसी किसी भी हड़ताल के विरुध्द थे। लीग और कांग्रेस राशन-कटौती के प्रस्ताव को स्वागत करते हुए स्वीकार कर चुके थे, लेकिन यह देशव्यापी जनान्दोलन का मुद्दा बन गया था।

दूसरी घटना राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना थी, जिसके वास्तविक महत्व का इतिहासकारों ने अभी तक बहुत कम आकलन किया है। यह घटना थी, 18 से 23 फरवरी 1946 के बीच बम्बई में होने वाला नौसेना विद्रोह, जो अनायास 1905 की पहली रूसी क्रान्ति के समय काले सागर में तैनात 'बैटलशिप' पोतेम्किन के नौसैनिकों के ऐतिहासिक विद्रोह की याद दिलाता है। विद्रोह की स्वत:स्फूर्त शुरुआत नौसेना के सिगनल्स प्रशिक्षण पोत 'आई.एन.एस. तलवार' से हुई। नाविकों द्वारा खराब खाने की शिकायत करने पर अंग्रेज कमान अफसरों ने नस्ली अपमान और प्रतिशोध का रवैया अपनाया। इस पर 18 फरवरी को नाविकों ने भूख हड़ताल कर दी। हड़ताल अगले ही दिन कैसल, फोर्ट बैरकों और बम्बई बन्दरगाह के 22 जहाजों तक फैल गयी। 19 फरवरी को एक हड़ताल कमेटी का चुनाव किया गया। नाविकों की माँगों में बेहतर खाने और गोरे और भारतीय नौसैनिकों के लिए समान वेतन के साथ ही आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों और सभी राजनीतिक बन्दियों की रिहाई तथा इण्डोनेशिया से सैनिकों को वापस बुलाये जाने की माँग भी शामिल हो गयी। विद्रोही बेड़े के मस्तूलों पर कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के झण्डे एक साथ फहरा दिये गये। 20 फरवरी को विद्रोह को कुचलने के लिए सैनिक टुकड़ियाँ बम्बई लायी गयीं। नौसैनिकों ने अपनी कार्रवाइयों के तालमेल के लिए पाँच सदस्यीय कार्यकारिणी चुनी। लेकिन शान्तिपूर्ण हड़ताल और पूर्ण विद्रोह के बीच चुनाव की दुविधा उनमें अभी बनी हुई थी, जो काफी नुकसानदेह साबित हुई। 20 फरवरी को उन्होंने अपने-अपने जहाजों पर लौटने के आदेश का पालन किया, जहाँ सेना के गार्डों ने उन्हें घेर लिया। अगले दिन कैसल बैरकों में नाविकों द्वारा घेरा तोड़ने की कोशिश करने पर लड़ाई शुरू हो गयी जिसमें किसी भी पक्ष का पलड़ा भारी नहीं रहा और दोपहर बाद चार बजे युध्द विराम घोषित कर दिया गया। एडमिरल गाडफ्रे अब बमबारी करके नौसेना को नष्ट करने की धमकी दे रहा था। इसी समय लोगों की भीड़ गेटवे ऑफ इण्डिया पर नौसैनिकों के लिए खाना और अन्य मदद लेकर उमड़ पड़ी।

विद्रोह की खबर फैलते ही कराची, कलकत्ता, मद्रास और विशाखापत्तनम के भारतीय नौसैनिक तथा दिल्ली, ठाणे और पुणे स्थित कोस्ट गार्ड भी हड़ताल में शामिल हो गये। 22 फरवरी हड़ताल का चरम बिन्दु था, जब 78 जहाज, 20 तटीय प्रतिष्ठान और 20,000 नौसैनिक इसमें शामिल हो चुके थे। इसी दिन कम्युनिस्ट पार्टी के आह्वान पर बम्बई में आम हड़ताल हुई। नौसैनिकों के समर्थन में शान्तिपूर्ण प्रदर्शन कर रहे मजदूर प्रदर्शनकारियों पर सेना और पुलिस की टुकड़ियों ने बर्बर हमला किया, जिसमें करीब तीन सौ लोग मारे गये और 1700 घायल हुए। इसी दिन सुबह, कराची में भारी लड़ाई के बाद ही 'हिन्दुस्तान' जहाज से आत्मसमर्पण कराया जा सका। अंग्रेजों

के लिए हालात संगीन थे, क्योंकि ठीक इसी समय बम्बई के वायु सेना के पायलट और हवाई अड्डे के कर्मचारी भी नस्ली भेदभाव के विरुध्द हड़ताल पर थे तथा कलकत्ता और दूसरे कई हवाई अड्डों के पायलटों ने भी उनके समर्थन में हड़ताल कर दी थी। कैण्टोनमेण्ट क्षेत्रों से सेना के भीतर भी असन्तोष खदबदाने और विद्रोह की सम्भावना की ख़ुफिया रिपोर्टों ने अंग्रेजों को भयाक्रान्त कर दिया था। ऐसे नाजुक समय में उनके तारणहार की भूमिका में कांग्रेस और लीग के नेता आगे आये, क्योंकि सेना के सशस्त्र विद्रोह, मजदूरों द्वारा उसके समर्थन तथा कम्युनिस्टों की सक्रिय भूमिका से भारतीय पूँजीपति वर्ग और राष्ट्रीय आन्दोलन का बुर्जुआ नेतृत्व स्वयं आतंकित हो गया था। जिन्ना की सहायता से पटेल ने काफी कोशिशों के बाद 23 फरवरी को नौसैनिकों को समर्पण के लिए तैयार कर लिया। उन्हें आश्वासन दिया गया कि कांग्रेस और लीग उन्हें अन्याय व प्रतिशोध का शिकार नहीं होने देंगे। बाद में सेना के अनुशासन की दुहाई देते हुए पटेल ने अपना वायदा तोड़ दिया और नौसैनिकों के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात किया। मार्च ’46 में आन्ध्र के एक कांग्रेसी नेता को लिखे पत्र में सेना के अनुशासन पर बल देने का कारण पटेल ने यह बताया था कि ‘स्वतन्त्र भारत में भी हमें सेना की आवश्यकता होगी।’ उल्लेखनीय है कि 22 फरवरी को कम्युनिस्ट पार्टी ने जब हड़ताल का आह्वान किया था तो कांग्रेसी समाजवादी अच्युत पटवर्धन और अरुणा आसफ अली ने तो उसका समर्थन किया था, लेकिन पटेल ने लोगों से सामान्य ढंग से काम करने की अपील की थी। कांग्रेस और लीग के प्रान्तीय नेता एस.के. पाटिल और चुन्दरीगर ने तो कानून-व्यवस्था बनाये रखने के लिए स्वयंसेवकों को लगाने तक का प्रस्ताव दिया था। नेहरू ने नौसैनिकों के विद्रोह का यह कहकर विरोध किया कि ‘हिंसा के उच्छृंखल उद्रेक को रोकने की आवश्यकता है।’ गाँधी ने 22 फरवरी को कहा कि ‘हिंसात्मक कार्रवाई के लिए हिन्दुओं-मुसलमानों का एकसाथ आना एक अपवित्र बात है।’ नौसैनिकों की निन्दा करते हुए उन्होंने कहा कि यदि उन्हें कोई शिकायत है तो वे चुपचाप अपनी नौकरी छोड़ दें। अरुणा आसफ अली ने इसका दोटूक जवाब देते हुए कहा कि नौसैनिकों से नौकरी छोड़ने की बात कहना उन कांग्रेसियों के मुँह से शोभा नहीं देता जो ख़ुद विधायिकाओं में जा रहे हैं।

नौसेना विद्रोह ने कांग्रेस और लीग के वर्ग चरित्र को एकदम उजागर कर दिया। नौसेना विद्रोह और उसके समर्थन में उठ खड़ी हुई जनता की भर्त्सना करने में लीग और कांग्रेस के नेता बढ़-चढ़कर लगे रहे, लेकिन सत्ता की बर्बर दमनात्मक कार्रवाई के खिलाफ उन्होंने चूँ तक नहीं की। जाहिर है कि भारतीय पूँजीपतियों के राजनीतिक प्रतिनिधि साम्राज्यवाद से राजनीतिक आजादी केवल देशी पूँजीवादी हितों और लूट-खसोट के निर्बन्ध विस्तार के लिए चाहते थे। जनता के विद्रोह की स्थिति में वे साम्राज्यवाद के साथ खड़े होने को तैयार थे और स्वातन्त्रयोत्तर भारत में साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए वे तैयार थे। जनान्दोलनों की जरूरत उन्हें बस साम्राज्यवाद पर दबाव बनाने के लिए और समझौते की टेबल पर बेहतर शर्तें हासिल करने के लिए थी। बावजूद इसके, उपनिवेशवाद के पीछे हटने के बाद लम्बे समय से संघर्षरत जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए उन्हें जनता को सीमित जनवादी अधिकार देने ही थे (यह उनकी विवशता थी) तथा पूँजीवादी लूट का दायरा बढ़ाने के लिए गाँवों में, धीमी गति से, गैरक्रान्तिकारी रास्ते से, सामन्ती वर्गों को नये पूँजीवादी शोषक के रूप में बदलने का अवसर देते हुए पूँजीवाद का विकास करना ही था। भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र के इसी विशिष्ट चरित्र को हम 1946-47 के दौरान संविधान सभा के चुनाव के पहले से लेकर बाद तक की अवधि में निर्मित होते हुए देखते हैं।

प्रसंगवश, यहॉ पर एक बार फिर हमें कम्युनिस्ट पार्टी की जो ऐतिहासिक चूक देखने को मिलती है, उस पर भी संक्षिप्त चर्चा जरूरी है। नौसेना-विद्रोह की ख़बर मिलते ही, पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व ने पहलकदमी लेकर उसे राजनीतिक नेतृत्व देने की कोशिश नहीं की, जबकि लीग और कांग्रेस के रुख को देखते हुए परिस्थितियाँ अनुकूल थीं। केवल मुम्बई में आम हड़ताल से आगे बढ़कर कम्युनिस्ट पार्टी यदि पूरे देश में आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान करती तो स्थितियाँ आम बगावत तक भी जा सकती थीं। यदि यह आम बगावत सफल नहीं होती, तो भी पार्टी पीछे हटकर ग्रामीण क्षेत्रों में लोकयुध्द की नीति अपनाते हुए किसान संघर्ष को आगे बढ़ाते हुए देशव्यापी विद्रोह के अगले चक्र का इन्तजार कर सकती थी। नौसेना (और सेना-वायुसेना में भी सम्भावित) विद्रोह से उसे स्वयं जनता को सशस्त्र करने के अनुकूल अवसर मिल सकते थे। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व कम्युनिस्टों के हाथ में आ जाना लगभग तय था। साथ ही, साम्प्रदायिक विभाजन की प्रक्रिया भी रुक जाती, जैसाकि अरुणा आसफ अली ने नौसेना विद्रोह के दिनों में कहा था, ”हिन्दुओं और मुसलमानों को संवैधानिक मोर्चे की तुलना में सड़क की मोर्चेबन्दियों पर एक करना कहीं अधिक सरल है।” लेकिन हम यहाँ जिस वैकल्पिक स्थिति की सम्भावना जता रहे हैं, वह बिना लम्बी तैयारी के, ऐन वक्त पर सम्भव नहीं थी। सच यह है कि कम्युनिस्ट पार्टी इसके लिए तैयार ही नहीं थी। विचारधारात्मक कमजोरी (विशेषकर, दक्षिणपन्थी विचलन के लम्बे दौर), ढुलमुलपन, भारतीय परिस्थितियों की मौलिक समझ के अभाव, लौह अनुशासन में ढले लेनिनवादी सांगठनिक ढाँचे के अभाव और पहले से तैयारी की कमी के कारण पार्टी आम राजनीतिक हड़ताल का आह्वान करने और सशस्त्र आम बगावत की दिशा में आगे बढ़ने जैसा कोई काम कर ही नहीं सकती थी। आजाद हिन्द फौज के मुकदमों के मसले पर कलकत्ता से शुरू होकर पूरे देश में फैलने वाले जनान्दोलन के दो चक्रों में भी पार्टी की यही कमजोरी देखने को मिली थी और उसने इससे कोई सबक नहीं लिया था। आगे हम देखेंगे कि अपनी इन्हीं मूलभूत चारित्रिक कमजोरियों के चलते कम्युनिस्ट पार्टी तेभागा, पुनप्रा-वायलार-तेलंगाना के किसान संघर्षों को भी दीर्घकालिक लोकयुध्द की राह पर आगे नहीं बढ़ा पायी। 1946 से लगभग 1950 तक जारी संक्रमण काल का वह कोई लाभ नहीं उठा सकी, क्योंकि वह वैचारिक कमजोरी की शिकार थी, जुझारू चरित्र और निर्णायक होने की क्षमता से रिक्त थी। इस थकी-हारी पार्टी ने 1951-52 में ही यदि संसदीय राजनीति का मार्ग निर्णायक तौर पर चुन लिया तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं थी।

1945-46 के शीत और शरद की घटनाओं ने (विशेषकर कलकत्ता की घटनाओं और नौसेना विद्रोह ने) ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के रुख को गम्भीरता से प्रभावित किया। 15 मार्च 1946 को भारत के सम्बन्ध में एटली ने हाउस ऑफ कॉमन्स में लेबर पार्टी की नीति की दूसरी घोषणा की जिसमें यह माना गया था कि भारतीय स्वतन्त्रता आन्दोलन देशव्यापी है जिसमें सेना भी शामिल है। घोषणा में भारत को यथाशीघ्र पूर्ण स्वाधीनता देने की बात दोहरायी गयी थी। मार्च के अन्त में मिशन भारत पहुँचा और जून तक वायसराय वेवेल के साथ मिलकर कांग्रेस और लीग के साथ बातचीत के लम्बे सिलसिले में लगा रहा। इधर अप्रैल 1946 में केन्द्रीय और प्रान्तीय विधायिकाओं के चुनाव होने थे, जो वैसे भी युध्द के बाद होने तय थे (इनकी घोषणा वेवेल ने 21 अगस्त 1945 को ही कर दी थी) और लेबर सरकार ने वायदा करके इनकी पुष्टि भी कर दी थी। फरवरी 1937 की ही भाँति इस बार के चुनाव भी 1935 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट’ के मुताबिक सीमित मताधिकार (11.5 प्रतिशत) के आधार पर ही होने थे। 1937 के चुनावों में हिस्सा लेते हुए भी कांग्रेस ने कम से कम सार्विक मताधिकार की अपनी माँग दोहरायी थी और 1935 के कानून को

‘गुलामी के चार्टर’ की संज्ञा दी थी। चुनाव में भाग लेना उनकी मजबूरी थी, क्योंकि जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता वह चुन नहीं सकते थे। 1946 में स्थिति यह थी कि जनसमुदाय स्वयं तेजी से जनविद्रोह की दिशा में आगे बढ़ रहा था। नवम्बर ’45 से फरवरी ’46 के बीच कांग्रेसी नेताओं ने जनसंघर्ष की बात को दृढ़तापूर्वक अस्वीकार करने के बाद अपनी पूरी ताकत चुनाव में झोंक दी थी। सार्विक वयस्क मताधिकार की जो माँग वह 1930 से उठाती रही थी, उसे चुपचाप छोड़ दिया गया। यह कांग्रेसी नेतृत्व के वर्ग चरित्र को उजागर करने वाली प्रातिनिधिक ऐतिहासिक घटना थी। यह इसलिए भी महत्वपूर्ण था क्योंकि कांग्रेस को पता था कि सीमित मताधिकार के आधार पर चुनी गयी इन्हीं प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा संविधान सभा के परोक्ष चुनाव पर ब्रिटिश सत्ता का जोर है, जबकि कांग्रेस की माँग सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के प्रत्यक्ष चुनाव की रही है। यही नहीं, 1937 की ही भाँति, ये चुनाव धार्मिक आधार पर पृथक निर्वाचक मण्डलों द्वारा होने थे। स्पष्ट था, कि जनसंघर्षों से भयाक्रान्त कांग्रेसी नेतृत्व हर हाल में समझौता वार्ताओं और ”संवैधानिक रास्ते” से ही सत्ता पाना चाहता था और इसके लिए चुनाव की इस व्यवस्था को स्वीकार कर उसने प्रकारान्तर से मुस्लिम लीग के दावे को मजबूत आधार प्रदान करने और साम्प्रदायिक आधार पर देश के बँटवारे की जमीन तैयार करने का काम किया। यानी कांग्रेस ब्रिटिश शर्तों को मानने और देश के बँटवारे तक को स्वीकार कर सकती थी, लेकिन साम्राज्यवाद विरोधी जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता उसे किसी भी सूरत में स्वीकार्य नहीं था।

कांग्रेस के मुख्य चुनाव-प्रचारक नेहरू थे, पर प्रत्याशियों के चयन पर मुख्यत: पटेल और उनके दक्षिणपन्थी धड़े का नियन्त्रण था। इस चुनाव में कांग्रेस ने सभी प्रान्तों में आम (गैर-मुस्लिम में पूर्ण) बहुमत हासिल किया। मुस्लिम निर्वाचक मण्डल में उसे केवल पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में ही बहुमत मिला। केन्द्रीय असेम्बली की 102 में से 57 सीटें उसे मिलीं। ग़ैर मुस्लिम मतों का 91.3 प्रतिशत उसे मिला। बंगाल, सिन्ध, पंजाब छोड़कर सभी प्रान्तीय असेम्बलियों में उसे पूर्ण बहुमत मिला।

लेकिन मुस्लिम सीटों पर लीग की विजय भी उतनी ही शानदार थी। केन्द्र में आरक्षित सभी तीस मुस्लिम सीटें उसने (86.6 प्रतिशत मतों के साथ) और प्रान्तों की 509 में से 442 मुस्लिम सीटें उसने जीत ली थीं। जाहिर है कि 1937 के एकदम उलट, लीग ने इस बार स्पष्टत: अपने को मुसलमानों की प्रमुख पार्टी कहलाने का औचित्य हासिल कर लिया था और पाकिस्तान की उसकी माँग को भी इससे काफी मजबूती मिल गयी थी। यह कांग्रेस द्वारा सीमित मताधिकार आधारित चुनाव और समझौता-वार्ताओं के रास्ते आजादी की दिशा में आगे बढ़ने की तार्किक परिणति थी। यह याद रखना होगा कि मुख्यत: सम्पत्ति के आधार पर निर्धारित 11.5 प्रतिशत लोगों के निर्वाचक मण्डल ने ही (यानी धनी मुसलमानों के एक छोटे हिस्से ने ही) मुस्लिम लीग को ”मुसलमानों की प्रतिनिधि पार्टी” कहलाने और पाकिस्तान की माँग का अधिकार दिया था। बहुसंख्यक आम मुसलमान आबादी की आवाज को यहाँ स्थान ही नहीं मिला था। और 1945-46 के जनसंघर्षों और विगत तीन दशकों के किसानों-मजदूरों के सभी संघर्षों के अनुभवों ने सिध्द कर दिया था कि बहुसंख्यक आम मेहनतकश और निम्न मध्यवर्गीय मुस्लिम आबादी साम्प्रदायिक आधार पर बँटवारे की हिमायती कतई नहीं थी। उन्होंने सिध्द कर दिया था कि यदि राष्ट्रीय मुक्ति का रास्ता जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता हो तो भीषण साम्प्रदायिक दंगे और विभाजन भारतीय इतिहास के काले अधयाय के रूप में हमारे सामने नहीं होते।

चुनावों में हुए साम्प्रदायिक मतदान के बोलबाले ने लीग के दावों, भारत-विभाजन की उपनिवेशवादी साजिशों और आने वाले दिनों के अभूतपूर्व नरसंहार और विस्थापन के लिए जमीन तैयार करने में अहम भूमिका निभायी और यहाँ से एक ऐसी गति आगे बढ़ी, जिसे कांग्रेसी नेतृत्व चाहते हुए भी नियन्त्रित नहीं कर सकता था।

लीग को पर्याप्त प्रगति के बावजूद पंजाब में स्पष्ट बहुमत नहीं मिल सका था। असम और पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त (जिन्हें पाकिस्तान के लिए माँगा जा रहा था) में भी कांग्रेस ने अच्छा बहुमत हासिल कर लिया था। बंगाल और सिन्ध में लीग की सरकारें बनीं, लेकिन वे ब्रिटिश सत्ता और यूरोपीयों के समर्थन की मोहताज थीं।

कम्युनिस्ट पार्टी ने कांग्रेस द्वारा सार्विक मताधिकार की माँग त्यागने का मुद्दा बनाकर आन्दोलन की राह चुनने के बजाय (वस्तुत: वह इसके लिए तैयार नहीं थी और 1945-46 के शरद-शीत के जनसंघर्षों ने उसकी इस कमजोरी को साफ कर दिया था) सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा की माँग, राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार, आमूलगामी भूमि सुधार, उद्योगों के राष्ट्रीयकरण और बड़े कारखानों पर मजदूरों के नियन्त्रण को अपने चुनाव घोषणापत्र के प्रमुख मुद्दे बनाते हुए चुनावों में भागीदारी की। मुख्यत: सम्पत्ति के आधार पर 11.5 प्रतिशत आबादी का जो निर्वाचक-मण्डल बना था, उसे देखते हुए कम्युनिस्ट पार्टी बेहतर नतीजों की उम्मीद कर ही नहीं सकती थी। फिर भी उसने बंगाल की प्रान्तीय असेम्बली में 3 तथा बम्बई और मद्रास की प्रान्तीय असेम्बलियों में 2-2 सीटें हासिल की थीं। महत्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि अनेक प्रान्तों में कम्युनिस्ट कांग्रेस के मुख्य प्रतिद्वन्द्वी बनकर उभरे थे। लेकिन पार्टी की कमजोरी का सबसे जीता-जागता उदाहरण यह तथ्य है कि नवम्बर '45 से फरवरी '46 की घटनाओं के बाद ही, पार्टी महासचिव पी.सी. जोशी ने अपने चुनावी परचे में, "अपनी साझी लज्जा के विरुध्द और साझे गौरव के लिए, कांग्रेस-लीग-कम्युनिस्टों का संयुक्त मोर्चा" बनाने की भावनात्मक अपील की थी।

जून 1946 तक कैबिनेट मिशन और वायसराय के साथ कांग्रेस और लीग के नेताओं की वार्ताओं के लम्बे सिलसिले में दो ही अहम मुद्दे थे : एक केन्द्र में अन्तरिम सरकार का गठन और दूसरा, संविधान सभा का गठन तथा संविधान निर्माण की प्रक्रिया। इस बीच 17 अप्रैल को पी.सी. जोशी ने भी कैबिनेट मिशन से मुलाकात की और सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा के चुनाव की अपनी माँग पर बल दिया। इस समय तक कांग्रेस सार्विक मताधिकार के आधार पर संविधान सभा चुनने की अपनी दो दशक पुरानी माँग को चुपचाप निगलकर चुप्पी मार चुकी थी और लीग का तो पहले से ही इस पर जोर नहीं था। लीग के नेता यह जानते थे कि यह माँग यदि मान ली जायेगी तो लीग की स्थिति बेहद कमजोर हो जायेगी और पाकिस्तान बन पाना असम्भव हो जायेगा। कांग्रेस के नेता सत्ता पाने के लिए हड़बड़ी में थे और अब वे उस प्रकार के किसी 'पैसिव' जनान्दोलन के लिए भी कतई तैयार नहीं थे ('42 जैसे जनसंघर्ष की तो बात ही छोड़ दें) जैसा कांग्रेस अतीत में करती रही थी, क्योंकि उन्हें आन्दोलन की कमान हाथ से निकल जाने का भय था और सामाजिक व्यवस्था में किसी भी कीमत पर ऐसे किसी उथल-पुथल का जोखिम मोल लेने के लिए वे तैयार नहीं थे, जो देशी बुर्जुआ हितों के लिए खतरा पैदा कर सकता हो। अप्रैल के महीने में मलाबार, अण्डमान द्वीप समूह ढाका, बिहार और दिल्ली में पुलिस हड़तालें हुईं, गर्मी भर अखिल भारतीय रेल हड़ताल के अल्टीमेटम दिये जाते रहे, जुलाई में डाक कर्मचारियों की देशव्यापी हड़ताल हुई और 16 अगस्त के साम्प्रदायिक नरसंहार से 18 दिन पहले 29 जुलाई को

कम्युनिस्टों के नेतृत्व में कलकत्ता में डाककर्मियों के समर्थन में पूर्णतः शान्तिपूर्ण और जबर्दस्त एकताबद्ध बन्द आयोजित हुआ (हालाँकि कम्युनिस्ट पहले की ही भाँति इन आन्दोलनों को जोड़कर अखिल भारतीय जन-उभार की कड़ी और सीढ़ी नहीं बना पाये)। इस समय कांग्रेसी नेतृत्व प्रान्तों में सरकारें चलाने और कैबिनेट कमीशन से सौदेबाजी में व्यस्त तो था ही, इन जनान्दोलनों के प्रति हाईकमान का रुख भी एकदम साफ था। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने अगस्त प्रस्ताव में कामगारों की बढ़ती अनुशासनहीनता और कर्तव्यपालन में लापरवाही की भर्त्सना की थी। एक बातचीत के दौरान वेवेल ने तब राहत की साँस ली जब ”नेहरू समझ गये कि रेलकर्मियों की माँगें कितनी नाजायज हैं और उनके आगे झुकना कितना खतरनाक होगा।” अन्तरिम सरकार में मन्त्री बनने के बाद शरत बोस दिल्ली के बिजली कर्मचारियों की हड़ताल की सम्भावना दीखने पर सेना और अंग्रेज तकनीशियनों को बुलाने को तैयार थे और यह बात वेवेल के लिए राहत देने वाली थी। उस दौर के अंग्रेज राजनीतिज्ञों-नौकरशाहों के प्राइवेट पेपर्स से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं कि ब्रिटिश सत्ता जनक्रान्ति की आशंका से कितनी भयभीत थी और कांग्रेसी नेतृत्व पर वह कितना भरोसा करने लगी थी। इस तरह कैबिनेट मिशन योजना और अन्तरिम सरकार की कवायदों के दौरान साम्प्रदायिक दंगों की विनाशलीला, देश के विभाजन और विकृत-विकलांग पूँजीवादी लोकतान्त्रिक गणतन्त्र की स्थापना की जमीन तैयार होती रही।

जिन्ना पाकिस्तान के प्रस्ताव पर अब दृढ़ता से अड़े हुए थे। कांग्रेसी नेताओं के विरोध का स्वर नरम और रुख लचीला होता जा रहा था, क्योंकि सामाजिक उथल-पुथल से भयभीत वे जल्दी से जल्दी सत्ता-हस्तान्तरण चाहते थे। कैबिनेट मिशन ने कांग्रेस और लीग के अन्तरविरोधों का कुशलता से लाभ उठाया। 16 मई ’46 को उसने एक दीर्घावधि योजना प्रकाशित की जिसमें विभाजन के विचार को खुले तौर पर न रखते हुए भी, अविभाजित, भावी स्वाधीन भारत में हिन्दू बहुसंख्या द्वारा मुस्लिम अल्पसंख्या को आत्मसात कर लेने के खतरे की ओर इशारा करते हुए एक ऐसा संघात्मक, ढीला-ढाला, तीन स्तरों वाला ढाँचा प्रस्तावित किया गया था जिसमें बँटवारे के बीज मौजूद थे। कैबिनेट मिशन का प्रस्ताव इस प्रकार था :

(1) भारत का ‘डोमिनियन’ राज्य प्रान्तों और देशी रियासतों का एक ढीला-ढाला संघ होगा जिन्हें व्यापकतम स्वायत्तता हासिल होगी, केन्द्र का नियन्त्रण केवल विदेश विभाग, प्रतिरक्षा और संचार-साधनों पर होगा।

(2) ब्रिटिश भारत के प्रान्त तीन मण्डलों में बाँट दिये जायेंगे: हिन्दू-बहुल प्रान्तों के लिए मण्डल ‘अ’ होगा तथा उत्तर-पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी मुस्लिम-बहुल प्रान्तों (असम सहित) के लिए क्रमश: मण्डल ‘ब’ और मण्डल ‘स’ होंगे। इन मण्डलों को अपने स्वयं की मध्यवर्ती स्तर की विधायिकाएँ और कार्यकारिणियाँ बनाने का अधिकार होगा।

(3) एक संविधान सभा गठित की जायेगी, जिसमें प्रान्तीय विधानमण्डलों द्वारा निर्वाचित और देशी रियासतों के शासकों द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि होंगे। यह संविधान सभा पूरे भारत के लिए संविधान तैयार करने के बाद ऊपर उल्लिखित तीन मण्डलों के हिसाब से तीन विभागों में बँट जायेगी, जिनमें सम्बद्ध प्रान्तों के प्रतिनिधि तीन मण्डलों के लिए संविधान बनायेंगे।

(4) संविधान सभा का चुनाव प्रान्तीय असेम्बलियों द्वारा तीन निर्वाचक मण्डलों – हिन्दू, मुस्लिम और सिख – के आधार पर (दस लाख की आबादी पर एक प्रतिनिधि) होगा।

(5) प्रान्त, मण्डल और संघ – तीनों स्तरों पर संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पूरी हो जाने के बाद प्रान्तों को किसी एक मण्डल-विशेष से बाहर जाने का अधिकार होगा, लेकिन संघ से अलग होने का अधिकार नहीं होगा। उन्हें दस वर्षों के अन्तराल पर संविधान पर पुनर्विचार का भी अधिकार होगा।

(6) संविधान-निर्माण की प्रक्रिया पूरी होने और नये संविधान के लागू होने तक रोजमर्रा के प्रशासकीय कामों की जिम्मेदारी एक अन्तरिम सरकार की होगी।

मिशन के सदस्य पेथिक-लॉरेंस ने यह भी घोषित किया कि अन्तिम उद्देश्य भारत को स्वाधीनता प्रदान करना है, यह स्वाधीनता ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत होगी या उसके बिना होगी, यह भारतीय जन अपनी स्वतन्त्र इच्छा से तय करेंगे। पहली बार, खुले शब्दों में स्वाधीनता देने की मंशा की इस घोषणा के पीछे उस समय की विस्फोटक परिस्थितियाँ थीं।

अन्तरिम सरकार और संविधान सभा

कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव तत्कालीन परिस्थितियों में मुस्लिम लीग को अनुकूल लगे। 6 जून 1946 को उसने ब्रिटिश योजना का अनुमोदन करने के साथ ही अन्तरिम सरकार में भाग लेने की बात भी मान ली, जिसके गठन की घोषणा वायसराय वेवेल ने 16 मई 1946 को की थी। कांग्रेस ने प्रान्तों के अनिवार्य समूहीकरण (तीन मण्डलों में प्रान्तों के साम्प्रदायिक आधार पर वर्गीकरण) का विरोध करते हुए कैबिनेट मिशन और वायसराय के साथ वार्ता का एक और दौर चलाया। लेकिन ब्रिटिश सत्ताधारी अपने प्रस्तावों पर अडिग रहे। अन्ततः सत्ता के लिए आतुर कांग्रेसी नेतृत्व ने घुटने टेक दिये और 24 जून को कैबिनेट मिशन प्रस्तावों को संविधान तैयार करने के आधार के रूप में स्वीकृति दे दी।

कांग्रेस को मिशन की इस योजना पर भी आपत्ति थी कि समूहीकरण शुरू में तो अनिवार्य होगा, किन्तु बाद में संविधान बन जाने और उसके अनुसार नये चुनाव हो जाने के बाद प्रान्तों को उससे अलग हो जाने का अधिकार होगा। संविधान सभा के लिए रियासतों से प्रतिनिधियों के जनता के द्वारा चुनाव के बजाय राजाओं-नवाबों द्वारा मनोनयन पर भी कांग्रेस को एतराज था। अतः 10 जुलाई को कांग्रेस अध्यक्ष नेहरू ने घोषणा की कि कांग्रेस संविधान सभा में भाग लेने के लिए प्रतिबध्द है, लेकिन अन्तरिम सरकार में वह शामिल नहीं होगी। उन्होंने इस बात की भी सम्भावना प्रकट की कि पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त और असम द्वारा मण्डल 'ब' और 'स' में शामिल किये जाने पर आपत्ति के कारण समूहीकरण की योजना खटाई में भी पड़ सकती है। यह सम्भावना मुस्लिम लीग के लिए घोर आपत्तिजनक थी। कांग्रेस द्वारा अन्तरिम सरकार में शामिल नहीं होने की घोषणा के बाद वायसराय ने सिर्फ लीग द्वारा ऐसी सरकार बनाने की योजना को भी अस्वीकार कर दिया। अंग्रेजों को भय था कि अन्तरिम सरकार से बाहर रहने पर कांग्रेस फिर जनान्दोलन की राह पकड़ सकती है, जो बेकाबू होकर सत्ता-हस्तान्तरण की ब्रिटिश योजना को खटाई में डाल सकती है। जून, 1946 में ऐसे किसी सम्भावित आन्दोलन से निपटने के लिए वे सेना की पाँच डिवीजनें भारत लाने की तैयारी कर रहे थे। लेकिन कांग्रेस का घुटा-घुटाया बुर्जुआ नेतृत्व सत्ता-प्राप्ति की दहलीज पर आकर स्वयं ही ऐसा कोई जोखिम मोल नहीं लेना चाहता था। उतावली उसे थी, लेकिन समझौता-सौदेबाजी के जरिये ही उसे लक्ष्य-सिध्दि करनी थी। अंग्रेजों के आकलन से कहीं अधिक कांग्रेसी नेतृत्व जनान्दोलनों से डरता था।

अकेले अन्तरिम सरकार बनाने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने के बाद मुस्लिम लीग ने 29-30 जुलाई की कैबिनेट मिशन प्रस्तावों की मंजूरी वापस लेते हुए संविधान सभा में भी भाग लेने से इनकार कर दिया और 16 अगस्त को पाकिस्तान के निर्माण के लिए *'सीधी कार्रवाई'* के लिए 'मुस्लिम राष्ट्र' का आह्वान किया। मुस्लिम लीग द्वारा निर्णायक दबाव बनाने का मुख्य कारण यह था कि उसे अंग्रेजों और कांग्रेस के बीच अन्तरिम सरकार के गठन को लेकर पक रही खिचड़ी की गन्ध लग गयी थी। अंग्रेज ऐसा इसलिए चाहते थे कि उन्हें जनसंघर्षों के प्रचण्ड उभार का भूत सता रहा था। जुलाई में रेलवे की अखिल भारतीय हड़ताल की धमकी मिल चुकी थी और डाक कर्मचारियों की अखिल भारतीय हड़ताल हो भी चुकी थी। पूरे 1946 में 2000 से अधिक संगठित हड़तालें हुईं, जिनमें 20 लाख मजदूरों ने भाग लिया। गाँवों में भी किसान संघर्ष तेजी से आगे बढ़ रहे थे। 31 जुलाई 1946 को भारत सचिव को लिखे गये एक पत्र में वेवेल ने लिखा था कि यदि कांग्रेसी सरकार बना लें तो वे अराजक तत्त्वों और कम्युनिस्टों को दबाने के साथ ही अपने

भीतर के वामपन्थी तत्त्वों पर भी नकेल कसेंगे। उसका मानना था कि एक "उत्तरदायी भारतीय सरकार" मजदूरों से अधिक निर्णायक ढंग से निपटेगी। 5अगस्त तक पूँजीपतियों और कांग्रेस के भीतर के सामन्ती कुलीनों के दबाव में पटेल और उनका दक्षिणपन्थी गुट निश्चय कर चुका था कि हालात बेकाबू होने से बचाने के लिए कांग्रेस को सरकार में शामिल होना ही होगा। फिर गाँधी और नेहरू भी इसी नतीजे पर पहुँचे। 2 सितम्बर को नेहरू के नेतृत्व वाली कांग्रेसी अन्तरिम सरकार को शपथ दिलायी गयी। घुटने टेकते समय लाज बचाते हुए नेहरू ने बयान दिया कि कांग्रेस अभी भी अनिवार्य समूहीकरण के विरुध्द है, लेकिन इस मामले को वह भावी संघीय न्यायालय के हवाले करने को तैयार है।

जिन्ना द्वारा 16 अगस्त को घोषित *'सीधी कार्रवाई'* का स्वरूप जनान्दोलनात्मक नहीं बल्कि ख़ूनी दंगाई था। दंगों की शुरुआत 16-19 अगस्त के दौरान कलकत्ता से हुई, फिर बम्बई (1 सितम्बर) से होते हुए यह आग पूर्वी बंगाल के नोआखाली (10 अक्टूबर), बिहार (25 अक्टूबर) और संयुक्त प्रान्त के गढ़ मुक्तेश्वर (नवम्बर) तक फैल गयी। मार्च, 1947तक पूरा पंजाब इसकी आग में धू-धू करके जलने लगा। अगस्त तक केवल पंजाब में 5,000 लोग मारे जा चुके थे। लेकिन यह नरसंहार 15 अगस्त 1947 के बाद सीमा के दोनों ओर हुए हिंसा के महाताण्डव के आगे कुछ भी नहीं था जिसमें तकरीबन 1,80,000 लोग मारे गये तथा मार्च 1948 तक 60 लाख मुसलमान और 45 लाख हिन्दू एवं सिख शरणार्थी बन चुके थे।

अगस्त 1946 में दंगों का सिलसिला जब शुरू हुआ, तो नेहरू की अन्तरिम सरकार मानो पंगु होकर इसे देख रही थी। जून'46 तक सम्भावित जनान्दोलन से निपटने के लिए पाँच डिवीजन सेना भारत लाने की योजना बनाने वाली औपनिवेशिक सत्ता हाथ पर हाथ धरे बैठी रही। घटनाक्रम स्पष्ट इंगित करता है कि अंग्रेज इस आग को ज्यादा से ज्यादा भड़कते देखना चाहते थे। अक्टूबर में मुस्लिम लीग भी अन्तरिम सरकार में शामिल हो गयी, लेकिन उसने 'सीधी कार्रवाई' की योजना त्यागी नहीं। वह सरकार में भी शामिल रही और दंगे भी जारी रहे। उधर दक्षिणपन्थी हिन्दू प्रतिक्रिया को प्रोत्साहन व संरक्षण देने में कांग्रेस का दक्षिणपन्थी धड़ा भी पीछे नहीं था।

अन्तरिम सरकार में शामिल होने के बावजूद लीग ने संविधान सभा में बैठने से इनकार कर दिया, जिसकी बैठक 9सितम्बर से शुरू होने वाली थी। संविधान सभा के चुनाव जून में हो चुके थे, पर लीग व सिखों के बहिष्कार के कारण उसकी बैठक शुरू होने में देर हुई। लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार का भरपूर लाभ उठाते हुए ब्रिटिश सरकार ने भावी संविधान में अनुच्छेदों पर मतदान के क्रम में एक परिवर्तन का सुझाव दिया। वह यह था कि जिन प्रान्तों के अधिकांश प्रतिनिधि संविधान सभा में भाग न ले रहे हों, संविधान उन पर लागू नहीं होगा। यह मुस्लिम लीग के दावों को बल प्रदान करने वाली उपनिवेशवादी साजिश थी, जिसे स्वीकार कर कांग्रेस ने भी विभाजन की पूर्वपीठिका तैयार करने में योगदान किया। लीग की अनुपस्थिति में संविधान सभा की बैठक ने बस एक सामान्य लक्ष्य सम्बन्धी प्रस्ताव पारित किया, जिसमें स्वायत्त इकाइयों और अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा और सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक लोकतन्त्र से युक्त *'एक स्वतन्त्र सम्प्रभुता सम्पन्न गणतन्त्र'* का आदर्श प्रस्तुत किया गया था। इस आदर्श का अमली रूप आज हमारे सामने है। इस सामान्य लक्ष्य एवं आदर्श के अनुरूप जो संविधान तैयार किया गया, उसकी विवेचना आगे प्रस्तुत की जायेगी। लेकिन इस लोकतान्त्रिक गणराज्य के घोषित आदर्श की असलियत उजागर करने के लिए मात्र एक तथ्य का उल्लेख काफी है कि

भारतीय संघ में शामिल होने वाली देशी रियासतों में राजतन्त्र कायम रखने की छूट थी। संविधान सभा में सामान्य लक्ष्य-सम्बन्धी जो उपरोक्त प्रस्ताव पारित हुआ था, वह कांग्रेस के मेरठ अधिवेशन (नवम्बर 1946) में पारित राजनीतिक दिशा के अनुरूप था।

संविधान-विषयक कांग्रेसी विश्वासघात को उजागर करने के लिए एक तथ्य को याद दिलाना जरूरी है। मेरठ अधिवेशन में’सब्जेक्ट्स कमेटी’ की बैठक में बोलते हुए जवाहरलाल नेहरू ने वायदा किया था कि आजादी मिल जाने के बाद सार्विक वयस्क मताधिकार पर आधारित एक नयी संविधान सभा बुलायी जायेगी (एस. गोपाल सम्पादित *‘सेलेक्टेड वर्क्स ऑफ जवाहरलाल नेहरू’*, खण्ड1, पृ. 19)। लेकिन तमाम वायदों की तरह यह वायदा भी भुला दिया गया। इसके बाद कांग्रेस ने कभी भी सार्विक वयस्क मताधिकार आधारित संविधान सभा बुलाने की बात नहीं की। जनवरी, 1947 में ही कांग्रेस ने संविधान सभा में देशी रियासतों के प्रतिनिधित्व के बारे में राजाओं से वार्ता के लिए एक विशेष समिति बनायी। वार्ता के बाद यह समझौता हुआ कि रियासतों के आधे प्रतिनिधि राजाओं द्वारा मनोनीत होंगे और आधे निर्वाचित होंगे। इसकी पृष्ठभूमि में तेभागा, पुनप्रा-वायलार, तेलंगाना के अतिरिक्त कश्मीर, राजपूताना और मध्य भारत की कई रियासतों में जारी सामन्तवाद-विरोधी जनसंघर्ष थे, जिनके चलते सामन्ती शासक इस समझौते के लिए बाध्य हुए थे।

लीग और कांग्रेस की मिली-जुली अन्तरिम सरकार के अनुभवों से साफ होता जा रहा था कि सत्ता-लिप्सा और सौदेबाजी की राजनीति का रास्ता देश के विभाजन की ओर तेजी से बढ़ रहा था। वायसराय से मिलने से पहले की जाने वाली नेहरू की अनौपचारिक कैबिनेट बैठकों का लीग बहिष्कार करती थी। लीगी वित्तमन्त्री लियाकत अली ख़ान ने फरवरी 1947 में प्रस्तुत बजट में बड़े उद्योगपतियों पर भारी टैक्स लगाकर कांग्रेस पर भारी चोट की थी। ये बड़े उद्योगपति कांग्रेस के मुख्य समर्थक थे और उनके हितों पर चोट वह कतई बर्दाश्त नहीं कर सकती थी। इसके बजाय वह देश के विभाजन को चुनना बेहतर समझती, इसे लीग भी समझती थी और अंग्रेज भी। नोआखाली, कलकत्ता, बिहार और पंजाब के दंगों के बाद बहुतेरे कांग्रेसियों के धर्मनिरपेक्ष आदर्श काफूर होने लगे थे और दक्षिणपन्थी कांग्रेसी धड़े का सांगठनिक आधार बहुत मजबूत हो गया था। नेहरू को किसी भी हालत में सत्तासीन होने की जल्दी थी। मजदूरों-किसानों के जुझारू वर्ग-संघर्षों और कम्युनिज़्म की लहर से वे भी किसी अन्य बुर्जुआ नेता से कम आतंकित नहीं थे। अपने धर्मनिरपेक्ष आदर्शों को लेकर वे इस हद तक जाने को तैयार नहीं थे कि साम्राज्यवाद-विरोधी जुझारू जनसंघर्ष का रास्ता चुन लेते। गाँधी इस दौर में एक ईमानदार बुर्जुआ मानवतावादी की तरह दंगों की लहर और विभाजन का विरोध कर रहे थे। पर उनकी स्थिति अब बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि, सिध्दान्तकार और रणनीति-निर्माता की नहीं रह गयी थी। उनके ‘हिन्द स्वराज’ व ‘ग्राम स्वराज’ के यूटोपिया की जरूरत भारतीय बुर्जुआ वर्ग को तभी तक थी, जब तक अंग्रेजों पर दबाव बनाने के लिए व्यापक किसान जनता व शहरी मध्यवर्ग के आन्दोलनों की जरूरत थी। अब बुर्जुआ वर्ग को गाँधी की नहीं, बल्कि नेहरू और पटेल की जरूरत थी। नतीजतन, गाँधी, एक जीवित मूर्ति बनाकर किनारे लगा दिये गये थे। साम्प्रदायिक दंगों और मिली-जुली सरकार की अव्यावहारिकता के चलते न केवल बहुसंख्यक कांग्रेसी अब विभाजन को एकमात्र विकल्प मानने लगे थे, बल्कि पंजाब और बंगाल के हिन्दू और सिख सम्प्रदायवादी भी अब पुरजोर तरीके से विभाजन का समर्थन करने लगे थे।”सौदेबाजी, समझौतों और अन्तरिम सरकारें चलाने की बुर्जुआ राजनीति की यह तार्किक परिणति थी कि देश-विभाजन

की उपनिवेशवादी साजिशें लगातार कामयाबी की ओर अग्रसर थीं। पहले भी यह चर्चा की जा चुकी है कि केवल साम्राज्यवाद-विरोधी सामन्तवाद-विरोधी जुझारू जनसंघर्ष ही साम्प्रदायिकता की राजनीति को निर्मूल कर सकते थे, पर कांग्रेस का बुर्जुआ नेतृत्व इस रास्ते को चुनने के लिए कतई तैयार नहीं था। इस दौर के बारे में इतिहासकार सुमित सरकार ने लिखा है :*"...इतना तो कहा जा सकता है कि एकमात्र विकल्प साम्राज्यवाद एवं इसके भारतीय मित्रों के विरुध्द संयुक्त और जुझारू जनसंघर्ष का ही मार्ग था, यह ऐसी बात थी जिससे, जैसाकि हमने बार-बार देखा, अंग्रेज सचमुच डरते थे। दंगों द्वारा स्पष्ट रूप से बाधित होने के बावजूद यह सम्भावना 1946-47 की शीत ऋतु तक भी पूर्णतः समाप्त नहीं हुई थी। अगस्त के दंगों के पाँच महीनों बाद, 21 जनवरी 1947 को कलकत्ता के विद्यार्थी फिर से सड़कों पर निकल आये थे और 'वियतनाम से दूर रहो' वाले प्रदर्शन में फ्रांसीसी विमानों द्वारा दमदम हवाई अड्डे का उपयोग किये जाने का विरोध कर रहे थे। इसी दिन कम्युनिस्ट नेतृत्व में हुई अत्यन्त संगठित, और अन्त में विजयी, 85 दिन की ट्राम हड़ताल में लगता था कि समस्त साम्प्रदायिक भेदभाव भुला दिये गये हैं। इसके शीघ्र बाद ही बन्दरगाह के कर्मचारियों और हावड़ा के इंजीनियरिंग कामगारों ने भी हड़तालें कीं। वस्तुतः जनवरी और फरवरी में तो हड़तालों की नयी लहर-सी आ गयी थी। कानपुर की कपड़ा मिलों में1,00,000 लोग हड़ताल पर थे, कोयला रोक देने की धमकी दी गयी थी, और कोयम्बटूर, कराची और अन्य स्थानों पर भी"मुख्यतः कम्युनिस्ट आन्दोलन" के कारण हड़तालें हुईं (वेवेल द्वारा श्रम मन्त्री जगजीवन राम का हवाला, 14 जनवरी 1947, वायसरायेज जर्नल, पृ. 410)। 18 जनवरी को बिड़ला ने गाँधीजी के सचिव प्यारेलाल से शिकायत की – "हर जगह हड़तालें हो रही हैं... हर कोई अधिक पारिश्रमिक और कम काम करना चाहता है" (जी.डी. बिड़ला, बापू, खण्ड1, पृ. 434)। तथापि ये हड़तालें शुध्द रूप से आर्थिक माँगों पर आधारित थीं, कमी थी तो पर्याप्त प्रभावी एवं दृढ़ संकल्प वाले राजनीतिक नेतृत्व की।" (आधुनिक भारत, पृ. 460)।*

जाहिर है कि जनसंघर्षों की कड़ियाँ पिरोकर एक देशव्यापी साम्राज्यवाद-विरोधी जनउभार की स्थितियाँ निर्मित करने की जिम्मेदारी कांग्रेस का बुर्जुआ नेतृत्व नहीं निभा सकता था। उसका समझौतापरस्त चरित्र अब तक साफ होकर सामने आ चुका था। त्रासद विडम्बना यह थी कि शुरू से ही विचारधारात्मक कमजोरियों से ग्रस्त और ग़ैर-बोल्शेविक ढाँचे एवं कार्यप्रणाली वाली कम्युनिस्ट पार्टी भी इस दिशा में आगे बढ़कर पहल ले पाने की स्थिति में नहीं थी। पी.सी. जोशी की दक्षिणपन्थी भटकाव की लाइन ने लगभग एक दशक के दौरान पार्टी की रही-सही निर्णायकता और जुझारूपन को काफी हद तक क्षरित-विघटित कर दिया था।

बात तब और स्पष्ट हो जाती है, जब हम 1946-48 के किसान संघर्षों के देशव्यापी परिदृश्य पर नजर डालते हैं। तब ऐसा प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक संक्रमण के उस दौर में किसान जनसमुदाय भूमि-क्रान्ति को आगे गति देते हुए उपनिवेशवाद की रीढ़ तोड़ देने के लिए तैयार था और देश के कई इलाकों में लोकयुध्द की शुरुआत हो सकती थी। ग्रासरूट स्तर पर कम्युनिस्ट संगठनकर्ता ही किसान संघर्षों को नेतृत्व दे रहे थे, पर शीर्ष नेतृत्व के पास उन्हें जोड़कर देश-स्तर पर किसान छापामार संघर्षों और साम्राज्यवाद-विरोधी देशव्यापी जन-विद्रोह की कोई योजना ही नहीं थी। यूँ कहें कि संकल्पशक्ति ही नहीं थी। इस ऐतिहासिक अवसर को चूकने के बाद पार्टी के विपथगमन की प्रक्रिया और तेज हो गयी। रही-सही कोर-कसर 1948-50 के दौरान

नये महासचिव बी.टी. रणदिवे की ”वामपन्थी” भटकावग्रस्त लाइन ने पूरी कर दी। और फिर 1951 से तो पूरी पार्टी ही एक संसदीय वामपन्थी पार्टी बन गयी।

तेभागा, पुनप्रा-वायलार और तेलंगाना

जिस समय कांग्रेस के नेता सत्ता पाने की बेकली में लगातार सौदेबाजियों में मशगूल थे और विभाजन का साम्राज्यवादी कुचक्र तेजी से सफलता की दिशा में बढ़ रहा था, साम्प्रदायिक विनाशलीला उफान पर थी और भारतीय बुर्जुआ वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधि लाशों पर से गुजरकर सत्तासीन होने को बेताब थे, उस समय तेलंगाना, आन्ध्र, केरल, बंगाल, पंजाब,उत्तर प्रदेश और कई अन्य क्षेत्रों में कम्युनिस्ट नेतृत्व में भूमि-संघर्ष उफान पर थे। इनमें तेलंगाना, तेभागा और पुनप्रा-वायलार के किसान-संघर्ष इतिहास प्रसिध्द हैं।

बंगाल का तेभागा आन्दोलन असामी काश्तकारों और बटाईदारों (बरगादारों और अधियारों) का आन्दोलन था। उनकी माँग थी कि जोतदारों को दी जाने वाली लगान उपज का एक तिहाई होनी चाहिए। जंगल के आग की तरह यह आन्दोलन सितम्बर 1946 से शुरू होकर जल्दी ही बंगाल के 11 जिलों में फैल गया। कलकत्ता और नोआखाली के दंगों के बावजूद इसमें हिन्दू-मुसलमान बरगादारों-अधियारों ने एक साथ मिलकर हिस्सा लिया। पुलिस की ताजीरी टुकड़ियों और जमींदारों के गुण्डों के ख़िलाफ जल्दी ही किसानों ने छापामार संघर्ष की राह पकड़ ली। इसमें भाग लेने वाले किसानों की संख्या 50लाख तक जा पहुँची। आग पर पानी के छींटे मारने के लिए, बंगाल की मुस्लिम लीग सरकार ने बरगादार विधेयक प्रस्तुत किया (जो 1950 में जाकर ही कानून बन सका और वह भी प्रभावी ढंग से कभी लागू नहीं हुआ)। यह चाल भी जब काम न आयी तो फरवरी 1947 में उसने जबरदस्त दमन-चक्र चलाया। 49 किसान शहीद हुए, हजारों घायल हुए और गाँवों में बर्बर पुलिस अत्याचार हुए। ग़ौरतलब है कि कांग्रेसियों ने लीग सरकार के इस दमनचक्र पर चूँ तक की आवाज नहीं निकाली। किसान प्रतिरोध के लिए हथियारों की माँग कर रहे थे, पर कम्युनिस्ट पार्टी सशस्त्र संघर्ष के लिए तैयार ही नहीं थी। अन्ततः मार्च तक आते-आते उतार के दौर की शुरुआत हो चुकी थी। 27 मार्च को कलकत्ता में नये सिरे से दंगे शुरू होने और 28 मार्च को हिन्दू महासभा द्वारा बंगाल विभाजन के लिए आन्दोलन शुरू किये जाने के बाद तेभागा आन्दोलन का पटाक्षेप सुनिश्चित हो गया।

पुनप्रा और वायलार उत्तरी-पश्चिमी त्रावणकोर के शेरतलाई-अलेप्पी-अम्बालपुझा क्षेत्र के दो गाँव हैं जिन्हें शौर्यपूर्ण किसान संघर्षों के दौरान हुई शहादतों ने अमर बना दिया। इस क्षेत्र में 1946 में कम्युनिस्टों ने नारियल के रेशों का काम करने वाले कामगारों, मछुआरों और खेतिहर मजदूरों में सशक्त आधार बना लिया था। मजदूर-किसान संयुक्त मोर्चे का एक शानदार उदाहरण वहाँ तैयार हुआ था। मेहनतकशों ने एकता के बल पर कई उपलब्धियाँ हासिल कर ली थीं। इसी बीच त्रावणकोर रियासत का दीवान रामास्वामी अय्यर अंग्रेजों के चले जाने के बाद स्वयं अपने नियन्त्रण में स्वतन्त्र त्रावणकोर की महत्तवाकांक्षी योजना बना रहा था। स्थानीय कांग्रेसी नेतृत्व कम्युनिस्ट नेतृत्व वाले मजदूर-किसान आन्दोलन का धुर विरोधी था और दीवान के साथ समझौतावादी रुख़ अपना रहा था। लेकिन कम्युनिस्ट नेतृत्व ने दीवान के मंसूबों के विरुध्द प्रचण्ड जनान्दोलन छेड़ दिया। रियासत की सरकार ने बर्बर दमन-चक्र चलाया। आत्मरक्षा की दृष्टि से सताये गये कामगारों के शिविरों में कम्युनिस्ट स्वयंसेवकों ने थोड़ा सैन्य प्रशिक्षण भी देना शुरू किया। 22 अक्टूबर को अलेप्पी-शेरतलाई क्षेत्र में एक राजनीतिक आम हड़ताल की

शुरुआत हुई। दो दिन बाद पुनप्रा गॉव के पुलिस कैम्प पर किसान-मजदूर स्वयंसेवक दस्तों ने हमला करके हथियार छीन लिये। 25 अक्टूबर को मार्शल ला लागू होने के बाद स्वयंसेवकों के मुख्यालय पर सेना ने हमला बोला। पुनप्रा-वायलार के संक्षिप्त ख़ूनी विद्रोह में करीब 800 लोग मारे गये। लोग फिर भी लड़ने को तैयार थे, पर कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व के पास वस्तुत: ऐसी कोई योजना थी ही नहीं। बर्बर सैन्य दमन ने इस आन्दोलन को कुचल दिया, लेकिन इसी का नतीजा था कि कांग्रेस और दीवान के बीच कोई समझौता नहीं हो सका। दीवान रामास्वामी अय्यर भी समझ गया कि स्वतन्त्र त्रावणकोर का मंसूबा मेहनतकश जनता साकार नहीं होने देगी और वह भारत में त्रावणकोर के विलय के लिए तैयार हो गया।

तेलंगाना किसान संघर्ष का फलक तेभागा और पुनप्रा-वायलार से काफी बड़ा था। जुलाई 1946 से अक्टूबर 1951 के बीच तेलंगाना में आधुनिक भारतीय इतिहास का सबसे बड़ा किसान छापामार संघर्ष हुआ। अपने चरम पर, इस सशस्त्र किसान संघर्ष ने कुल 3,000 गाँवों के 16,000 वर्गमील क्षेत्र को मुक्त करा लिया था जिसकी आबादी करीब 30 लाख थी। लगभग डेढ़ वर्षों तक इस क्षेत्र की सारी शासन व्यवस्था किसानों की गाँव कमेटियों के हाथों में थी। हैदराबाद के आसफजाही निजामों के सामन्ती शासन के अन्तर्गत तेलंगाना के निम्न जातियों के व आदिवासी समुदायों के किसान 'डोरों' (जमींदारों),देशमुखों और जागीरदारों के बर्बर शोषण-उत्पीड़न के शिकार थे। कम्युनिस्टों ने युध्द के दौरान ही राशन की दुर्व्यवस्था,बेगार (वेट्टी), लगान आदि विविध स्थानीय मसलों को 'आन्ध्र महासभा' के बैनर तले उठाते हुए ग़रीबों में व्यापक आधार बना लिया था। विद्रोह की शुरुआत जुलाई 1946 में विशनूर के अत्याचारी देशमुख के ख़िलाफ हुई जो जल्दी ही पूरे तेलंगाना में फैल गयी। 1947 के प्रारम्भ से नियमित सशस्त्र छापामार दस्ते बनाये जाने लगे। अपने चरम काल में इसमें10,000 ग्राम रक्षा स्वयंसेवक और नियमित दस्तों के 2000 सदस्य थे। अगस्त 1947 से सितम्बर 1948 के बीच का समय संघर्ष के चरमोत्कर्ष का काल था। छापामारों के नियन्त्रण के क्षेत्रों में इस दौरान भूमि पुनर्वितरण के अतिरिक्त सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कोशिशें हुईं। लेकिन इस संघर्ष को आगे ले जाने और देशव्यापी राष्ट्रीय जनवादी मुक्ति संघर्ष की कड़ी बनाने के बारे में कम्युनिस्ट पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व की कोई सुचिन्तित-सुसंगत नीति थी ही नहीं। फरवरी-मार्च 1948 की दूसरी पार्टी कांग्रेस में दक्षिणपन्थी पी.सी. जोशी की जगह बी.टी. रणदिवे पार्टी महासचिव बने, जिन्होंने किसान छापामार युध्दों के क्षेत्रों के निर्माण एवं फैलाव तथा उन्हें शहरी जनउभारों से जोड़ने की सुसंगत नीति के बजाय, जनवादी और समाजवादी क्रान्ति की मंजिलों को मिला देने की थीसिस दी तथा देश-भर में सशस्त्र आम विद्रोह का आह्वान किया। इस विनाशकारी ”वाम”-चरमपन्थी लाइन ने पूरे कम्युनिस्ट आन्दोलन और तेलंगाना किसान संघर्ष को भारी नुकसान पहुँचाया। यह अतिवामपन्थी लाइन वस्तुत: दक्षिणपन्थी भटकाव के लम्बे दौर की एक अतिरेकी प्रतिक्रिया थी। मई 1948 में कम्युनिस्ट पार्टी की आन्ध्र इकाई ने रणदिवे की लाइन का विरोध करते हुए चीनी क्रान्ति की आम दिशा के अनुरूप गाँवों में छापामार संघर्ष के जरिये अलग-अलग क्षेत्रों में आधारक्षेत्रों के विकास की लाइन रखी। पर रणदिवे गुट के रहते इस लाइन पर अमल सम्भव नहीं था। तेलंगाना में आन्ध्र कमेटी की लाइन पर काम शुरू हुआ,किन्तु सितम्बर 1948 में भारतीय सेना ने हैदराबाद में प्रवेश किया। निजाम के आत्मसमर्पण के बाद, 50-60 हजार की संख्या और उन्नत हथियारों वाली भारतीय सेना ने कम्युनिस्ट छापामारों के विरुध्द युध्द छेड़ दिया। गाँवों में बर्बर अमानुषिक दमन का ताण्डव हुआ और अन्तत: छापामार दूरवर्ती जंगलों में बिखर गये। चूँकि ऐसे छापामार संघर्षों के कई इलाके विकसित करने की कोई केन्द्रीय पार्टी नीति नहीं थी और आन्ध्र कमेटी के अलग-

थलग पड़ जाने के कारण पीछे हटने, बिखर जाने और छापामार संघर्ष के नये दौर की तैयारी की कोई केन्द्रीय योजना नहीं थी, अत: तेलंगाना संघर्ष को अन्तत: त्रासद पराजय और ख़ून के दलदल में धकेल दिया गया था। अपनी ही जनता का बर्बर सैनिक दमन करके नेहरू की सरकार ने अपना वर्ग-चरित्र उघाड़कर रख दिया। पीछे हटने व बिखरने के बावजूद 1950-51 तक छापामार कार्रवाइयाँ जारी रहीं। छापामारों का अन्तिम मोर्चा गोदावरी का वन्य प्रदेश था। मई-जून 1950 में रणदिवे की लाइन की पराजय के बाद कुछ समय के लिए राजेश्वर राव पार्टी महासचिव बने और पार्टी ने आन्ध्र लाइन को आधिकारिक लाइन के तौर पर स्वीकार किया। लेकिन तब तक काफी देर हो चुकी थी। ग़लत लाइन के चलते संघर्ष के देशव्यापी विस्तार की सम्भावनाओं का गला घोंटा जा चुका था और नयी बुर्जुआ सत्ता को सुदृढ़ीकरण के लिए तीन वर्षों का समय मिल चुका था। संविधान पारित हो चुका था और पहले आम चुनाव की तैयारियाँ हो रही थीं। कम्युनिस्ट पार्टी संक्रमणकाल का लाभ उठाने का ऐतिहासिक अवसर खो चुकी थी और अब बुर्जुआ संसदीय दायरे में काम करने वाली संशोधनवादी पार्टी बन चुकी थी। विचलन विचारधारा से प्रस्थान बन चुका था। पर यह एक अलग कहानी है। हम अपनी मूल चर्चा पर वापस लौटते हैं।

1946 में कांग्रेस और लीग अंग्रेजों से सौदेबाजी करते हुए जब देश के विभाजन का ब्लू प्रिण्ट तैयार कर रहे थे और संविधान सभा में बैठे 11.5 प्रतिशत लोगों के प्रतिनिधि जब बुर्जुआ शासन-विधान की दिशा एवं स्वरूप तय करने की मशक्कतों में मशग़ूल थे, उस समय तेभागा, तेलंगाना, पुनप्रा- वायलार के अतिरिक्त देश के कई अन्य क्षेत्रों में किसानों के उग्र संघर्ष जारी थे।

1945 के बाद से ही शामराव और गोदावरी पारुलेकर जैसे कम्युनिस्ट कार्यकर्ता ठाणे जिले के वरली आदिवासियों के बीच काम कर रहे थे और कई सफल आन्दोलनों का उन्होंने नेतृत्व किया था। पंजाब में लायलपुर जिले में असामी काश्तकार किसान सभा के नेतृत्व में लगान घटाने और किसानों के ऋणपत्रों के स्थगन के लिए संघर्ष कर रहे थे। संयुक्त प्रान्त में प्रचण्ड संघर्ष बस्ती और बलिया जिलों में चला जहाँ असामी काश्तकार जमींदारों द्वारा भूमि-सुधार की पेशबन्दी के लिए शुरू की गयी व्यापक बेदख़लियों के ख़िलाफ मैदान में आ गये। जम्मू-कश्मीर में भी नेशनल कांप्रफेंस के नेतृत्व में किसानों द्वारा लगान और ऋण की अदायगी न करने का जनान्दोलन राजा की सत्ता को चुनौती देने वाला संघर्ष बन चुका था।

सार-संक्षेप यह कि जिस समय कांग्रेसी नेता कुलीन जनों और सामन्ती शासकों के प्रतिनिधियों के साथ भावी भारत के संविधान की तैयारी पर गहन वार्ताओं में निमग्न थे और अपने-अपने हितों को लेकर उपनिवेशवादियों और देशी बुर्जुआ वर्ग के बीच समझौतों-सौदेबाजियों का गहन दौर जारी था; जिन दिनों ‘बाँटो और राज करो’ की उपनिवेशवादी नीति की चरम परिणति के तौर पर साम्प्रदायिक दंगों का रक्त-स्नान जारी था और सत्ता के लिए आतुर कांग्रेस न केवल यह भारी कीमत चुकाने को तैयार थी बल्कि किसी हद तक वह इसके लिए जिम्मेदार भी थी; ठीक उन्हीं दिनों भारत के बहुसंख्यक मजदूर, किसान और आम मध्यवर्गीय नागरिक जुझारू संघर्षों की उत्ताल तरंगों के बीच थे। अगस्त, 1947 के पहले कांग्रेस और लीग के नेता नौसेना विद्रोह, मजदूरों के आन्दोलनों और किसानों के संघर्षों के दमन के प्रश्न पर उपनिवेशवादियों के साथ थे। अगस्त, 1947 के बाद कांग्रेसी सत्ता जन-संघर्षों के दमन में उपनिवेशवादियों से एक कदम भी पीछे नहीं थी। तेलंगाना किसान संघर्ष के बर्बर सैनिक दमन को कभी भुलाया नहीं जा सकता।

संविधान-निर्माण के इस कालखण्ड का राजनीतिक घटना-प्रवाह भी अपने-आप में इस बात का गवाह था कि भावी भारत का संविधान कितना जनोन्मुखी होगा और इसके आधार पर जो लोकतन्त्र कायम होगा वह वास्तव में कैसा लोकतन्त्र होगा!

माउण्टबेटन योजना, विभाजन और आज़ादी

नौसेना विद्रोह, 1947 के देशव्यापी मज़दूर उभार, तेलंगाना-तेभागा-पुन्नप्रा वायलार (विशेषकर तेलंगाना) किसान संघर्षों और साम्राज्यवाद-विरोधी देशव्यापी जनउभार की सम्भावनाओं ने किसी क्रान्तिकारी राजनीतिक विकल्प को भले ही जन्म नहीं दिया, लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों – दोनों को ही आतंकित ज़रूर कर दिया। मुख्यत: इसी आतंक के चलते भयंकर साम्प्रदायिक रक्तपात और बँटवारे के साथ सत्ता का "शान्तिपूर्ण" हस्तान्तरण सम्भव हो सका। उस दौर के शासकीय दस्तावेज़ों (जैसे नौकरशाह वी.पी. मेनन द्वारा वायसराय वेवेल को भेजी गयी रिपोर्टें) से पता चलता है कि कम्युनिस्ट ख़तरे से अंग्रेज़ और कांग्रेस दोनों ही आतंकित थे।

अन्तरराष्ट्रीय परिस्थितियाँ भी सत्ता हस्तान्तरण के लिए अंग्रेज़ों को बाध्य कर रही थीं। दूसरे महायुध्द में यूरोपीय अर्थव्यवस्थाएँ धवस्त हो चुकी थीं, जबकि अमेरिका और मज़बूत होकर उभरा था। अपनी विपुल वित्तीय पूँजी के बल पर वह अपना राजनीतिक-सामरिक वर्चस्व स्थापित कर चुका था और ब्रिटेन, फ्रांस, स्पेन, हॉलैण्ड और पुर्तगाल के उपनिवेशों को अपना बाज़ार बनाने के लिए आतुर था। प्रत्यक्ष औपनिवेशिक लूट के स्थान पर "बिना उपनिवेश के साम्राज्यवाद" का दौर अब कायम होने जा रहा था। आर्थिक कारणों के अतिरिक्त वर्ग-संघर्ष का वैश्विक परिदृश्य भी एक अहम कारण था। नात्सी सत्ता के विरुध्द लाल सेना के विजयी अभियान के बाद पूरा पूर्वी यूरोप समाजवादी शिविर में शामिल हो चुका था। चीन, कोरिया, वियतनाम और मंगोलिया में कम्युनिस्ट नेतृत्व में राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों की विजय आसन्न थी। चारों ओर से उठ रहा लाल बवण्डर राष्ट्रीय मुक्ति-युध्दों की आंधी के साथ मिलकर चक्रवाती तूफान का माहौल रच रहा था। भयाक्रान्त साम्राज्यवादी शिविर आत्म-रक्षा के लिए नयी महाशक्ति अमेरिका की चौधराहट स्वीकारने को विवश था। अमेरिका चाहता था कि चीन के पड़ोसी देश भारत में बुर्जुआ वर्ग को सत्ता यथाशीघ्र हस्तान्तरित हो जाये। लाल क्रान्ति का भय उसे भी था और भारत के बाज़ार में घुसपैठ और आधिपत्य की व्यग्रता भी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के चतुर राजनीतिक प्रतिनिधियों ने इस स्थिति का पूरा लाभ उठाया। जनता की एकजुटता और क्रान्तिकारी पहल के अपने हाथ से निकल जाने का भय उन्हें भी था, अत: जुझारू जनसंघर्ष के बजाय उन्होंने साम्प्रदायिक हिंसा और बँटवारे के साथ सत्ता-हस्तान्तरण का विकल्प चुना। यह भी उल्लेखनीय है कि इस समय तक भारतीय पूँजीपति वर्ग की आर्थिक शक्ति और आत्मविश्वास भी काफी बढ़ चुका था। वह यह भी जानता था कि ब्रिटिश उपनिवेशवादियों के समक्ष एकमात्र विकल्प यही है कि वे बुर्जुआ वर्ग की मुख्य प्रतिनिधि पार्टी कांग्रेस को सत्ता सौंपें। भारतीय पूँजीपति वर्ग सत्तासीन होने के बाद ब्रिटिश पूँजी के हितों की सुरक्षा और उसके साथ सहकार के लिए विवश था और वचनबध्द भी। साथ ही, वह अन्य साम्राज्यवादियों की पूँजी को भी आमन्त्रित कर सकता था। पर इतना तय था कि साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद वह कतई नहीं कर सकता था।

20 फरवरी 1947 को हाउस ऑफ कॉमन्स में ब्रिटिश लेबर पार्टी सरकार के प्रधानमन्त्री एटली ने घोषणा की कि जून 1948तक भारतीय राजनीतिज्ञ यदि किसी संविधान पर, या केन्द्रीय सरकार की स्थापना के प्रश्न पर सहमत नहीं होंगे तो सत्ता विभिन्न प्रान्तों की सरकारों को सौंपकर अंग्रेज़ भारत छोड़ देंगे। इस घोषणा में यह भी निहित था कि ऐसे सत्ता-हस्तान्तरण के बाद रजवाड़ों से भी ब्रिटिश सत्ता समाप्त हो जायेगी और वे स्वतन्त्र हो जायेंगे। इस तरह, यह भारत के विखण्डन

का भी संकेत था। यह न तो कांग्रेस चाहती थी, न ही मुस्लिम लीग। सत्ता-हस्तान्तरण की भावी अनुकूल योजना पर अमल के लिए वेवेल की जगह माउण्टबेटन को नया वायसराय नियुक्त किया गया। विभाजन सहित राजनीतिक स्वतन्त्रता की बात इस समय तक लगभग सभी को स्वीकार्य हो चुकी थी। माउण्टबेटन ने कैबिनेट मिशन की पुरानी योजना को नयी परिस्थितियों में अव्यावहारिक मानते हुए 'प्लान बाल्कन' गुप्त नामवाली नयी वैकल्पिक योजना बनायी। इसमें विभिन्न प्रान्तों या उनके संघों को सत्ता हस्तान्तरण का प्रावधान था, पंजाब और बंगाल की विधायिकाओं को अपने प्रान्तों के विभाजन का अधिकार दिया जाना था तथा ऐसी सभी इकाइयों और रियासतों-रजवाड़ों को यह अधिकार दिया जाना था कि वे चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हों या स्वतन्त्र रहें। माउण्टबेटन से इस योजना की जानकारी मिलने पर नेहरू ने इसका तीखा विरोध किया। फिर डोमीनियन स्टेटस के आधार पर भारत और पाकिस्तान की दो केन्द्रीय सरकारों को सत्ता हस्तान्तरित करने की नयी वैकल्पिक योजना माउण्टबेटन ने प्रस्तुत की। इसका आधार सरकारी अफसर वी.पी. मेनन द्वारा जनवरी 1947 में भारत सचिव को दिया गया सुझाव था। डोमीनियन स्टेटस के आधार पर सत्ता हस्तान्तरण कांग्रेस के 1929 के लाहौर अधिवेशन के प्रस्ताव से पीछे हटना था, पर पटेल इस सुझाव से सहमत थे। उनका मानना था कि इससे शीघ्र और शान्तिपूर्वक सत्ता-हस्तान्तरण सम्भव होगा तथा औपनिवेशिक नौकरशाही व सेना की निरन्तरता भी बनी रहेगी जो नये केन्द्रीकृत बुर्जुआ शासनतन्त्र के लिए ज़रूरी है। साथ ही ब्रिटेन से भारत के अच्छे सम्बन्ध भी बने रहेंगे जो स्वतन्त्र भारत के लिए उचित रहेगा। इसीलिए, वी.पी. मेनन के पुराने सुझाव पर पटेल की सहमति पर आधारित नयी माउण्टबेटन योजना जब पेश की गयी तो उस पर आम सहमति बनते देर न लगी।

माउण्टबेटन योजना इस प्रकार थी :

(1) उपमहाद्वीप में दो डोमीनियन – भारतीय संघ और पाकिस्तान – स्थापित किये जायेंगे; (2) पंजाब और बंगाल के विभाजन का प्रश्न इन प्रान्तों के हिन्दू या मुस्लिम बहुल प्रतिनिधियों के पृथक मतों द्वारा तय होगा; (3) उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त तथा असम के मुस्लिम बहुल सिलहट ज़िले में जनमत-संग्रह होगा; (4) सिन्ध का भविष्य प्रान्तीय विधानमण्डल में मतदान द्वारा तय होगा; (5) रजवाड़ों-रियासतों के भारत या पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय उनके शासकों द्वारा लिया जायेगा; (6) संविधान सभा दोनों देशों की अलग-अलग संविधान सभाओं में बँट जायेगी।

3 जून को माउण्टबेटन ने अपनी नयी योजना की घोषणा की और यह प्रस्ताव रखा कि जून 1948 की जगह 15 अगस्त1947 को ही सत्ता हस्तान्तरित की दी जाये। कांग्रेसी, लीगी और सिख नेताओं ने उसे तत्काल स्वीकार कर लिया। उसी महीने में हुए अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के अधिवेशन ने इस योजना को 61 के मुकाबले 157 मतों से स्वीकार कर लिया। इस योजना के आधार पर 'इण्डिया इण्डिपेण्डेण्ट एक्ट' बना, जिसकी ब्रिटिश संसद और सम्राट ने 18 जुलाई को पुष्टि कर दी। 15 अगस्त को इसे लागू कर दिया गया।

माउण्टबेटन योजना के अनुरूप बंगाल और पंजाब की विधायिकाएँ क्रमश: 20 और 23 जून को ही विभाजन का प्रस्ताव पारित कर चुकी थीं। इसके तुरन्त बाद सिन्ध और बलूचिस्तान ने पाकिस्तान में शामिल होने का निर्णय लिया। लीग द्वारा पाकिस्तान में मिलाने का प्रस्ताव विफल करने के लिए ख़ान अब्दुल ग़फ़्फ़ार ख़ान के नेतृत्व में उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त की कांग्रेस कमेटी ने स्वतन्त्र पख़्तूनिस्तान की माँग की। तत्कालीन विधायिका में कांग्रेसी बहुमत था और उसने भी

संविधान सभी में शामिल होने के पक्ष में प्रस्ताव पारित किया था। इसके बावजूद उस प्रान्त पर भारत-पाकिस्तान में से एक को चुनने के लिए जनमत संग्रह थोप दिया गया। यह जनमत संग्रह भी सार्विक मताधिकार के आधार पर नहीं होना था। उत्तर-पश्चिम सीमा प्रान्त की कांग्रेस ने इसका बहिष्कार किया और कुल 50.99 प्रतिशत मतों से (यानी वयस्क आबादी के 9.52 प्रतिशत मत द्वारा) इस प्रान्त को पाकिस्तान में मिला दिया गया। यह वहाँ की आबादी के साथ कांग्रेसी नेतृत्व का विश्वासघात ही था। जून '47 के बाद महज़ डेढ़ महीने के भीतर, भारतीय भू-राजनीतिक परिस्थितियों से पूरी तरह से अपरिचित अंग्रेज़ वकील रैडक्लिफ के नेतृत्व में गठित दो आयोगों ने पूरब और पश्चिम में भारत और पाकिस्तान के बीच सीमारेखा खींचने का काम किया। कई इलाकों को लेकर हिन्दू, सिख और मुसलमान आबादी में असन्तोष था, लेकिन लीग और कांग्रेस सत्ता के लिए बेचैन थे, इसलिए इस मुद्दे पर छिटपुट असन्तोष और विरोध से आगे बात नहीं बढ़ी।

15 अगस्त 1947 को मिली खण्डित और रक्तरंजित राजनीतिक स्वाधीनता ने देश की जनता में हर्ष-विषाद के मिले-जुले भाव उत्पन्न किये। लोग आधी रात को भारत की "नियति के साथ करार" पर नेहरू के भाषण को सुनकर भावुक भी हो रहे थे, दूसरी ओर देश की परिस्थितियों को लेकर विषाद और आशंका के भाव भी थे। जनता के सुदीर्घ संघर्षों ने औपनिवेशिक गुलामी के दिनों को पीछे धकेल दिया था और इतिहास ने आगे डग भरा था। लेकिन राष्ट्रीय आन्दोलन के बुर्जुआ नेतृत्व का विश्वासघात और समझौतापरस्ती भी एक वास्तविकता थी, जिसे 1947 में तो कम लोगों ने समझा था लेकिन दो दशक बीतते-बीतते भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र का चेहरा बहुसंख्यक आबादी के सामने नंगा हो चुका था।

गाँधी सक्रिय नेतृत्व की मुख्यधारा से किनारे कर दिये गये थे। उनके बुर्जुआ मानवतावादी यूटोपिया की अब भारतीय पूँजीपति वर्ग को कोई ज़रूरत नहीं थी। आज़ादी मिलते समय उनके पास "देने के लिए कोई सन्देश" नहीं था और समारोहों से अलग बैठे वे उपवास और प्रार्थना कर रहे थे। वे केवल विभाजन और साम्प्रदायिक दंगों से ही नहीं बल्कि स्वतन्त्र भारत के नये राजनीतिक तन्त्र से भी व्यथित थे। अपनी हत्या से पहले उन्होंने कांग्रेस में बढ़ते भ्रष्टाचार और लोकतान्त्रिक मूल्यों के पतन के प्रति क्षोभ व्यक्त करते हुए उसे भंग करके लोक सेवक संघ की स्थापना का सुझाव दिया था और यह भी कहा था कि भारत के गाँवों के लिए सामाजिक-आर्थिक आज़ादी पाना अभी बाकी है। वे ब्रिटिश नौकरशाही और शासन प्रणाली की निरन्तरता से भी असन्तुष्ट थे, लेकिन भारतीय बुर्जुआ वर्ग और नेहरू-पटेल यह भली-भाँति जानते थे कि केन्द्रीकृत मज़बूत प्रशासन ही उनकी ज़रूरत है।

सन् 1947 उपमहाद्वीप के इतिहास के सबसे बड़े साम्प्रदायिक ख़ून-ख़राबे और विस्थापन का गवाह बना। करीब दस लाख लोगों की जानें गयीं, एक करोड़ के आसपास घायल हुए, 75 हज़ार से भी अधिक स्त्रियाँ बलात्कार की शिकार हुईं, और एक करोड़ से भी अधिक लोग विस्थापित होकर शरणार्थी शिविरों में दिन बिताने को मजबूर हुए। बुर्जुआ वर्ग ने सत्ता हासिल करने का जो रास्ता चुना, उसकी कीमत उपमहाद्वीप की जनता ने इस रूप में चुकायी। उसी भयावह अतीत की निरन्तरता भारत-पाकिस्तान के भीतर तीन बड़े युध्दों और कई छोटी-मोटी लड़ाइयों के रूप में तथा भारत में साम्प्रदायिक दंगों,साम्प्रदायिकता की राजनीति और धार्मिक कट्टरपन्थ के रूप में हमें 1947 के बाद से लेकर अब तक देखने को मिलती रही है।

1947-50 का संक्रमणकाल: क्रमिक पूँजीवादी विकास की आम दिशा का निर्धारण और संविधान की मूल प्रकृति

1947-50 तक का काल एक ऐसा संक्रमण काल था, जब भारतीय पूँजीपति वर्ग ने आंशिक और सीमित अर्थों में विऔपनिवेशीकरण (डीकोलोनाइजेशन) के काम को अंजाम दिया, अर्द्धसामन्ती भूमि सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादी रूपान्तरण की रूपरेखा तैयार की तथा पूँजीवादी विकास की आम नीतियाँ तैयार कीं।

विऔपनिवेशीकरण की प्रक्रिया दो अर्थों में आंशिक, अधूरी और सीमित थी। पहला इन अर्थों में कि औपनिवेशिक राज्यसत्ता के ढाँचे में आमूलगामी परिवर्तन की जगह कई बुनियादी चीजों को बरकरार रखा गया। ब्रिटिश ढंग-ढर्रे के बुर्जुआ संसदीय जनवाद के ढाँचे को ऊपर से तो अपना लिया गया लेकिन उपनिवेशवादियों से विरासत में प्राप्त सुव्यवस्थित, सुसंगठित और अनुभव सम्पन्न नौकरशाही में कोई भी फेरबदल नहीं किया गया क्योंकि यह देशी बुर्जुआ शासकों के हितों की रक्षा के लिए भी पूरी तरह अनुकूल थी। सेना और पुलिस प्रशासन के ढाँचे में भी कोई बदलाव नहीं किया गया (हाँ, सत्ता प्राप्ति के कुछ दशकों बाद शासक वर्ग ने अपने अनुभवों और दुनिया के अन्य पूँजीवादी देशों से सीखते हुए नागरिक प्रशासन, पुलिस प्रशासन, और सेना को अधिक आधुनिक और कारगर बनाने का काम अवश्य किया)। कहने के लिए एक ”प्रभुसत्ता-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य” का दुनिया का सबसे ”वृहदाकार संविधान” अंगीकार किया गया, पर औपनिवेशिक कानून व्यवस्था (आईपीसी, सीआरपीसी, सम्पत्ति विषयक कानून, जेल मैनुअल, पुलिस मैनुअल आदि) ज्यों के त्यों रखे गये। इस मुद्दे पर आगे यथास्थान विस्तार से चर्चा की जायेगी। जहाँ तक संविधान की बात है, तो उसकी विस्तृत विवेचना तो आगे की ही जानी है। यहाँ सिर्फ इतना उल्लेख ही शायद काफी होगा कि औपनिवेशिक ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट, 1935’ की 395 धाराओं में से 250 धाराओं को इसमें या तो ज्यों का त्यों या थोड़े बहुत संशोधन के साथ शामिल कर लिया गया। तात्पर्य यह कि औपनिवेशिक अतीत से निर्णायक विच्छेद के बजाय उत्तर औपनिवेशिक भारत के राजनीतिक-प्रशासनिक ढाँचे में औपनिवेशिक अतीत की विरासत पर्याप्त मात्रा में मौजूद थी।

आंशिक अधूरे और सीमित विऔपनिवेशीकरण दूसरा पहलू यह था कि सत्तारूढ़ भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने साम्राज्यवाद, या विश्व पूँजीवादी तन्त्र से, निर्णायक विच्छेद नहीं किया। औपनिवेशिक दौर की तुलना में फर्क यह पड़ गया कि अब किसी एक साम्राज्यवादी शक्ति के एकाधिकार के बजाय सभी साम्राज्यवादी शक्तियों की लूट और प्रतिस्पर्धा के लिए भारतीय बाजार के द्वार खुल गये थे। साथ ही, राज्यसत्ता पर नियन्त्रण के चलते, भारतीय पूँजीपति वर्ग अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का लाभ उठा सकने में और पूँजी एवं तकनोलॉजी लेने तथा अधिशेष की लूट में अपनी हिस्सेदारी बढ़ाने को लेकर साम्राज्यवादियों के साथ मोल-तोल- सौदेबाजी कर पाने में अधिक सक्षम हो गया था।

वैसे देखा जाये तो साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद बीसवीं शताब्दी में उपनिवेशवाद-विरोधी संघर्षों का बुर्जुआ नेतृत्व दुनिया में कहीं भी नहीं कर पाया था। यह केवल वहीं सम्भव हो पाया, जहाँ राष्ट्रीय मुक्ति संघर्षों का नेतृत्व सर्वहारा वर्ग और उसकी हिरावल पार्टी के हाथों में था। जिन देशों के रेडिकल बुर्जुआ वर्ग ने हथियारबन्द जनसंघर्ष के द्वारा राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को अंजाम

देने की कोशिश की, वहॉ भी इसे अधूरा छोड़ दिया गया। तीसरी दुनिया के रैडिकल से रैडिकल बुर्जुआ वर्ग ने सत्तारूढ़ होने के बाद एक सीमा तक ही साम्राज्यवाद विरोधी कदम उठाये और कुछ वर्षों बाद साम्राज्यवाद के प्रति नरमी और समझौते का रुख़ अपना लिया। कारण स्पष्ट था। साम्राज्यवाद के युग में किसी पिछड़े देश के बुर्जुआ वर्ग के लिए यह सम्भव ही नहीं हो सकता था कि वह विश्व पूँजीवादी तन्त्र से अलग रहकर स्वतन्त्र पूँजीवादी विकास कर सके या विश्व बाजार में साम्राज्यवादी चौधरियों का प्रतिस्पर्द्धी बन सके। उनकी तार्किक परिणति यही हो सकती थी कि वे कालान्तर में साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझीदार के रूप में विश्व पूँजीवादी तन्त्र में व्यवस्थित हो जायें।

भारत के पूँजीपति वर्ग का चरित्र रैडिकल या क्रान्तिकारी कतई नहीं था। किसी जनक्रान्ति का नेतृत्व करने की बजाय इसने जनान्दोलनों का इस्तेमाल अंग्रेजों पर दबाव बनाने के लिए किया तथा ‘समझौता-दबाव-समझौता’ का लम्बा, विश्वासघातपूर्ण और कुटिल मार्ग अपनाकर (और विश्व परिस्थितियों का लाभ उठाकर) सत्ता हासिल की।

1947 के तुरन्त बाद की स्थिति यदि देखें तो अर्थव्यवस्था की मुख्य शाखाओं में विदेशी पूँजी की, और उसमें भी मुख्यत: ब्रिटिश पूँजी की प्रभावी स्थिति बनी हुई थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग के लिए आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्र पहलकदमी और कार्यवाही का दायरा अत्यन्त संकीर्ण था। अभी भी भारतीय अर्थव्यवस्था की औपनिवेशिक संरचना तथा विदेशी पूँजी (मुख्यत: ब्रिटिश पूँजी) का प्रभुत्व ही अन्तरराष्ट्रीय श्रम विभाजन की प्रणाली के भीतर भारत का स्थान निर्धारित करते थे। भारत में विदेशी निवेश के प्रथम सर्वेक्षण (जून, 1948) के अनुसार, प्रमुख उद्योगों पर विदेशी निवेश का प्रभुत्व कायम था और कुल विदेशी पूँजी निवेश का 72 प्रतिशत ब्रिटिश था। पहले की ही तरह, भारत अभी भी औद्योगिक पूँजीवादी देशों में, विशेषकर ब्रिटेन के लिए मुख्यत: कच्चे माल की पूर्ति करने वाला एक पुछल्ला देश बना हुआ था। लेकिन 1947-50 के दौरान ही इस स्थिति में क्रमिक बदलाव की शुरुआत हो चुकी थी। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय, भारत को ब्रिटेन से 1500 करोड़ रुपये (पौण्ड-पावने के रूप में, जो युद्धकाल के दौरान संचित हुई थी) पाने थे। जुलाई, 1948 में हुए आंग्ल भारतीय समझौते के तहत इसमें से 1000 करोड़ रुपये का उपयोग औद्योगिक क्षमता के आधुनिकीकरण और विस्तार में प्रयुत्त पूँजीगत उपस्कर प्राप्त करने के लिए किया गया। शेष 500 करोड़ रुपये सामरिक उपकरणों और पूर्व ब्रिटिश अधिकारियों की पेंशन के मद में डाल दिये गये। यह समझौता भारत के औद्योगिक विकास पर ब्रिटिश इजारेदारी के प्रभाव को बनाये रखने में सहायक तो सिद्ध हुआ, लेकिन यह न तो प्रतिस्पर्द्धी अमेरीकी, जापानी और पश्चिमी जर्मनी पूँजी की भारतीय बाजार में घुसपैठ को रोक सका, न ही भारतीय पूँजीपति वर्ग द्वारा अपनी स्थिति के सुदृढ़ीकरण को बाधित कर सका। पूँजी की कमी और तकनोलॉजी के पिछड़ेपन के शिकार भारतीय पूँजीपति वर्ग ने 1947-50 के बीच विभिन्न साम्राज्वादी देशों की कम्पनियों के साथ मोटर कार व ट्रैक्टर-असेम्बलिंग, साइकिल और उत्पादन के विभिन्न क्षेत्रों में 88 मिश्रित कम्पनियाँ स्थापित कीं। औद्योगीकरण में अमेरिकी वित्तीय और तकनीकी सहायता के लिए विशेष कोशिश की गयी। इस उद्देश्य से नेहरू ने अक्टूबर-नवम्बर 1949 में अमेरिका की यात्रा भी की। इससे भारत में अमेरिकी पूँजी-प्रवाह को बल मिला और आने वाले वर्षों में दोनों देशों के बीच व्यापक आर्थिक सहकार का मार्ग प्रशस्त हुआ। लेकिन आर्थिक रूप से कमजोर होते हुए भी विदेश नीति के मामले में भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों ने पर्याप्त राजनीतिक चातुर्य का प्रदर्शन किया। गुट-निरपेक्षता की नीति अपनाते हुए इसने अमेरिकी

राजनीतिक-सामरिक गुट में शामिल होने से इंकार कर दिया तथा सभी साम्राज्यवादी देशों से रिश्ते बनाकर उनकी आपसी होड़ का लाभ उठाने की पूरी कोशिश की। उल्लेखनीय है कि सितम्बर, 1946 में ही कांग्रेस की अन्तरिम सरकार इस विदेश नीति की घोषणा कर चुकी थी। 1948 में कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन ने उपनिवेशवाद विरोध, शान्ति, तटस्थता और गुटनिरपेक्षता की नीति का अनुमोदन किया। हालाँकि 1947-50 के बीच ही इस नीति का दुरंगापन जाहिर हो चुका था। जैसेकि, मुँहजुबानी हो ची मिन्ह सरकार का समर्थन करते हुए भी भारत सरकार ने व्यवहारत: ब्रिटेन की मलाया नीति का समर्थन किया। इण्डोनेशिया में जारी राष्ट्रीय मुक्ति संघर्ष के मामले में भी उसने ऐसा ही किया। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने निर्गुट देशों के मंच का इस्तेमाल वस्तुत: साम्राज्यवादी देशों से सौदेबाजी के लिए नवस्वाधीन देशों के समान चरित्र वाले शासक वर्गों को साथ लेने के लिए किया। यही नहीं, साम्राज्यवादी देशों पर दबाव बनाने के लिए उसने समाजवादी शिविर के साथ भी सम्बन्धा बनाये। आगे चलकर इसी नीति को विस्तार देते हुए सोवियत संघ में ख्रुश्चेव काल में समाजवाद के पतन के बाद, सोवियत साम्राज्यवादी शिविर से नजदीकी बढ़ाकर नरम शर्तों पर आर्थिक-तकनीकी-सामरिक मदद हासिल करने के साथ ही भारतीय शासक वर्ग ने अमेरिकी दबाव का सफलतापूर्वक मुकाबला भी किया। कुल मिलाकर, अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार होते हुए भी, किसी एक साम्राज्यवादी ताकत का दुमछल्ला होने से बचा रहा। उसने अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता का लाभ उठाकर अपने आर्थिक विकल्पों को लगातार बहुमुखी बनाये रखा तथा अपने आर्थिक आधारों का सुदृढ़ीकरण-विस्तारीकरण करता रहा।

सत्ता प्राप्ति के तत्काल बाद संरक्षणकारी सीमाशुल्क तथा निजी विदेशी पूँजी के क्रियाकलापों पर प्रतिबन्धा लगाकर नेहरू सरकार ने देशी पूँजी की महत्तवपूर्ण सहायता की। 1948 में औद्योगिक निर्माण के लिए वित्त उपलब्धा कराने के उद्देश्य से राजकीय औद्योगिक वित्त आयोग कायम किया गया। प्रारम्भिक पूँजी-संचय की समस्या को हल करने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग ने विदेशों से पूँजी आयात को प्रमुखता देने के बजाय देश के प्रत्यक्ष उत्पादकों को निचोड़ने पर बल दिया। आम जनता को लूटकर वह पैसा चूँकि सीधो पूँजीपति वर्ग को नहीं दिया जा सकता था, इसलिए सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और निजी क्षेत्र वाली मिश्रित अर्थव्यवस्था का रास्ता अपनाया गया। ज्यादातर आधारभूत और अवरचनात्मक उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित करने का निर्णय लिया गया। इनमें बहुत कम मुनाफा था, पर इनके बल पर निजी क्षेत्र भारी मुनाफा कमाकर अपनी पूँजी का विस्तार कर सकता था। उस समय भारतीय पूँजीपति वर्ग आधारभूत और अवरचनागत उद्योग स्थापित कर पाने की क्षमता नहीं रखता था, अत: यह काम जनता की गाढ़ी कमाई से किया गया (और आगे चलकर जब उसकी क्षमता हो गयी तो औने-पौने दामों पर सार्वजनिक उपक्रमों को उसे बेचा जाने लगा)। बुनियादी और ढाँचागत उद्योग को विदेशी पूँजी के प्रभुत्व से बचाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग अर्थव्यवस्था को साम्राज्यवाद की नवऔपनिवेशिक जकड़बन्दी से बचाये रखना चाहता था (जाहिर है साम्राज्यवादी लूट की छूट तो उसे देनी ही थी)। अप्रैल, 1948 में संविधान सभा में नेहरू ने मिश्रित अर्थव्यवस्था वाली औद्योगिक नीति की घोषणा की। जुलाई, 1948 में भारतीय रिजर्व बैंक का राष्ट्रीयकरण हुआ। 1949 में बैंकिंग कम्पनी अधिनियम के द्वारा निजी संयुक्त पूँजी बैंकों पर एक हद तक राजकीय नियन्त्रण स्थापित किया गया। स्वतन्त्रता के बाद के प्रारम्भिक वर्षों में, विभाजन से पैदा हुई अव्यवस्था के कारण खाद्य पदार्थों और आवश्यक वस्तुओं का भारी अभाव हो गया था। 1947-50 के बीच सरकार ने 1 करोड़ टन अनाज का आयात किया तथा 1948 से आवश्यक खाद्य पदार्थों की राशनिंग लागू की

गयी। इस दौर में चोर बाजारी, जमाख़ोरी, वायदा-कारोबार और सट्टेबाजी के द्वारा कुछ लोगों ने विराट सम्पदाएँ बना लीं और पूँजी के प्रारम्भिक संचय की प्रक्रिया तेज हो गयी। 1949 तक आर्थिक स्थिरता का माहौल बनने लगा था और सम्पत्ति- शाली वर्गों ने अपना संचित धन उद्योगों में स्थानान्तरित करना शुरू कर दिया।

भारतीय पूँजीपति वर्ग इस बात को भली-भाँति समझता था कि अपने औद्योगिक उत्पादन के लगातार विस्तार के लिए उसे कच्चे माल के अधिकाधिक ड्डोत चाहिए होंगे और अपने उत्पादों के लिए एक व्यापक, विकासमान, राष्ट्रीय बाजार की दरकार होगी। जिस देश की 85 फीसदी आबादी गाँवों में रहती हो तथा अर्ध्दसामन्ती भूदासता के बन्धानों में जकड़ी हो, वहाँ भूमि-सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण के बिना राष्ट्रीय बाजार का निर्माण सम्भव ही नहीं था। समस्या यह थी कि भारतीय पूँजीपति वर्ग भूमि क्रान्ति के काम को क्रान्तिकारी तरीके से अंजाम नहीं दे सकता था, क्योंकि उसे भय था कि तब जनवादी क्रान्ति के कामों को एक झटके से पूरा करते हुए जनता आगे बढ़ जायेगी और कमान उसके हाथ से छूट जायेगी। वह किसानों की पहलकदमी और ऊर्जा को निर्बन्धा नहीं करना चाहता था। वह यूरोप के क्लासिकी पूँजीपति वर्ग की तरह जनवादी क्रान्ति नहीं कर सकता था।

भारतीय पूँजीपति वर्ग ‘पुनर्जागरण-प्रबोधन क्रान्ति’ के जरिये सत्तासीन नहीं हुआ था। यह ‘कृषि-दस्तकारी-उद्योग’ की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुआ था। यह औपनिवेशिक सामाजिक आर्थिक-संरचना में पला-बढ़ा था और ‘समझौता-दबाव-समझौता’ के जरिये सत्ता तक पहुँचा था। राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान भी यह जनता के साथ धोखा-विश्वासघात करता रहा था। दूसरी बात, इतिहास का रंगमंच भी बदल चुका था। बीसवीं शताब्दी क्लासिकी पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों का समय नहीं था। यह साम्राज्यवाद और सर्वहारा क्रान्तियों का युग था, जब कोई रैडिकल बुर्जुआ वर्ग भी राष्ट्रीय जनवादी क्रान्ति को झटके से, अंजाम तक पहुँचाने का काम नहीं कर सकता था। समझौते से राजनीतिक आजादी हासिल करके, ऊपर से सत्तासीन हो जाने वाले भारतीय पूँजीपति वर्ग ने, नीचे से, जनपहलकदमी पर आधारित रास्ते से नहीं, बल्कि ऊपर से, धीरे-धीरे कानून बनाकर, भूमि-सम्बन्धों के क्रमिक पूँजीवादीकरण की राह पकड़ी। यह ”प्रशियाई मार्ग” ”स्तालिपिन टाइप भूमि-सुधारों” का ही एक भारतीय संस्करण था। परिवर्तन के इस रास्ते को अपनाकर भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सभी राजाओं-नवाबों-जागीदारों-जमींदारों को बाध्य किया और इसका पूरा मौका दिया कि वे पूँजीवादी उद्यमों-होटलों-व्यवसायों में पूँजी लगाकर शहरी-पूँजीपति बन जायें या पूँजीवादी भूस्वामी बन जायें (या एक साथ दोनों बन जायेंद्ध। पुराने शोषकों को आधुनिक बुर्जुआ शोषक बनने का पूरा अवसर दिये जाने की नीति अपनायी गयी। साथ ही, इस नीति के परिणामस्वरूप, कालान्तर में, ख़ुशहाल रैयतों-काश्तकारों के बीच से (मालिक किसान बनने के बाद) कुलकों-फॉर्मरों का एक नया वर्ग विकसित हुआ जो उजरती श्रम का शोषण करता था, मुनाफे के लिए पैदा करता था और गाँवों में पूँजीवादी व्यवस्था का प्रमुख सामाजिक अवलम्ब था। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने गाँवों में प्राक् पूँजीवादी संरचना, मध्ययुगीन भूदासता के अवशेषों और सामन्ती मूल्यों-संस्थाओं को कायम रखते हुए उन्हें क्रमश: पूँजी के अधीन करते जाने और मन्थर गति से क्षरित-विघटित होने के लिए छोड़ देने की नीति अपनायी। इस प्रक्रिया में भारतीय सामाजिक जीवन में जो पूँजीवाद विकसित हुआ, उसमें जनवादी मूल्य अति सीमित-संकुचित थे। यह पूँजीवाद जन्मना रुग्ण, कुत्सित, विकलांग, बौना पूँजीवाद था। आजादी के बाद, देशी राजों-रजवाड़ों की समस्या एक प्रमुख समस्या थी, जिनका देश के एक-तिहाई भूभाग पर शासन था।

भारतीय पूंजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने निर्णायक ढंग से इस समस्या को हल किया। 1947 से 1949 के बीच 601 में से 555 रियासतों का भारत में विलय हो गया और शेष पाकिस्तान का अंग बन गयीं। उल्लेखनीय है कि हैदराबाद, त्रवणकोर, जूनागढ़ आदि कई रियासतों के लिलय में जनसंघर्षों के दबाव की भी अहम भूमिका थी। दूसरे, ब्रिटिश साम्राज्यवादी भी यह भली-भांति समझते थे कि बदलती दुनिया में इन राज-रजवाड़ों का कोई स्वतन्त्र भविष्य नहीं है। अतः इन्हें संरक्षण देना छोड़कर उन्होंने भी भारतीय पूंजीपति वर्ग के साथ अपने रिश्तों को ही ज्यादा महत्व दिया। लेकिन इन पूर्व सामन्ती शासकों को भरपूर रियायतें दी गयीं। राजाओं-नवाबों ने पारिवारिक ट्रस्ट बनाकर अपने महलों और बेशुमार भूसम्पति को बचाये रखा। बाद में महलों में पांच सितारा होटल खुल गये और उद्योगों में सामन्ती शासकों ने शेयर खरीद लिये। यही नहीं, जनता की गाढ़ी कमाई से उन्हें पेंशन की मोटी रकमें दी गयीं (जो 1970 तक दी जाती रहीं)। कई भूतपूर्व राजा गवर्नर और राजदूत बना दिये गये। आगे चलकर, ज्यादातर राजघरानों के लोग अलग-अलग बुर्जुआ पार्टियों के नेता बन गये।

रियासतों के अतिरिक्त, जो ब्रिटिश भारत के जमींदार और जागीरदार थे, वे उपनिवेशवाद के मुख्य सामाजिक अवलम्ब और घोर प्रतिक्रियावादी थे। कांग्रेस ने अपने 1946 चुनाव घोषणापत्र में ही राज्य और जमीन जोतने वालों के बीच मौजूद "बिचौलियों" के उन्मूलन की घोषणा की थी। 1947 से 1954 के बीच सभी राज्यों क विधानमण्डलों द्वारा भूमि-सुधर विधेयक (जमींदारा उन्मूलन कानून) पास किये गये। पर इन कानूनों ने देश के उस 57 प्रतिशत भूभाग के भूस्वामित्व को प्रभावित नहीं किया, जहां रेयतवारी प्रणाली थी। जमींदारी प्रथावाले क्षेत्रों में भी जमींदारों की जमीन का एक अंश ही काश्तकारों को हस्तान्तरित हो सका। सीर व खुदकाश्त जमीनें जमींदारों के ही पास रहीं। उनके गृहफार्मों, मवेशियों व किसानों के शोषण से अर्जित अन्य सम्पत्तियों को भी उन्हीं के पास रहने दिया गया। यही नहीं, जमींदारों को कुल 700 करोड़ रुपये का मुआवजा दिया गया, जो काश्तकारों द्वारा राजय को दिये जाने वाले लगान से अदा किया जाता था। 1947 के बाद छह वर्षों तक सामन्ती भूस्वामित्व के रूपान्तरण की यह प्रक्रिया चलती रही। जोत के अधिकतम आकार के प्रश्न पर 1953 के बाद ही विचार शुरू हुआ। आगे चलकर हदबन्दी, चकबन्दी आदि भूमिसुधर के कई कदम उठाये गये, लेकिन तब भी ज्यादातर भूस्वामियों ने तरह-तरह का कानूनी फर्जीवाड़ा करके ज्यादातर जमीनें अपने पास बनाये रखीं। 60' के दशक के उत्तरार्ध से कृषि आधरित व सम्बद्ध सेक्टरों में बड़े पैमाने पर पूंजी-निवेश और नयी तकनोलॉजी-उन्नत बीज-रासायनिक उर्वरक आधरित खेती ने तेज गति पकड़ी। साथ ही, ध्रुवीकरण, किसान आबादी के विभेदीकरण और नीचे के किसानों के सर्वहाराकरण की प्रक्रिया भी तेज हो गयी। लेकिन यह आगे की कहानी है। इस प्रक्रिया की जमीन 1947-50 के संक्रमण काल के दौरान ही पूंजीवादी-विकास के नीति-निर्धारण और शुरुआती कार्रवाइयों के जरिये तैयार हुई थी। 1947 में परती जमीनों को कृषि-योग्य बनाने के लिए राजकीय ट्रैक्टर संगठन कायम किया गया। जूट और कपास की खेती के क्षेत्रों में 1947-50 के दौरान क्रमशः 70 और 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूर्व देशी रियासतों में कृषि क्षेत्र की पैमाइश और बन्दोबस्त के साथ ही रैयतवारी जैसी भूराजस्व प्रणाली लागू की गयी।

1947-50 के संक्रमण काल के दौरान, जब नया संविधान तैयार किया जा रहा था, भारतीय पूँजीपति वर्ग राज्यतन्त्र के केन्द्रीकृत ढाँचे के पुनर्गठन और सुदृढ़ीकरण में लगा हुआ था तथा पूँजीवादी विकास की आम नीतियाँ तय की जा रही थीं; उस समय एक अहम सवाल था कि

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (यह द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद, ब्रिटेन, उसके उपनिवेशों और पूर्वउपनिवेशों का समूह था) के साथ भारतीय डोमीनियन का रिश्ता क्या हो? ब्रिटिश मण्डी पर उस समय तक भारतीय उद्योगों की जो निर्भरता थी, उसके चलते भारतीय पूँजीपति वर्ग राष्ट्रमण्डल के भीतर रहना अपने लिए हितकारी मानता था। दूसरी ओर, उसके राजनीतिक प्रतिनिधि भारत को राष्ट्रमण्डल के भीतर ऐसी शर्तों पर रखने के किसी रास्ते की खोज में थे कि जो भारत की सम्प्रभुता के लिए हानिकर न हो। अक्टूबर, 1948 में लन्दन में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन में यह तय हुआ कि नये डोमीनियम – भारत, पाकिस्तान और श्रीलंका – ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने के साथ-साथ ब्रिटिश ताज से अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता बनाये रख सकते हैं। अप्रैल, 1949 के राष्ट्रमण्डल सम्मेलन में एक फार्मूला तैयार किया गया जिसके अनुसार, भारत ने सम्प्रभु गणतन्त्र बने रहने के साथ-साथ राष्ट्रमण्डल के प्रतीक के रूप में ब्रिटिश ताज को स्वीकार किया। ग़ौरतलब है कि भारतीय संविधान में राष्ट्रमण्डल के साथ भारत के सम्बन्धा का कोई उल्लेख नहीं है।

अब संक्रमण-काल विषयक इस चर्चा को समेटते हुए निचोड़ के तौर पर कुछ बातें कर ली जायें।

भारत के पूँजीपति वर्ग की राजनीतिक पार्टी कांग्रेस ने राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए 1947 में जब राजनीतिक सत्ता हासिल की तो उसने साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करते हुए उसने ब्रिटिश पूँजी के हितों को चोट नहीं पहुँचायी और अन्य साम्राज्यवादी देशों को भी लूट के अवसर प्रदान किये। बेशक ऐसा करते हुए उसने अपने हितों को प्राथमिकता दी, साम्राज्यवादियों के अन्तरविरोधों का लाभ उठाया, उनसे भरपूर सौदेबाजी की और समय-समय पर उनके दबाव व चाहतों के विपरीत भी आचरण किया, पर कुल मिलाकर, विश्व पूँजीवादी तन्त्र में वह साम्राज्यवादियों का कनिष्ठ साझीदार ही बना रहा। देश की जनता देशी पूँजी की लूट के साथ साम्राज्यवादी लूट का भी शिकार बनी रही। भारत किसी साम्राज्यवादी देश का नवउपनिवेश तो नहीं बना, लेकिन साम्राज्यवादी शोषण कायम रहा। इस तरह साम्राज्यवाद विरोध का राष्ट्रीय कार्यभार आधो-अधूरे तरीके से ही पूरा हुआ। दूसरी ओर, सामन्ती भूमि सम्बन्धों के पूँजीवादीकरण के जनवादी कार्यभार को भी भारतीय पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता ने क्रान्तिकारी ढंग से नहीं बल्कि ग़ैर-क्रान्तिकारी, क्रमिक सुधारवादी तरीके से और कई किस्तों में पूरा किया (लगभग आधी सदी तक सामन्ती अवशेषों की प्रबल मौजूदगी बनी रही और क्षीण रूप में अभी भी बनी हुई है)।

जिस पूँजीपति वर्ग ने न तो साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद का राष्ट्रीय कार्यभार पूरा किया हो, न ही भूमि सुधार के जनवादी कार्यभार को क्रान्तिकारी ढंग से पूरा किया हो, उस पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता देश की जनता को लाजिमी तौर पर अतिसीमित जनवादी अधिकार ही दे सकती थी। यूँ तो विकसित से विकसित पूँजीवादी देश में भी पूँजीवादी जनवाद निरपेक्ष और सम्पूर्ण नहीं होता, सारत: वह पूँजीपति वर्ग का अधिनायकत्व ही होता है। संकट और वर्ग संघर्ष के तूफान के दिनों में उन्नत पूँजीवादी जनवादी देशों का शासक वर्ग भी जनता के बर्बर-निरंकुश दमन के लिए तैयार रहता है। लेकिन सामान्य तौर पर ऐसे देशों की जनता को दैनन्दिन सामाजिक-राजनीतिक जीवन में जो जनवादी अधिकार हासिल होते हैं, भारत की जनता को उतने भी हासिल नहीं हैं। समाज के मुखर तबके (पढ़े-लिखे मध्यवर्ग) को कानूनी व संवैधानिक तौर पर हासिल जनवादी अधिकारों

का कुछ लाभ यदि मिल भी जाता है तो बहुसंख्यक मेहनतकश जनसमुदाय के लिए उसका कोई मतलब नहीं है। संविधान में मूलभूत अधिकारों की लफ्फाजी अधिक की गयी और उनके अमल की कोई गारण्टी नहीं दी गयी है। और संविधान प्रदत्त नागरिक एवं जनवादी अधिकारों को शासक वर्ग द्वारा संकट की घड़ी में हड़प लिये जाने के प्रावधान भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। 1975 में आपातकाल संविधान के भीतर मौजूद प्रावधान के तहत ही लगा था और 42वाँ संविधान संशोधन संविधान-सम्मत ढंग से ही लागू किया गया था। ग़ौरतलब यह भी है कि संविधान से जो सीमित जनवादी अधिकार रिस-छनकर नीचे आते हैं, इन्हें वह कानून व्यवस्था रोक लेती है, जिसका मूल स्वरूप (थोड़े-बहुत बदलावों के बावजूद) वही है, जो औपनिवेशिक काल में था। संवैधानिक उपचार (रेमेडी) आम जनता तक नहीं पहुँचते, उसका वास्ता कानूनी उपचार से ही पड़ता है। कानूनी तौर पर जनता को यदि कहीं कुछ हासिल भी होना रहता है तो उसे यह भ्रष्ट-निरंकुश नौकरशाही ढांचा रोक लेता है, जो काफी हद तक (जरूरी आधुनिकीकरण के बावजूद) औपनिवेशिक काल की ही विरासत है।

भारतीय पूँजीवादी समाज 'पुनर्जागरण-प्रबोधन क्रान्ति' की प्रक्रिया से विकसित नहीं हुआ है। यह औपनिवेशिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ है तथा साम्राज्यवाद के युग में पला-बढ़ा, विकसित हुआ है। इसलिए न तो हमारे सामाजिक ताने-बाने में जनवादी मूल्य मौजूद हैं, न ही हमारे पिछड़े समाज में जनवादी अधिकारों के प्रति पर्याप्त सजगता मौजूद है। तमाम मध्ययुगीन मूल्यों-मान्यताओं की मौजूदगी भी निरंकुश उपभोक्ता संस्कृति के साथ-साथ मौजूद है। इन कारणों से भी, संविधान की मोटी किताब में "पवित्र" जनवाद के बारे में जो भी ऊँची-ऊँची बातें की गयी हैं, उनका अमल में कोई मतलब नहीं रह जाता। शासन-विधान और राज्यतन्त्र के घटकों के बीच कार्य-विभाजन के मामले में तो संविधान का महत्तव है, लेकिन उसमें वर्णित जनता के जनवादी अधिकार की बातें इस वजह से भी बेमानी हो जाती हैं कि वे वास्तविक सामाजिक स्थिति को प्रतिबिम्बित नहीं करतीं। उसमें लम्बी-चौड़ी जुमलेबाजी तो दुनिया के बहुतेरे पूँजीवादी देशों के संविधानों की नकल कर ली गयी है, जबकि उसका मूल ढाँचा 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935' के आधार पर खड़ा किया गया है।

संविधान की यह स्थिति भारत के पूँजीपति वर्ग की स्थिति के सर्वथा अनुरूप है और उसी को प्रतिबिम्बित करती है। 1947-50 के संक्रमण काल के दौरान जब भारतीय पूँजीपति वर्ग पूँजीवादी विकास की आम दिशा और नीतियाँ तय कर रहा था, और अपनी सत्ता का सुदृढ़ीकरण कर रहा था तथा संविधान का निर्माण कर रहा था, उसी समय यह तय हो चुका था कि भारतीय लोकतन्त्र कैसा होगा और भारतीय संविधान किनकी सेवा करेगा!

हर तरह का पूँजीवादी जनवाद, अन्तर्वस्तु की दृष्टि से पूँजीवादी अधिनायकत्व होता है। कोई पूँजीवादी जनवाद अपनी अन्तर्वस्तु पर जनवाद का ज्यादा मुलम्मा लगाता है तो कोई कम। भारतीय संविधान पर जनवाद का मुलम्मा बहुत कम है। यह भारतीय पूँजीपति वर्ग की स्थिति और शक्ति की ही अभिव्यक्ति और प्रतिबिम्बन है।

भारतीय संविधान एक पूँजीवादी संविधान है जो व्यक्तिगत सम्पत्ति की वर्तमान व्यवस्था की इंच-इंच हिफाजत करने की कसमें खाता है, जमीन और पूँजी को उत्पादन और शोषण के साधन के रूप में स्वीकार करता है, शोषकों को शोषण की पूरी गारण्टी देता है और उनकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए प्रतिज्ञाबद्ध है, लेकिन दूसरी ओर मेहनतकशों को काम करने के हक की, रोटी

तक की गारण्टी नहीं देता। भारतीय पूँजीपति वर्ग के सिध्दान्तकारों ने पूँजीवादी शोषण को न्यायसंगत व स्वाभाविक ठहराने के लिए तथा भारतीय समाज की समूची सम्पदा पर पूँजीपति वर्ग का नियन्त्रण बनाये रखने के लिए दार्शनिक- राजनीतिक-विधिशास्त्रीय आधार के रूप में, पूँजीवादी राज और समाज की आचार-संहिता के रूप में इस संविधान की रचना की है। यह संविधान भारतीय पूँजीपति वर्ग की आर्थिक और राजनीतिक क्षमता की, उस समय की राष्ट्रीय-अन्तरराष्ट्रीय परिस्थिति की तथा साम्राज्यवाद के युग की स्पष्ट और मुखर अभिव्यक्ति है।

कैसे तैयार हुआ भारतीय संविधान?

इस निबन्ध में पहले इस तथ्य की विस्तार से चर्चा की जा चुकी है कि किस प्रकार कैबिनेट मिशन की योजना के अनुसार, संविधान सभा के सदस्य सार्विक मताधिकार के आधार के बजाय प्रान्तीय असेम्बलियों के उन सदस्यों द्वारा चुने गये थे जो स्वयं मात्र 11.5 प्रतिशत वयस्क नागरिकों द्वारा चुने गये थे। 1935 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट’ को कभी ”ग़ुलामी के चार्टर” का नाम देने वाली कांग्रेस जन अपेक्षाओं के साथ विश्वासघात करके उसी क़ानून के प्रावधानों को स्वीकारते हुए इस चुनाव में भागीदार बनी थी। इसका मूल कारण उग्र होते वर्ग संघर्ष और जनक्रान्ति के विस्फोट का भय था।

यह उल्लेख भी पहले किया जा चुका है कि मुस्लिम लीग के 73 सदस्यों ने संविधान सभा की कार्रवाई में कभी भी हिस्सा नहीं लिया। फिर कांग्रेस ने लीग के बिना ही संविधान का मसौदा तैयार करने का काम आगे बढ़ाने का निर्णय लिया। संविधान सभा का उद्घाटन सत्र 9 दिसम्बर से 23 दिसम्बर 1946 तक नयी दिल्ली के कांस्टीटयूशन हाल (वर्तमान संसद का सेण्ट्रल हाल) में चला जिसमें कुल 207 प्रतिनिधि मौजूद थे। संविधान की तैयारी में कुल ग्यारह महीने 17 दिन का समय लगा। संविधान सभा के कुल ग्यारह सत्र चले जिनमें 165 दिन का समय लगा। संविधान सभा के अध्यक्ष दक्षिणपन्थी कांग्रेसी डॉ. राजेन्द्र प्रसाद थे।

13 दिसम्बर 1946 को जवाहर लाल नेहरू ने संविधान सभा में ‘उद्देश्य विषयक प्रस्ताव’ प्रस्तुत किया, जिसे दूसरे सत्र (20-25 जनवरी 1947) के दौरान, 22 जनवरी 1947 को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। कांग्रेसी नज़रिये के इतिहासकार 9 जनवरी 1946 को भारत में संवैधानिक जनवादी गणतन्त्र की स्थापना की प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण दिन मानते हैं। पर यहाँ इस तथ्य को रेखांकित किया जाना चाहिए कि न केवल यह संविधान सभा देश के सिर्फ 11.5 प्रतिशत विशेषाधिकार प्राप्त निर्वाचकों द्वारा परोक्ष रीति से चुनी गयी थी, बल्कि लीग के 73 सदस्यों के बहिष्कार के बाद विविध किस्म की आरक्षित एवं नामांकित सीटों वाली इस केन्द्रीय असेम्बली में मुस्लिम आबादी का प्रतिनिधित्व सिर्फ 4 कांग्रेसी मुस्लिम सदस्य कर रहे थे। विभाजन की प्रक्रिया भी व्यवहारत: 9 जनवरी 1946 को ही शुरू हो चुकी थी। इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का भी रेखांकन यहाँ ज़रूरी है कि संविधान सभा ही स्वतन्त्र भारत की पहली विधायिका के रूप में काम कर रही थी जिसका ढाँचा कैबिनेट मिशन प्लान द्वारा तय हुआ था और जिसने अस्तित्व में आने के शुरुआती आठ महीनों तक औपनिवेशिक सत्ता के अन्तर्गत काम किया था।

नेहरू के जीवनीकार माइकल ब्रेशर ने लिखा था कि भारतीय संविधान की एक उल्लेखनीय विशिष्टता आंग्ल-भारतीय परम्परा की निरन्तरता थी। इसमें 1935 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट’ की 395 में से 250 धाराओं को या तो ज्यों के त्यों या थोड़े-बहुत शाब्दिक बदलावों के साथ शामिल कर लिया गया था (‘नेहरू : ए पोलिटिकल बायोग्राफी’, लन्दन, 1959, पृ. 421)। अपनी पुस्तक ‘मिशन विद माउण्टबेटन’ (लन्दन, 1951, पृ. 319, 355) में एलन कैम्पबेल जॉनसन ने भी यही विचार रखे हैं। भारतीय बड़े पूँजीपतियों के एक अग्रणी नेता और गाँधी के लाड़ले घनश्याम दास बिड़ला ने गर्वपूर्वक घोषणा की कि हमने जिस संविधान को पारित किया है उसमें 1935 के क़ानून के बड़े हिस्से को यथावत् अपना लिया गया है, यह दिखाता है कि उस क़ानून में भविष्य की हमारी योजनाओं का खाका मौजूद था (बिड़ला : ‘इन दि शैडो ऑफ दि महात्मा’, बम्बई, 1968, पृ.

131)। यानी कांग्रेस के लिए जो क़ानून कभी ग़ुलामी का चार्टर था, वही वास्तव में, काफी हद तक देशी बुर्जुआ सत्ता के शासन-विधान का ब्लू-प्रिण्ट था।

गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस का समूचा इतिहास जनान्दोलनों के ज़रिये दबाव बनाने और फिर कुछ रियायतें हासिल करके जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात करते हुए समझौता कर लेने, साम्राज्यवादी विश्व के अन्तरविरोधों और ब्रिटिश उपनिवेशवादियों की हर मजबूरी का लाभ उठाने तथा जनसंघर्षों को नियन्त्रण से बाहर न जाने देने का इतिहास रहा था। किसानों और व्यापक आम ज़नता को आकृष्ट करने के लिए ”सन्त” गाँधी का यूटोपिया था, रैडिकल मध्यवर्ग को लुभाने के लिए नेहरू का ”वामपन्थी” मुखौटा था और बुर्जुआ वर्ग को आश्वस्त करने के लिए व्यवहारकुशल अनुदारवादी पटेल, राजेन्द्र प्रसाद, राजगोपालाचारी, टण्डन और पन्त जैसे लोग थे। तमाम लोकरंजक और रैडिकल नारों-वायदों की कथनी के बावजूद, भारतीय पूँजीपति वर्ग को कांग्रेस की वास्तविक करनी पर पूरा भरोसा था और कांग्रेस इस भरोसे पर पूरी तरह से खरी उतरी। संविधान-निर्माण की प्रक्रिया में भी कांग्रेस की संरचना और नीति-रणनीति की पूरी झलक हमें देखने को मिलती है।

लीग के बहिष्कार के बाद संविधान सभा (जो केन्द्रीय असेम्बली भी थी) की संरचना वस्तुतः एक दलीय होकर रह गयी थी। कांग्रेसियों के अतिरिक्त बहुत थोड़े अन्य निर्वाचित प्रतिनिधि थे, शेष कुछ रियासतों के नामित प्रतिनिधि थे। जो भी नीतिगत विरोध और मतान्तर थे वे ”वामपन्थी” कांग्रेसियों और दक्षिणपन्थी कांग्रेसियों के बीच ही थे और उन्हें भी नितान्त सौहार्द्रपूर्ण ढंग से हल कर लिया गया। नेहरू के नेतृत्व वाला ”वाम” धड़ा अल्पमत में था, पर उनके लोकरंजक चेहरे और समाजवादी नीतियों (वस्तुतः समाजवाद के नाम पर राजकीय पूँजीवादी नीतियों) को आगे रखकर चलने का महत्व भारतीय पूँजीपति वर्ग बख़ूबी समझता था। इस ”वाम” धड़े या नेहरूवियाई ”समाजवाद” का स्पष्ट प्रभाव संविधान के चौथे भाग में हमें देखने को मिलता है जहाँ राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है। इस हिस्से में जनवाद, समाजवाद और ज़नता के प्रति राज्य की ज़िम्मेदारी-जवाबदेही की लम्बी-चौड़ी लफ्फ़ाज़ी की गयी है। बुर्जुआ विधिवेत्ता और संविधान-विशेषज्ञ इसे भारतीय संविधान की ”आत्मा” और ”मूल तत्व” और ”मूल अभिप्राय” की संज्ञा देते हैं, लेकिन हास्यास्पद बात यह है कि इनका अनुपालन राज्य के लिए वैधिक रूप से बाध्यताकारी नहीं है, इन्हें ‘नॉन जस्टिसियेबल’ का दर्जा दिया गया है। संविधान लागू होने के छः दशकों के दौरान भारतीय राज्यसत्ता संविधान में उल्लिखित इन दिशा-निर्देशों या आदर्शों से ज्यादा से ज्यादा दूर होती चली गयी है, लेकिन संविधान में नीति निर्देशक सिद्धान्त आज भी मौजूद रहकर आम ज़नता की जीवन स्थितियों का मज़ाक़ उड़ा रहे हैं और शासक वर्गों की बेशर्मी की बानगी पेश कर रहे हैं। संविधान में वैधिक रूप से बाध्यताकारी वह हिस्सा है जहाँ नागरिकों के मूलभूत अधिकारों की चर्चा की गयी है। इस हिस्से पर कांग्रेस के सभी धड़ों की आम सहमति थी। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार ये मूलभूत अधिकार वस्तुतः सम्पत्तिशाली तबक़ों के लिए ही मायने रखते हैं और आम जनसमुदाय के लिए इनका वजूद रस्मी से अधिक कुछ भी नहीं है। संविधान सभा में अनुदारवादी कांग्रेसी सदस्यों का ही बहुमत था। उनके बुर्जुआ संविधानवादी विचारों को गाँधी और अम्बेडकर के सामाजिक सुधारवादी नज़रिये से छौंक-बघारकर संविधान के तीसरे खण्ड में सटीक ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

संविधान सभा में कई प्रतिष्ठित विधिवेत्ता और संविधान-विशेषज्ञ शामिल थे, जिनमें अम्बेडकर, नेहरू, राजेन्द्र प्रसाद आदि प्रमुख थे। फिर सरदार पटेल थे जिन्होंने रजवाड़ों के विलय का

क़ानूनी फ्रेमवर्क तैयार किया था। और फिर गाँधी थे, जो कांग्रेस और संविधान सभा में नहीं होते हुए भी, और विभाजन तथा सत्ता-हस्तान्तरण की परिस्थितियों से दुखी होते हुए भी, बुनियादी नीति-निर्माण में परोक्ष लेकिन निर्णायक दख़ल रखते थे। एक बैरिस्टर के रूप में ब्रिटिश क़ानूनों का उनका अध्ययन गहन था। इन सबका नतीजा था कि इंग्लैण्ड, अमेरिका और आयरलैण्ड से लेकर कनाडा तक के संविधान से कुछ-कुछ चीज़ों को चुनकर 1935 के 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया एक्ट' की धाराओं से बने मूल ढाँचे पर तरह-तरह की लोकलुभावन पच्चीकारी और मायावी रंग-रोगन किया गया। प्रकाण्ड विधिशास्त्रीय चातुर्य के साथ 'स्वतन्त्रता-समानता-भ्रातृत्व' के प्रबोधनकालीन आदर्शों और समाजवादी नारों-वायदों के साथ बुर्जुआ विशेषाधिकारों के हिफाज़त की गारण्टी को प्रस्तुत किया गया है। भारतीय संविधान एक कुटिल बुर्जुआ संरचना है जो ऊँचे आदर्शों की लफ्फाज़ी करते हुए, ज़नता को अत्यन्त सीमित जनवादी अधिकार देने वाली पूँजीवादी सत्ता-संरचना की आधारभूमि तैयार करता है। इसमें अन्तर्निहित संवैधानिक प्रावधानों का दायरा इतना "व्यापक" है कि 1975 में इन्दिरा गाँधी को आपातकाल लागू करने के लिए संवैधानिक दायरे का अतिक्रमण नहीं करना पड़ा। जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्व में दशकों से जारी सैनिक शासन जैसी स्थिति भी "संविधानसम्मत" है। इस मायने में भारतीय संविधान कुख्यात जर्मन राइख़ के विधिशास्त्रीय नज़ीरों से काफी हद तक प्रेरित प्रतीत होता है। दूसरी ओर, संविधान की प्रस्तावना की शब्दावली में अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना से उधार लेकर प्रबोधनकालीन अदर्शों की कलगी टाँकने की कोशिश की गयी है। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों का आइडिया आयरलैण्ड के संविधान से टीपा गया है। संसदीय प्रणाली, विधायिका-कार्यपालिका-न्यायपालिका के कार्यविभाजन आदि ढाँचागत व्यवस्थाएँ ब्रिटेन से उधार ली गयी हैं। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों और अधिकार विभाजन को कनाडा के संविधान से लिया गया है। मूलभूत अधिकार विषयक धाराओं को अमेरिकी संविधान में उल्लिखित 'बिल ऑफ राइट्स' के आधार पर ड्राफ्ट किया गया है। सातवें शिडयूल की समवर्ती सूची में उल्लिखित व्यापार-वाणिज्य और संसदीय विशेषाधिकार विषयक प्रावधानों को ऑस्ट्रेलिया के संविधान से लिया गया है। भारतीय संविधान-निर्माताओं की विशेषता यह थी कि पल्लवग्राही तरीक़े से इधर का ईंट, उधर का रोड़ा जोड़कर, 1935 के औपनिवेशिक क़ानून के बुनियादी ढाँचे पर उन्होंने एक ऐसी वृहद संवैधानिक अट्टालिका खड़ी की जो लुभावने नारों-वायदों और अन्तरविरोधी धाराओं की आड़ में भारतीय पूँजीपति वर्ग के शोषण और अत्याचारी शासन की बख़ूबी पर्दापोशी करने का काम करता है।

14 अगस्त 1947 की रात में (आधी रात के बाद) केन्द्रीय असेम्बली में आज़ादी की घोषणा हुई। तब संविधान सभा का पाँचवाँ सत्र (14-30 अगस्त 1947) जारी था। फिर इसी सत्र के दौरान, 29 अगस्त को, संविधान सभा ने संविधान का प्रारूप तैयार करने के लिए डॉ. भीमराव अम्बेडकर की अध्यक्षता में एक सात सदस्यीय प्रारूप कमेटी चुनी जिसके सदस्य इस प्रकार थे :

(1) अम्बेडकर (2) अल्लादी कुप्पुस्वामी अय्यर (3) एन. गोपाल स्वामी अयंगर (4) के.एम. मुंशी (5) सैय्यद मोहम्मद सेदुल्ला (6) आर.एल. मित्ताल (7) डी.पी. खेतान। भारतीय संविधान के निर्माता के रूप में डॉ. अम्बेडकर की छवि बहुप्रचारित है। संविधान-निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका और उनके राजनीतिक विचारों पर हम अलग से संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

संविधान निर्माण के लिए गठित प्रारूप कमेटी ने 27 अक्टूबर 1947 को अपना काम शुरू किया। लेकिन सच्चाई यह थी कि ब्रिटिश सरकार के विश्वासपात्र, "इण्डियन सिविल सर्विसेज़" के कुछ घुटे-घुटाये नौकरशाह संविधान का एक प्रारूप पहले ही तैयार कर चुके थे। इनमें पहला नाम था

सर बी.एन. राव का, जो संविधान सभा के संवैधानिक सलाहकार थे। दूसरा नाम था संविधान के मुख्य प्रारूपकार एस.एन. मुखर्जी का। इन दो महानुभावों ने 1935 के क़ानून के आधार पर संविधान का मसौदा तैयार किया था और संविधान सभा के कर्मचारियों ने उनकी मदद की थी। इस सच्चाई को अम्बेडकर ने भी प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से 25 नवम्बर 1947 को दिये गये अपने लम्बे भाषण में भी स्वीकार किया था। संविधान सभा की प्रारूप कमेटी का काम था पहले से ही तैयार प्रारूप की जाँच करना और आवश्यकता होने पर संशोधन हेतु सुझाव देना। इस तथ्य को संविधान सभा के एक सदस्य सत्यनारायण सिन्हा ने भी स्वीकार किया है। कमेटी के सभी सदस्य प्राय: बैठकों में उपस्थित भी नहीं रहते थे, लेकिन कोरम पूरा रहता था और बैठकें जारी रहती थीं। प्रारूप कमेटी की ये बैठकें 27 अक्टूबर 1947 से 13 फरवरी 1948 तक जारी रहीं। कमेटी ने अन्तिम प्रारूप 21 फरवरी को सभापति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद को सौंप दिया। 8 माह बाद, 4 नवम्बर 1948 को संविधान सभा में प्रारूप पर चर्चा प्रारम्भ हुई जो एक वर्ष तक जारी रही। सदस्यों ने किसी-किसी पहलू पर विशिष्ट टिप्पणियाँ कीं और कुछ संशोधनों के सुझाव भी दिये, जिनमें से कुछ को संविधान में शामिल कर लिया गया। 26 नवम्बर 1949 को संविधान सभा ने संविधान के अन्तिम प्रारूप को पारित कर दिया। 24 जनवरी 1950 को केन्द्रिय असेम्बली/संविधान सभा के अन्तिम सत्र की शुरुआत हुई जिसमें सचिव एच.वी.आर. अयंगर ने घोषणा की कि राजेन्द्र प्रसाद सर्वसम्मति से भारत के पहले राष्ट्रपति चुने गये हैं। फिर सभी 284 सदस्यों ने संविधान की सुलेखित (कैलिग्राफिक) प्रति पर हस्ताक्षर किये। पहले हस्ताक्षरकर्ता प्रधनमन्त्री नेहरू थे और अन्तिम हस्ताक्षर संविधान सभा के अध्यक्ष की हैसियत से राजेन्द्र प्रसाद ने किये। 26 जनवरी 1950 को संविधान लागू हो गया। केन्द्रीय असेम्बली/संविधान सभा उस दिन भंग हो गयी, उसने स्वयं को भारत की आरज़ी (प्रोविज़नल) संसद में तब्दील कर लिया जो 1952 में पहले आम चुनाव के बाद नयी संसद के अस्तित्व में आने तक कार्यरत रही।

लेख के अगले हिस्से में हम भारतीय संविधान की मूल अन्तर्वस्तु और मुख्य हिस्सों की विवेचना प्रस्तुत करेंगे। लेकिन उसके पहले संविधान निर्माण के दौरान अम्बेडकर की भूमिका और उनकी राजनीतिक दृष्टि की संक्षिप्त चर्चा ज़रूरी है।

डॉ. अम्बेडकर और भारतीय संविधान

जो समाज जितना ही पिछड़ा हुआ, अतार्किक और अन्धविश्वासी होता है, उसमें देव-पूजा, डीह-पूजा, नायक-पूजा की प्रवृत्ति उतनी ही गहराई से जड़ें जमाये रहती है। 'जीवित' और प्रश्नों से ऊपर उठे "देवताओं" के सृजन से कुछ निहित स्वार्थों वाले व्यक्तियों का भी हित सधता है, प्रभावशाली सामाजिक वर्गों का भी और सत्ता का भी। शासक तबक़ों द्वारा देव-निर्माण और पन्थ-निर्माण की संस्कृति से प्रभावित शासित भी अक्सर सोचने लगते हैं कि उनका अपना नायक हो और अपना 'पन्थ' हो। इसके लिए कभी-कभी किसी ऐसे पुराने धर्म को जीवित करके भी, जिसके साथ अतीत में उत्पीड़ितों का पक्षधर होने की प्रतिष्ठा जुड़ी हो, उत्पीड़ित जन यह भ्रम पाल लेते हैं कि उन्हें शासकों के धर्मानुदेशों से (अतः उनके प्रभुत्व से) छुटकारा मिल जायेगा। जब यह भ्रम भंग भी हो जाता है और नायक/नेता द्वारा प्रस्तुत वैकल्पिक मार्ग आगे नहीं बढ़ पाता, तब भी उक्त महापुरुष-विशेष और उसके सिद्धान्तों की आलोचना वर्जित और प्रश्नेतर बनी रहती है और उसे देवता बना दिया जाता है। इससे लाभ अन्ततः शोषणकारी व्यवस्था का ही होता है। धीरे-धीरे, उत्पीड़ितों के बीच से जो मुखर और उन्नत तत्त्व पैदा होते हैं, वे इसी व्यवस्था के भीतर दबाव और मोल-तोल की राजनीति करके फ़ायदे में रहना सीख जाते हैं, "महापुरुष नेता" के वफ़ादार शिष्य बनकर मलाई चाटते हुए इस व्यवस्था में सहयोजित कर लिये जाते हैं और अपने जैसे दूसरे उत्पीड़ित जनों की दुनिया से दूर हो जाते हैं।

अम्बेडकर को लेकर भारत में प्रायः ऐसा ही रुख़ अपनाया जाता रहा है। अम्बेडकर की किसी स्थापना पर सवाल उठाते ही दलितवादी बुद्धिजीवी तर्कपूर्ण बहस के बजाय "सवर्णवादी" का लेबल चस्पाँ कर देते हैं, निहायत अनालोचनात्मक श्रद्धा का रुख़ अपनाते हैं तथा सस्ती फ़तवेबाज़ी के द्वारा मार्क्सवादी स्थापनाओं या आलोचनाओं को ख़ारिज कर देते हैं। इससे सबसे अधिक नुक़सान दलित जातियों के आम जनों का ही हुआ है। इस पर ढंग से कोई बात-बहस ही नहीं हो पाती है कि दलित-मुक्ति के लिए अम्बेडकर द्वारा प्रस्तुत परियोजना वैज्ञानिक-ऐतिहासिक तर्क की दृष्टि से कितनी सुसंगत है और व्यावहारिक कसौटी पर कितनी खरी है? अम्बेडकर के विश्व-दृष्टिकोण, ऐतिहासिक विश्लेषण-पद्धति, उनके आर्थिक सिद्धान्तों और समाज-व्यवस्था के मॉडल पर ढंग से कभी बहस ही नहीं हो पाती।

ज़रूरत है अम्बेडकर के सभी विचारों के निरीक्षण-विश्लेषण की। एक हद तक रंगनायकम्मा ने अपनी पुस्तक 'जाति प्रश्न के समाधान के लिए...' (राहुल फ़ाउण्डेशन, लखनऊ द्वारा प्रकाशित) में यह काम किया है। यहाँ हमारा उद्देश्य अम्बेडकर के समस्त विचारों की समालोचना प्रस्तुत करना नहीं है। अपने विषय-विशेष के सन्दर्भ में हमारा मन्तव्य भारतीय संविधान के निर्माण में और उस दौरान की भारतीय राजनीति में अम्बेडकर की भूमिका की पड़ताल करना है।

इस बात का बहुत अधिक प्रचार किया जाता है कि डॉ. अम्बेडकर ही भारतीय संविधान के 'निर्माता' या "प्रमुख वास्तुकार" हैं। यह कहाँ तक सच है? संविधान सभा में 'आर्थिक शोषण से मुक्ति' के लिए प्रस्तुत अम्बेडकर का प्रस्ताव क्या था और कितना व्यावहारिक था और इस प्रस्ताव के ख़ारिज किये जाने के बाद भी अम्बेडकर संविधान सभा में और नेहरू के मन्त्रालय में क्यों बने रहे? अनुसूचित जातियों के कल्याण के जिस उद्देश्य से अम्बेडकर सरकार और संविधान सभा में गये थे, क्या उसकी कोई सम्भावना शुरू से ही वहाँ मौजूद थी? संविधान-निर्माण

का कार्य सम्पन्न होने पर तो अपने लम्बे भाषण में अम्बेडकर ने परम सन्तोष प्रकट किया था और कांग्रेस की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी, फिर कुछ ही वर्षों बाद वे सरकार से बाहर आकर 'संविधान जलाने' की बात क्यों करने लगे थे? बावजूद उनके इस मोहभंग के, आज के दलित नेता उन्हें 'भारतीय संविधान का निर्माता' कहकर गौरवान्वित क्यों होते हैं और संविधान में किसी भी प्रकार की छेड़छाड़ का विरोध क्यों करते हैं? – इन सभी बातों पर तार्किक और तथ्यपरक ढंग से सोच-विचार किया जाना चाहिए। अतर्क-कुतर्क और अन्धभक्ति से किसी का भला नहीं हो सकता।

1946 तक अम्बेडकर न केवल गाँधी और कांग्रेस की राजनीति के धुर-विरोधी थे, बल्कि कम्युनिस्टों सहित साम्राज्यवाद-विरोधी मुक्ति-संघर्ष की अन्य सभी रैडिकल धाराओं के भी विरोधी थे। वे चिल्ला-चिल्लाकर कहते रहे थे कि 'स्वाधीनता से पहले जाति-उन्मूलन जैसे सामाजिक सुधार होने चाहिए' और 'भारत को जो स्वाधीनता प्राप्त होगी वह सिर्फ़ (सवर्ण) हिन्दुओं की स्वाधीनता होगी, निम्न जातियों की नहीं।' अम्बेडकर दलित जातियों के, एक हद तक, सामाजिक रूप से उन्नत और शिक्षित हो जाने से पहले अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के विरोधी थे। दलितों के हालात में बदलाव के लिए वे स्वयं दलितों की जागृति एवं पहलक़दमी से अधिक अंग्रेज़ों पर भरोसा करते थे। वे कृतज्ञ थे कि अंग्रेज़ छूआछूत नहीं मानते थे, उन्होंने 'महार रेजिमेण्ट' बनाने जैसे और दलितों में शिक्षा के लिए क़दम उठाये तथा शहरीकरण किया (जहाँ जातिगत भेदभाव कम था)। बहुसंख्यक दलित गाँवों में रहते थे और स्वर्ण भूस्वामियों के बर्बर सामन्ती उत्पीड़न के शिकार थे। ये अंग्रेज़ ही थे जो भूमि-बन्दोबस्त की विविध प्रणालियों के द्वारा अर्द्धसामन्ती भूमि-सम्बन्ध बनाने और मध्ययुगीन सामन्ती उत्पीड़न की निरन्तरता बनाये रखने तथा उसे नयी शक्ति प्रदान करने के लिए ज़िम्मेदार थे। पर अम्बेडकर ने इस तथ्य को कभी नहीं समझा। दलितों की स्थिति में बेहतरी लाने के लिए वे ब्रिटिश सत्ता के कृतज्ञ थे और उन्हें यदि शिक़ायत थी तो बस यह कि उन्होंने तेज़ गति से और अपेक्षित मात्रा में यह काम नहीं किया। अम्बेडकर के ज़माने में, दलित जातियों का क़रीब 98 प्रतिशत हिस्सा गाँवों-शहरों का मज़दूर वर्ग था और गाँवों-शहरों के मज़दूर वर्ग का भी क़रीब 85 प्रतिशत हिस्सा दलित जातियों से आता था। इनसे क़रीबी से जुड़े हुए छोटे-मँझोले रैय्यत व काश्तकार थे जिनका क़रीब 90 प्रतिशत हिस्सा निम्न समझी जाने वाली किसान (शूद्र) जातियों का था। उस समय इन जातियों को राष्ट्रीय मुक्ति और भूमि क्रान्ति की वेगवती धारा से अलग करने के बजाय यदि इस धारा की अग्रणी शक्ति बनाने की कोशिश की जाती, यदि उपनिवेशवादियों और उनके द्वारा संरक्षित (सवर्ण) सामन्तों के विरुद्ध नीचे की जातियों को क्रान्तिकारी संघर्ष में उतारा जाता और राजनीतिक आन्दोलन की धारा के भीतर, साथ-साथ रैडिकल सामाजिक-सांस्कृतिक आन्दोलन सतत चलाये जाते तो राजनीतिक-आर्थिक स्वाधीनता के साथ ही मेहनतकश जनगण की सामाजिक-सांस्कृतिक स्वाधीनता और दलित प्रश्न के हल की दिशा में भी एक महान अग्रवर्ती छलाँग सम्भव थी। पर अम्बेडकर को वर्ग-संघर्ष ही नहीं, व्यापक जनान्दोलनों से भी चिढ़ थी। वे कट्टर विधानवादी थे और घोर सुधारवादी। जाति-प्रश्न को उन्होंने वर्गीय शोषण के प्रश्न से एकदम अलग कर दिया। जातिगत उत्पीड़न और आर्थिक शोषण का ख़ात्मा वे केवल सत्ता के क़ानूनों-विधानों से सम्भव मानते थे या फिर स्वयं उत्पीड़कों की रज़ामन्दी से। 'जाति प्रथा का उन्मूलन' विषयक उनकी "महान कृति" का निचोड़ यह है कि जाति-व्यवस्था तभी समाप्त हो सकती है, जब ब्राह्मण इससे सहमत हों।

1926 से ही अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन और लेखन अम्बेडकर के क्रियाकलापों के केन्द्रबिन्दु थे। उनके अस्पृश्यता-विरोधी आन्दोलन ज़्यादातर महाराष्ट्र केन्द्रित थे और अपने प्रभाव क्षेत्रों में दलितों के उत्पीड़न-अपमान के विरुद्ध संघर्ष, आन्दोलन एवं सुधार कार्य में कम्युनिस्ट उनसे पीछे क़तई नहीं थे। 1926 से 1934 तक अम्बेडकर दलितों के प्रतिनिधि के रूप में बम्बई विधानसभा में नियुक्त रहे। 1942 से 1946 तक वे श्रम विभाग में गवर्नर जनरल के प्रशासक रहे। अब यह अलग से शर्मिन्दगी भरी चर्चा का विषय है कि इस दौरान मज़दूरों और मज़दूर संघर्षों के प्रति “महामहिम” गवर्नर जनरल के श्रम विभाग ने क्या रुख़ अपनाया था और मज़दूरों का उसने क्या और कितना “भला” किया था! मार्च 1946 में सत्ता हस्तान्तरण के निर्णय और जुलाई 1946 में अति-सीमित मताधिकार के आधार पर, परोक्ष प्रणाली से, प्रान्तीय विधायिकाओं द्वारा संविधान सभा के चुनाव की चर्चा निबन्ध में पहले की जा चुकी है। इंग्लैण्ड और अमेरिका की बुर्जुआ जनवादी संसदीय प्रणालियों को आदर्श मानने वाले अम्बेडकर को अति विशेषाधिकार प्राप्त कुलीनों के निर्वाचक मण्डल द्वारा संविधान सभा चुनाव के इस कुचक्र पर कोई सैद्धान्तिक आपत्ति नहीं हुई। एक बार भी उन्होंने सार्विक वयस्क मताधिकार आधारित चुनाव की बात नहीं उठायी और बंगाल के मुस्लिम लीग सदस्यों के समर्थन से निर्वाचित होकर (क्योंकि कांग्रेस का समर्थन नहीं मिलने से उनके मूल राज्य बम्बई से उनका निर्वाचन सम्भव न हो सका था) वे चटपट संविधान सभा में जा बैठे। प्रसंगवश, यहाँ यह उल्लेख भी कर दिया जाना चाहिए कि पाकिस्तान की माँग, मुस्लिम लीग की अन्य माँगों तथा साम्प्रदायिकता की राजनीति पर अम्बेडकर का स्टैण्ड पहले से ही, स्थिर न रहकर लगातार दोलन करता रहा था। कभी उनकी बातें लीग को जँचने वाली होती थीं, तो कभी हिन्दू साम्प्रदायिकों को भी जमने लगती थीं। दुर्भाग्यवश, यहाँ इस विस्तार में जाना सम्भव नहीं है। मुस्लिम लीग संविधान सभा की बैठकों का बहिष्कार करती रही, पर लीगी समर्थन से वहाँ पहुँचे अम्बेडकर ने न केवल 9 दिसम्बर, 1946 से आयोजित संविधान सभा की बैठकों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया, बल्कि 17 दिसम्बर को एक विलक्षण “भावुक” भाषण देकर नाटकीय, आश्चर्यजनक पालाबदल-कौशल का प्रदर्शन किया। आर्थिक-सामाजिक-जातिगत अन्तरों के बावजूद उन्होंने स्वतन्त्र भारत में लोगों के एक होने में विश्वास जताया और यह भी कहा कि लीग की विभाजन की माँग के बावजूद एक दिन मुसलमानों की आँखें खुल जायेंगी और वे समझ लेंगे कि संयुक्त भारत ही उनके लिए बेहतर रहेगा। उन्होंने सभी से अपने नारों को किनारे रखकर तथा जनता को भयभीत करने वाले शब्दों का प्रयोग बन्द कर एक हो जाने की अपील की (अम्बेडकर की संग्रहीत रचनाएँ, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-13, पृ. 9-10)।

अचानक स्टैण्ड बदलकर, अम्बेडकर स्वाधीनता-प्राप्ति पर आनन्दातिरेक से भर उठे और “एक हो जाने” की घोषणा करते हुए न केवल कांग्रेस के साथ आ गये थे, बल्कि (संकलित रचनाओं के सम्पादक वसन्त मून के शब्दों में) वे “संवैधानिक मामलों में कांग्रेस के मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक बन गये थे” (उपरोक्त, पृ. 26)। अभी डेढ़ वर्ष पहले ही (जून 1945 में) अम्बेडकर ने कांग्रेस के अत्याचारों-विश्वासघातों पर एक मोटी पुस्तक लिखी थी, “कांग्रेस और गाँधी ने अछूतों के लिए क्या किया?” कांग्रेस अब भी वही थी। उसने कुछ भी नया नहीं किया था। पर अम्बेडकर का सुर बदल गया था। यह वही अम्बेडकर थे, जिन्होंने गाँधी और कांग्रेस की ओर झुकाव होने पर दलित नेता एम.सी. राजा को कभी “भाड़े का टट्टू” कहा था और मद्रास विधान-सभा के कांग्रेसी दलित विधायकों को कांग्रेस का “पालतू कुत्ता” कहा था। अब वे संविधान सभा में कांग्रेस के साथ एक हो जाने का आह्वान कर रहे थे। कृतज्ञता-ज्ञापन में कांग्रेसी पीछे नहीं रहे। संविधान

सभा के अध्यक्ष, घाघ अनुदारवादी कांग्रेसी राजेन्द्र प्रसाद ने अम्बेडकर को संविधान का प्रारूप तैयार करने सम्बन्धी दो समितियों में तुरन्त शामिल कर लिया।

मार्च, 1947 में संविधान सभा में प्रस्तुत करने की दृष्टि से अम्बेडकर ने 'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' की अपनी योजना तैयार की (देखिये, अम्बेडकर की संग्रहीत रचनाएँ, महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रकाशित, अंग्रेज़ी संस्करण, खण्ड-1, पृ. 383, 391, 396-97)। संविधान सभा ने उनकी योजना को ठुकरा दिया। अम्बेडकर रूठे नहीं। उलटे उन्होंने ही संविधान सभा की योजना को अपना लिया।

'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' सम्बन्धी अम्बेडकर की योजना, वस्तुतः 'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' नहीं देती, बल्कि पूँजीवाद का ही एक भिन्न संस्करण प्रस्तुत करती है, जिसमें अव्यावहारिकता तो है ही, अर्थशास्त्र-विषयक अम्बेडकर के अधकचरे ज्ञान का खुला प्रदर्शन भी है। भारतीय पूँजीपति वर्ग को पूँजीवाद का अम्बेडकर-प्रस्तावित संस्करण पूरी तरह से स्वीकार्य नहीं था, इसलिए उसके राजनीतिक प्रतिनिधियों ने उसे ख़ारिज कर दिया। अम्बेडकर ने आर्थिक शोषण से बचाव के लिए प्रमुख उद्योगों और बीमा क्षेत्र के राज्य के स्वामित्व में होने का प्रस्ताव दिया तथा जो उद्योग प्रमुख नहीं थे, लेकिन बुनियादी थे, उन्हें राज्य द्वारा स्थापित निगमों द्वारा चलाये जाने का प्रस्ताव किया। यही उनका "राजकीय समाजवाद" था। मूलतः यह नेहरू के "समाजवाद" जैसा ही था जो सारतः राजकीय पूँजीवाद था। यह कोई नयी बात नहीं थी। कीन्स के नुस्ख़ों से पहले भी राजकीय पूँजीवाद था। यह मूलतः पूँजीपति वर्ग की ही सेवा करता था और अधिशेष इसमें भी निचोड़ा जाता था। 'पब्लिक सेक्टर' के "समाजवादी" अनुभवों से भला कौन भारतीय परिचित नहीं है। अम्बेडकर का दूसरा प्रस्ताव कृषि को भी राजकीय उद्योग बनाने का था। ज़ाहिर है कि बुर्जुआ वर्ग चाहकर भी ऐसा नहीं कर सकता था, क्योंकि धनी और मँझोले काश्तकार भी इस मसले पर उसका साथ नहीं देते। दूसरे, खेती का यदि राजकीयकरण हो भी जाता तो केवल शोषण का रूप बदल जाता, क्योंकि बुनियादी सवाल यह है कि राज्यसत्ता की बागडोर किस वर्ग के हाथों में है!

'आर्थिक शोषण से मुक्ति' का प्रस्ताव रखते हुए अम्बेडकर इस बुनियादी बात को नहीं समझ पाते कि श्रम का शोषण ही आर्थिक शोषण है। किराया, ब्याज, मुआवज़ा, ऋणपत्र, मुद्रा, भूमि, मज़दूरी आदि सभी अर्थशास्त्रीय प्रवर्गों पर वे एकदम दिग्भ्रमित हैं और उनके द्वारा प्रस्तुत सुझावों में शोषणकारी उत्पादन-सम्बन्ध और सम्पत्ति- सम्बन्ध अन्तर्निहित हैं। यह चर्चा थोड़े तकनीकी एवं जटिल अर्थशास्त्रीय विस्तार की माँग करती है, अतः इसके विस्तार में जाना यहाँ सम्भव नहीं। संक्षेप में, अम्बेडकर के सुझाव शोषण के अधिकारों और आय के शोषणकारी अधिकारों को जारी रखने के प्रस्ताव मात्र हैं। महज़ एक उदाहरण लें। उद्योगों और भूमि का राजकीयकरण करते समय अम्बेडकर पूर्वस्वामियों को मुआवज़ा देने की बात करते हैं। पूँजीपतियों की पूँजी मज़दूरों की कई पीढ़ियों द्वारा सृजित अतिरिक्त मूल्य से ही संचित हुई है। अब भूमि के सवाल को लें। प्रकृति में मौजूद अपरिष्कृत भूमि का कोई मूल्य नहीं है। भूमि के लिए किये गये भुगतान की धनराशि उन लोगों के श्रम के अतिरिक्त मूल्य का अंश है जिन्होंने उस भूमि को कृषि योग्य बनाकर फ़सलें उगायी हैं। भूमि और उद्योग के लिए मुआवज़ा अदा करने का मतलब है – शोषणकारी सम्पत्ति-अधिकारों के ख़ात्मे के बजाय सम्पत्ति के स्वरूप को बदल देना। जो मालिक पहले मुनाफ़ा कूटते थे और लगान वसूलते थे, वे ब्याज पर ऐश करते रहेंगे और परोक्षतः निचोड़े गये अधिशेष के भागीदार बने रहेंगे। अम्बेडकर सम्पत्ति के अधिकार पर या बुर्जुआ श्रम-

विभाजन पर चोट नहीं करते। वे हर सक्षम नागरिकों के काम करने के अधिकार की या अपरिहार्यता की बात नहीं करते।

ऐसे अधकचरे सुझाव अम्बेडकर की सम्पूर्ण विचार-सरणि में मौजूद हैं। जाति प्रश्न के हल के लिए उन्होंने वृहत शहरीकरण का हवाई सुझाव दिया (यह असम्भव है, मूल बात है एक लम्बी प्रक्रिया में गाँव और शहर के अन्तर को, कृषि और उद्योग के अन्तर को ख़त्म करना, लेकिन पूँजीवाद में यह सम्भव नहीं है। दूसरी बात, शहरों में भी धनी-ग़रीब की गहराती खाई बनी रहेगी और गाँव के दलित सर्वहाराओं को ज़्यादातर शहरी सर्वहाराओं की क़तारों में ही जगह मिलेगी तथा जातिगत विभेद की दीवारें भी बनी रहेंगी)। जाति प्रश्न का दूसरा समाधान उन्होंने बौद्ध धर्म अपनाने में देखा। यह विकल्प समय ने थोथा-बोदा सिद्ध किया। आरक्षण के विकल्प की भी बात कर ली जाये। आरक्षण एक अस्थायी सुरक्षात्मक उपाय हो सकता था, पर अन्तिम समाधान का रास्ता तो 'समान शिक्षा सबको रोज़गार' तथा स्वास्थ्य, आवास आदि को राज्य की ज़िम्मेदारी बनाये जाने के बाद ही फूट सकता था। आरक्षण की निरन्तरता जातियों की निरन्तरता ही है। आरक्षण का लाभ बहुसंख्यक दलित मेहनतकश आबादी के बजाय मुट्ठीभर दलित मध्यवर्ग के लोगों को ही मिल पाता है। बुनियादी सवाल यह है कि दलित मुक्ति की और जाति-उन्मूलन की तर्कसंगत, व्यावहारिक परियोजना आख़िरकार क्या हो सकती है? – तो इस प्रश्न पर अम्बेडकर का निष्कर्ष तो यही है कि जाति व्यवस्था तभी समाप्त हो सकती है, जब ब्राह्मण इससे सहमत हों! यह है अम्बेडकर के राजनीतिक-सामाजिक विचारों की असली अन्तर्वस्तु! बहरहाल, हम फिर संविधान-निर्माण के दौरान अम्बेडकर की भूमिका की ओर वापस लौटते हैं।

'आर्थिक शोषण से सुरक्षा' (मार्च, 1947) की अपनी योजना को ख़ारिज कर दिये जाने के बाद, अम्बेडकर के सामने एक नयी समस्या आ खड़ी हुई। विभाजन के बाद लीगी समर्थन से बंगाल से निर्वाचित अम्बेडकर की संविधान सभा-सदस्यता समाप्त हो गयी। अब कांग्रेस फ़ौरन उद्धारक बनकर आगे आयी। बम्बई के एक कांग्रेसी सदस्य से त्यागपत्र दिलवाकर उस सीट से अम्बेडकर को तुरन्त निर्वाचित कर लिया गया। नेहरू ने अपनी सरकार में भी उन्हें शामिल कर लिया और विधि मन्त्री बनाया। अम्बेडकर योजना या श्रम मन्त्रालय चाहते थे। नेहरू ने इन्तज़ार करने को कहा और टाल गये। 29 अगस्त, 1947 को अम्बेडकर को संविधान सभा की प्रारूप कमेटी का अध्यक्ष चुना गया। पूर्व में यह चर्चा की जा चुकी है कि जिस संविधान का डॉ. अम्बेडकर को निर्माता और मुख्य वास्तुकार कहा जाता है, उसका मुख्य ढाँचा औपनिवेशिक सत्ता के दो नौकरशाहों – सर बी.एन. राव और एस.एन. मुखर्जी ने तैयार किया था और उसमें 'गवर्नमेण्ट ऑफ़ इण्डिया एक्ट 1935' की 395 में से 295 धाराओं को ज्यों का त्यों शामिल कर लिया गया था। यह संक्षिप्त उल्लेख भी किया जा चुका है कि यह संविधान सम्पत्ति के अधिकारों की और शोषणकारी सम्बन्धों की इंच-इंच हिफ़ाज़त करता है, लेकिन श्रम के अधिकारों की कोई गारण्टी नहीं लेता। आगे जब हम संविधान के एक-एक हिस्से का तफ़सील से विश्लेषण करेंगे तो अम्बेडकर के बुर्जुआ जनवादी विभ्रम और खुलकर हमारे सामने आ जायेंगे।

यहाँ यह याद दिलाना बेहद ज़रूरी है कि अम्बेडकर प्रारूप कमेटी में बैठकर जब संविधान के मसौदे की काट-छाँट कर रहे थे, उस समय तेलंगाना किसान संघर्ष जारी था। नेहरू सरकार द्वारा उसका बर्बर दमन भी तभी हुआ था। तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा-वायलार, नौसेना विद्रोह, देशव्यापी मज़दूर उभार – इन सबसे अम्बेडकर विरक्ति भाव नहीं, वितृष्णा भाव और विरोध भाव रखते थे। संविधान बनाने के बाद संविधान सभा में दिये गये अपने लम्बे भाषण में भी उन्होंने लोगों को

क्रान्ति और आन्दोलन के “बेकार रास्ते” से दूर रहने और संविधानसम्मत-क़ानूनसम्मत आचरण की नसीहत दी थी। इस मायने में अम्बेडकर गाँधी-नेहरू से भी दस क़दम आगे थे। वे एक कट्टर विधानवादी थे।

25 नवम्बर 1947 को प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष की हैसियत से अम्बेडकर ने संविधान सभा में लम्बा भाषण दिया। अम्बेडकर का दावा था कि वे अनुसूचित जातियों की हितरक्षा के लिए संविधान सभा में शामिल हुए थे। संविधान में यह उल्लेख भी है कि ‘अस्पृश्यता का अनुशीलन क़ानूनी तौर पर दण्डनीय अपराध है।’ पाँच वर्षों बाद 1954 में सरकार ने अस्पृश्यता को निषिद्ध करने का क़ानून भी बनाया। लेकिन अस्पृश्यता विविध रूपों में सामाजिक जीवन में आज भी मौजूद है। यदि स्थिति में थोड़ा-बहुत मात्रात्मक परिवर्तन हुआ भी है तो उसका कारण या तो जनजीवन पर पूँजी का समरूपी दबाव है या फिर समय के साथ सामाजिक चेतना में हुआ मात्रात्मक विकास है, संवैधानिक या क़ानूनी प्रावधानों की इसमें कोई भूमिका नहीं है। स्थितियों ने अम्बेडकर के संवैधानिक वैधिक विभ्रमों को स्वतः उजागर कर दिया है।

25 नवम्बर 1947 को संविधान सभा में दिये गये अपने लम्बे-चौड़े भाषण में अम्बेडकर प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष का कार्यभार स्वयं को सौंपे जाने को लेकर कांग्रेस के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करते हुए लोटपोट हो गये, कांग्रेसियों और संविधान सभा के सभी सदस्यों (जिनमें राजे-राजवाड़ों, पूँजीपतियों और अंग्रेज़परस्त विधिवेत्ताओं की बहुतायत थी) की भूरि-भूरि प्रशंसा करते रहे और इस बात को स्वीकार किया कि संविधान का प्रारम्भिक प्रारूप नौकरशाह – बी.एन. राव और एस.एन. मुखर्जी ने तैयार किया था। यह समझाना मुश्किल है कि संविधान के निर्माता और वास्तुकार डॉ. अम्बेडकर को क्यों माना जाता है? जहाँ तक वास्तुकार होने की बात है, तो भारतीय संविधान का कोई मौलिक वास्तु (स्थापत्य) है ही नहीं। ज़्यादातर धाराएँ 1935 के कुख्यात औपनिवेशिक क़ानून की है और दुनिया के अलग-अलग संविधानों से कुछ-कुछ चीज़ें उधार लेकर यहाँ-वहाँ खोखले शब्दों की पच्चीकारी और रंगरोगन कर दिया गया है। इस प्रक्रिया में यह यदि दुनिया का सबसे मोटा संविधान हो गया है तो यह गौरव की नहीं बल्कि मज़ाक़ की बात है।

अम्बेडकर अपने भाषण में सभी सहयोगियों और अध्यक्ष राजेन्द्र प्रसाद के विलक्षण यशोगान के बाद कम्युनिस्टों-सोशलिस्टों पर टूट पड़ते हैं। वे कहते हैं कि कम्युनिस्ट पार्टी संविधान की इसलिए निन्दा करती है, क्योंकि वह सर्वहारा अधिनायकत्व पर आधारित संविधान चाहती है जबकि भारतीय संविधान संसदीय जनवाद पर आधारित है। यह बात तथ्यतः ग़लत है। कम्युनिस्ट पार्टी ने उस समय बस इतना ही किया था कि सार्विक मताधिकार पर संविधान सभा के पुनर्गठन की माँग की थी। जहाँ तक सर्वहारा अधिनायकत्व की बात है, तो यह सर्वविदित है कि यदि राष्ट्रीय मुक्ति का नेतृत्व कम्युनिस्ट करते तो वे सर्वहारा अधिनायकत्व ही क़ायम करते। अम्बेडकर अन्यत्र मार्क्सवाद पर हमला करते हुए सर्वहारा अधिनायकत्व की धारणा को अटकल-पच्चू ढंग से विरूपित करते हैं। कम्युनिस्ट धारणा के अनुसार, हर सत्ता वर्ग-अधिनायकत्व होती है। बुर्जुआ संसदीय जनवाद बुर्जुआ अधिनायकत्व होता है और सर्वहारा समाजवादी जनवाद सर्वहारा अधिनायकत्व होता है। संसदीय जनवाद या कोई भी जनवाद निरपेक्ष जनवाद नहीं होता। इस प्रश्न पर अम्बेडकर की अधकचरी सोच की रंगनायकम्मा ने अपनी उपरोल्लिखित पुस्तक में बहुत करीने से चीरफाड़ की है। यहाँ अधिक विस्तार से उसकी चर्चा सम्भव नहीं है।

अम्बेडकर के अनुसार, सोशलिस्ट (किन सोशलिस्टों की ओर उनका इशारा था, यह स्पष्ट नहीं होता) संविधान की आलोचना इसलिए करते हैं कि वे बिना मुआवज़ा दिये ही समूची ग़ैरसरकारी सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण या समाजीकरण चाहते हैं, जबकि संविधान इसकी इजाज़त नहीं देता। ये सोशलिस्ट चाहे जो भी हों, लेकिन वे यदि ऐसा कह रहे थे तो सोलह आने उचित बात कह रहे थे। जनता की श्रमशक्ति को लूटकर पूँजी का अम्बार खड़ा करने वालों और कल-कारख़ानों-ज़मीन का मालिकाना हासिल करने वाले लुटेरों की सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण करते समय मुआवज़े देने का भला क्या औचित्य है? इसमें दलित जातियों का भला क्या हित है? ज़मीन्दारों-जागीरदारों और पूँजीपतियों को सम्पत्ति का मुआवज़ा भी तो सरकार जनता के पैसे से ही देती! क्या इतना पर्याप्त नहीं होता कि कोई वास्तविक जनवाद उन्हें आम नागरिक के समान काम करने और जीने का अधिकार प्रदान करता! अम्बेडकर सम्पत्तिशालियों को मुआवज़े देने की इतनी तरफ़दारी क्यों करते हैं? संविधान सभा में बैठे, देश के 11.5 प्रतिशत लोगों के प्रतिनिधियों का तो वे इतना गुणगान करते हैं, लेकिन बिना मुआवज़ा दिये सम्पत्ति का राष्ट्रीकरण करने की माँग करने वालों पर एकदम लाल-पीले हो जाते हैं! क्या यह सोचने की बात नहीं है कि क्यों?

आगे अपने भाषण में अम्बेडकर जाति-धर्म जैसे पुराने शत्रुओं और कई राजनीतिक पार्टियों (लेकिन जिस संसदीय जनवाद के वे हामी थे उसमें कई राजनीतिक पार्टियाँ तो होनी ही थीं) के होते हुए, राजनीतिक विरोधाभासों के चलते आज़ादी और लोकतान्त्रिक संविधान को ख़तरे में पड़ने से बचाने के लिए भारतवासियों से मतों और पन्थों से देश को ऊपर रखने की अपील करते हैं। यहाँ वे अपने चिरशत्रु गाँधी की भाषा बोलते नज़र आते हैं। अचानक उन्हें यह कैसे लगने लगा कि सवर्ण जातियाँ देशहित में जातिगत उत्पीड़न बन्द कर देंगी अथवा साम्प्रदायिक तत्व अपने संकीर्ण मत या पन्थ से ऊपर उठ जायेंगे? इसके बाद उन्होंने न केवल बौद्ध गणराज्यों की बल्कि प्राचीन हिन्दू राजाओं के लोकतन्त्र का भी गुणगान किया है। यह इतिहास का सर्वविदित तथ्य है कि पुराने बौद्ध गणराज्यों में भी समाज में न केवल वर्गीय पद सोपानक्रम, बल्कि जातिगत उत्पीड़न भी मौजूद था। यह समझना तो और भी मुश्क़िल है कि अचानक हिन्दू राजा अम्बेडकर को इतने प्रिय कैसे लगने लगे?

अपने इस भाषण में अम्बेडकर ने संविधान को "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" की संज्ञा दी है। यही वह "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" है जिसका निर्माण 11.5 प्रतिशत कुलीनों के प्रतिनिधियों ने किया था, जिसके प्रावधानों के तहत 1975 में आपातकाल लगा था और जिसके तहत होने वाले संसदीय चुनावों में पूँजी की ताक़त का नंगा खेल पिछले छह दशकों से निर्बाध जारी है। यही "राजनीतिक लोकतन्त्र की विशाल संरचना" है जो पिछले छह दशकों से उन दलितों को चक्की की तरह पीस रही है, अम्बेडकर जिनके हितों के सबसे बड़े पैरोकार थे। यही वह लोकतन्त्र है जिसमें 77.5 प्रतिशत आबादी आज भी 20 रुपये रोज़ से कम पर जीती है, जबकि ऊपर के दस प्रतिशत लोग ऐश्वर्य और विलासिता के टापुओं पर बसेरा करते हैं। अम्बेडकर इसी लोकतन्त्र को बचाने के लिए सबसे अधिक चिन्तित थे और अपने भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा कि हमें क्रान्ति के बेकार तरीक़ों को छोड़ना होगा और संवैधानिक तरीक़ों पर दृढ़ रहना होगा। बुर्जुआ जनवाद की इससे बड़ी सेवा भला और क्या हो सकती है कि जिन्हें विद्रोह करने की सबसे अधिक ज़रूरत थी (और है), उन्हीं दलितों को उन्हीं का मसीहा संघर्ष के रास्ते से अलग रहने और संविधान-क़ानून की "पवित्रता" को अलंघ्य मानने की नसीहत दे गया!

आगे अपने भाषण में अम्बेडकर धनी-ग़रीब के बीच की खाई और बहुसंख्यक जनता की नारकीय दरिद्रता की चर्चा करते हैं। वे स्वाधीनता और लोकतान्त्रिक ढाँचे को बनाये रखने के लिए तथा जनता को वर्ग-युद्ध के रास्ते पर जाने से रोकने के लिए सरकार से कुछ सामाजिक-आर्थिक सुधारमूलक क़दम की अपेक्षा करते हैं (‘आर्थिक शोषण से मुक्ति’ के उनके हवाई सुझाव तो पहले ही ख़ारिज किये जा चुके थे) लेकिन ग़रीबों को वे बार-बार यही उपदेश देते हैं कि वे संविधान और क़ानून के ख़िलाफ़ कदापि न जायें।

अम्बेडकर के इस भाषण के बाद कांग्रेसी और अन्य सदस्यों ने उनकी प्रशंसा की झड़ी लगा दी और उन्हें “आधुनिक मनु” की संज्ञा दी। कांग्रेस के प्रति आत्मसमर्पण का दृश्य पूरा हो चुका था।

इसके बाद चार वर्षों तक अम्बेडकर इन्तज़ार करते रहे। उन्हें न तो मनचाहा मन्त्रालय मिला, न ही उन्हें किसी अन्य नयी गठित कमेटी में ही लिया गया। 1952 में वे राज्यसभा के सदस्य बने। 1953 में राज्यसभा में ‘आन्ध्र राज्य के बिल’ पर बोलते हुए उन्होंने कहा: “सब लोग मुझे संविधान का निर्माता कहते हैं। वास्तव में मुझे बहुत सी बातें अपनी इच्छाओं के विरुद्ध लिखनी पड़ी थीं। अब मैं उस संविधान से सन्तुष्ट नहीं हूँ जिसे मैंने स्वयं लिखा। मैं पहला व्यक्ति होऊँगा जो इसे जलाने के लिए आगे आयेगा। यह संविधान किसी के लिए भी उपयोगी नहीं है।” (रंगनायकम्मा: उपरोद्धृत पुस्तक, पृ. 452-453)।

अब जैसाकि हम ऊपर स्वयं अम्बेडकर के ही मुँह से सुन चुके हैं (और यह इतिहास का तथ्य है) कि संविधान के मुख्य वास्तुकार नौकरशाह राव और मुखर्जी थे। उनके द्वारा प्रस्तुत मसौदे में प्रारूप कमेटी में विचार-विमर्श के बाद बहुमत से जोड़-घटाव किया गया। अम्बेडकर की भूमिका उस प्रारूप कमेटी के अध्यक्ष के तौर पर जोड़े-घटाये गये अंशों की ‘ड्राफ्टिंग’ करने मात्र की थी। अतः अम्बेडकर द्वारा स्वयं को “संविधान का लेखक” कहना ग़लत है। दूसरी बात, अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ बहुतेरी बातें लिखने की ऐसी क्या विवशता थी? अम्बेडकर संविधान सभा या प्रारूप कमेटी से बाहर क्यों नहीं आ गये? तीसरी बात, यदि अपनी मर्ज़ी के ख़िलाफ़ बहुतेरी बातें लिखनी ही पड़ीं तो नवम्बर 1947 के अपने भाषण में इतने अत्युक्ति अलंकार में संविधान की श्रेष्ठता-महानता का प्रशस्ति-गान करने की और संविधान-निर्माता सहयोगियों का गुण बखानने की भला क्या मजबूरी थी? चौथी बात, संविधान लागू होने के चार वर्षों के भीतर ही ऐसा क्या घटित हो गया कि संविधान से अम्बेडकर का इस क़दर मोहभंग हो गया कि वे उसे जलाने को तैयार हो गये? पाँचवीं बात, यदि ऐसा हो ही गया तो तत्क्षण वे मन्त्री पद और राज्यसभा से इस्तीफ़ा देकर बाहर क्यों नहीं आ गये?

इस भाषण के बाद अम्बेडकर सितम्बर 1955 तक विधिमन्त्री बने रहे और श्रम या योजना मन्त्रालय जैसा पसन्द का मन्त्रालय पाने का इन्तज़ार करते रहे। फिर निराश होकर उन्होंने इस्तीफ़ा दे दिया। येन्दूलूरी की तेलुगू पुस्तक के हवाले से रंगनायकम्मा ने बताया है (पृ. 451) कि अम्बेडकर ने अपने इस्तीफ़े के चार कारण बताये थे: पहला, मनचाहा मन्त्रालय न मिलना; दूसरा, दलितों की सुरक्षा की सरकार द्वारा समुचित व्यवस्था न होना; तीसरा, विदेश नीति से असहमति; और चौथा, मन्त्रियों की कमेटियों के निर्णयों के अनुचर जैसी स्थिति! ऐसा लगता है कि इनमें पहला कारण ही प्रधान था और यह विशुद्ध व्यक्तिगत पसन्द का मामला था, न कि उसूली मामला था। जहाँ तक दूसरे कारण का सवाल है, अम्बेडकर ने सरकार से दलितों की सुरक्षा की अपेक्षा किस आधार पर की थी, पूछा यह जाना चाहिए। दलितों और समूची जनता को तो हर हाल में वे

संविधान व क़ानून की चौहद्दी में रहने की नसीहत पहले ही दे चुके थे। अब जबकि सरकार दलित-हितों की अनदेखी कर रही थी और वे स्वयं संविधान को जलाने के मूड में आ गये थे; तो उन्होंने यह नहीं बताया कि दलित क्या करें – संविधान जलायें (यह तो घोर असंवैधानिक व ग़ैरक़ानूनी कृत्य है और आन्दोलन का एक रूप भी) या संविधान में संशोधन के लिए कुछ करें! बहुतेरे बुर्जुआ दलित नेता भले ही संविधान में छेड़छाड़ को अम्बेडकर की शान में गुस्ताख़ी समझते हों, अम्बेडकर ने नवम्बर 1947 के अपने भाषण में स्पष्ट कहा था कि आने वाले समय में आवश्यकतानुसार इसे बदला जा सकता है! लेकिन तब संविधान-संशोधन के बजाय वे स्वयं उसे जलाने की बात क्यों करने लगे और यदि करने ही लगे तो पूरे देश की जनता और दलितों को ऐसा करने के लिए कहा क्यों नहीं!

मन्त्रीपद से अपने इस्तीफ़े के तीसरे कारण के विस्तार में अम्बेडकर गये ही नहीं और चौथे कारण से तो ऐसा लगता है कि वे मन्त्रियों के निर्णय लेने के निरंकुश अधिकार के पक्षधर थे!

बहरहाल, उत्तरकथा यह है कि मन्त्रीपद से इस्तीफ़े के बाद, अम्बेडकर के जीवन का अगला महत्त्वपूर्ण क़दम था 1956 में बौद्ध धर्म ग्रहण कर लेना। 1936 में धर्म-परिवर्तन के फ़ैसले की घोषणा के बीस वर्षों बाद उन्होंने इसे अमली जामा पहनाया। बौद्ध धर्म की अपने समय में जो सीमित प्रगतिशील भूमिका रही थी, या उसकी जो दार्शनिक अन्तर्वस्तु थी, या शासक वर्गीय हितों के साथ उसके समझौते और पतन-विघटन की जो प्रक्रिया रही थी, उस ऐतिहासिक विमर्श में अम्बेडकर जाते ही नहीं। अन्तिम विश्लेषण में, हर धर्म की तरह बौद्ध धर्म भी अस्तित्वमान शोषणकारी सम्बन्धों के पक्ष में खड़ा होता है। अम्बेडकर इस मार्क्सवादी स्थापना का भी कोई तर्कपूर्ण प्रतिवाद नहीं करते। बौद्ध धर्म में समाधान ढूँढ़ते हुए वे अतार्किक ढंग से बौद्ध ग्रन्थों की कुछ कथाएँ सुनाते हैं और निहायत अधकचरा धार्मिक यूटोपिया प्रस्तुत करते हैं। वे यह भी नहीं बताते कि यदि आधुनिक युग की समस्याओं का समाधान बौद्ध धर्म में है तो बौद्ध धर्मानुयायी देशों में भी सामन्ती और पूँजीवादी शोषण और समस्याएँ क्यों मौजूद थीं। अम्बेडकर का अनुगमन करते हुए देश के कुछ हिस्सों में कुछ दलित बौद्ध बने, पर उन्हें "नवबौद्ध" कहा गया। "नवबौद्ध" शब्द दलित शब्द का ही पर्यायवाची बन गया और दलित जातियों का सामाजिक पार्थक्य और उत्पीड़न यथावत् बना रहा। आरक्षण ने आम दलितों की समस्या का कितना समाधान किया है, साठ वर्षों की यह हक़ीक़त भी हमारे सामने है!

अपने ही बनाये संविधान से अम्बेडकर तो नाराज़ हो गये, पर दलितों को कोई वैकल्पिक मार्ग नहीं सुझा गये। हाथ में संविधान लिये उनकी मूर्ति आज भी देशव्यापी प्रतिष्ठाप्राप्त है। दलित-मुक्ति की कोई परियोजना समस्त शोषित- उत्पीड़ित मेहनतकशों के मुक्ति-संघर्ष के एक हिस्से के तौर पर ही आगे क़दम बढ़ा सकती है। लेकिन कम्युनिस्ट आन्दोलन की अपनी विचारधारात्मक कमज़ोरियों के अतिरिक्त डॉ. अम्बेडकर का संविधानवादी-क़ानूनवादी नज़रिये का व्यापक प्रभाव भी एक कारण है कि दलित जातियों के मेहनतकश जनसमुदाय की भारी आबादी के बीच बुर्जुआ संसदीय विभ्रम आज भी गहराई से जड़ जमाये हुए हैं जिनका लाभ उठाकर भाँति-भाँति की दलित बुर्जुआ राजनीतिक धाराएँ उभरती और विघटित होती रहती हैं और पूँजी के कुछ टुकड़ख़ोर चाकर दलित नेता का चोंगा पहनकर वोटों की फ़सल काटते रहते हैं तथा अपनी गोट लाल करते रहते हैं।

प्रश्न अम्बेडकर की नीयत और सदिच्छाओं का नहीं है। इतिहास में फ़ैसला इस बात से होता है कि नेता या सिद्धान्तकार-विशेष के सिद्धान्त या राजनीतिक विचार निर्दिष्ट लक्ष्य की पूर्ति में मददगार हैं अथवा नहीं!

इसी दृष्टि से डॉ. अम्बेडकर के विचारों और उनके सामाजिक-राजनीतिक अमल के वस्तुपरक विश्लेषण की ज़रूरत है! यहाँ संविधान-निर्माण में अम्बेडकर की भूमिका तथा संविधान और क़ानून के बारे में उनके विचारों का एक विश्लेषण इसी दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।

दलित प्रश्न का समाधान न "राजकीय समाजवाद" है, न शहरीकरण, न धर्मान्तरण, न आरक्षण। बुर्जुआ वर्ग द्वारा तय की गयी संवैधानिक व क़ानूनी चौहद्दी के भीतर दलित मेहनतकश सिर्फ़ रियायतों की भीख पा सकता है तथा इस या उस सजातीय भ्रष्ट नेता या जातीय आधार पर गठित पार्टी का वोट बैंक बना रहकर मुक्ति पाने की मृग मरीचिका में भटकता रह सकता है। मुक्ति का एकमात्र व्यावहारिक मार्ग यही हो सकता है कि दलित जातियों के मेहनतकश वर्ग-संघर्ष में सर्वहारा पाँतों में अपनी ज़्यादा से ज़्यादा सक्रिय एवं प्रभावी दख़ल बनायें। संशोधनवादियों के कुकर्मों और पाखण्डों का पाप कम्युनिज़्म के सिद्धान्तों के मत्थे नहीं मढ़ा जा सकता। कम्युनिस्ट आन्दोलन की तमाम विफलताओं के बावजूद, सच्चाई यह भी है कि देश में जहाँ भी कभी कम्युनिस्ट गाँव के ग़रीबों की लड़ाई लड़े हैं, वहाँ के ग़रीब दलित आज भी अधिक सम्मान से सिर उठाकर चलते हैं। मार्क्सवाद सहस्राब्दियों से मौजूद जाति-प्रश्न का चुटकी बजाते जादुई हल नहीं बताता। सर्वहारा राज्यसत्ता 'सबके लिए समान शिक्षा और रोज़गार के समान अवसर' की गारण्टी से समस्या के हल की दिशा में पहला बुनियादी क़दम उठायेगी। समाजवादी शिक्षा और संस्कृति अन्तर्जातीय 'रोटी-बेटी' के रिश्तों को भरपूर बढ़ावा देगी। जातिगत आधार पर जो सांस्कृतिक-सामाजिक पार्थक्य है, वह सतत् सांस्कृतिक क्रान्ति की एक लम्बी प्रक्रिया के बाद ही जड़ से नष्ट हो सकेगा। मेहनतकशों की राजनीतिक मुक्ति के क्रान्तिकारी संघर्ष में दलित मेहनतकशों की भागीदारी और आर्थिक-राजनीतिक संघर्ष के साथ सांस्कृतिक-सामाजिक आन्दोलन की अनिवार्य मौजूदगी – जाति प्रश्न के आमूलगामी समाधान की राह यहीं से फूटती है।

संविधान की प्रस्तावना : लोक-लुभावन लफ्फाज़ी के साथ रचा गया प्रपंच

“**हम**, भारत के लोग भारत को एक **सम्प्रभुता-सम्पन्न समाजवादी धर्मनिरपेक्ष जनवादी गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक **न्याय**,

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म

और उपासना की **स्वतन्त्रता**,

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**

प्राप्त कराने के लिए,

तथा उन सबमें

व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और

अखण्डता सुनिश्चित करने वाली **बन्धुता**

बढ़ाने के लिए

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख़ 26 नवम्बर 1949 ई. को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।”**

भारतीय संविधान अपनी प्रस्तावना में इन महत् उद्देश्यों की बड़बोली घोषणा करते हुए शुरू होता है। देश के 15 प्रतिशत अभिजातों की नुमाइन्दगी करने वाली संविधान सभा के सदस्यों ने पूरे भारत की जनता की ओर से यह घोषणा की। यहाँ यह उल्लेख भी ज़रूरी है कि मूल प्रस्तावना में भारत को सिर्फ ”सम्प्रभुता सम्पन्न जनवादी गणराज्य” (सॉवरेन डेमोक्रेटिक रिपब्लिक) ही लिखा गया था। ”समाजवादी” और ”धर्मनिरपेक्ष” शब्द 1976 में आपातकाल के दौरान बयालीसवें संशोधन द्वारा जोड़े गये थे। इस संशोधन का विडम्बनापूर्ण समय भी उल्लेखनीय था। उस समय इन्दिरा गाँधी की सरकार ने देश में आपातकाल लागू करके रही-सही नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों को भी समाप्त कर दिया था। नेहरूवादी ”समाजवाद” की नीतियों को फासिस्ट निरंकुशता की इस विडम्बनापूर्ण परिणति तक पहुँचना ही था। उस आपातकाल की समाप्ति के बाद पुराने दक्षिणपन्थी कांग्रेसी और नेहरूपन्थी ”समाजवाद” के धुर-विरोधी मोरारजी देसाई के नेतृत्व में जो पहली गैर-कांग्रेसी सरकार केन्द्र में अस्तित्व में आयी, जनता पार्टी सरकार की उस खिचड़ी में सबसे बड़ा और संगठित धड़ा आर.एस.एस. प्रवर्तित जनसंघ था जो ”समाजवाद” ही नहीं, सीमित बुर्जुआ धर्मनिरपेक्षता का भी धुर-विरोधी था। बयालीसवें संविधान संशोधन द्वारा ही ‘राष्ट्र की एकता’ के स्थान पर ‘राष्ट्र की एकता और अखण्डता’ शब्दावली रख दी गयी थी। यह बदलाव भी तत्कालीन इन्दिरा निरंकुशशाही के अतिकेन्द्रीकृत सत्ता और एकता-अखण्डता की रक्षा के नाम पर हर विरोध को कुचल देने की इच्छा और ज़रूरत को ही रेखांकित करता था।

“हम भारत के लोग” यह हूबहू वही जुमला था जिससे 1787 के फिलाडेल्फिया कन्वेंशन ने अमेरिकी संविधान की शुरुआत की थी। “हम संयुक्त राज्य के लोग”...! वैसे देखें तो अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना की यह शब्दावली भी एक धोखाधड़ी थी! फिलाडेल्फिया कन्वेंशन न तो अश्वेत दासों का प्रतिनिधित्व करता था, न ही अमेरिकी संविधान ने दासता का उन्मूलन किया था। भारतीय संविधान सभा भी बहुसंख्य जनसमुदाय का प्रतिनिधित्व नहीं करती थी और आगे चलकर भी उस संविधान को भारत के लोगों के चुने हुए प्रतिनिधियों के किसी निकाय द्वारा पारित नहीं किया गया। भारतीय बुर्जुआ जनवाद के कुछ उत्साही पैरोकार दावा करते हैं कि किसी भी पश्चिमी देश ने अपने जनवाद के उद्भव के समय स्त्रियों को मताधिकार नहीं दिया, जबकि भारतीय संविधान ने ऐसा किया। ऐसे लोग ज़मीनी हक़ीक़त पर काग़ज़ी घोषणाओं को प्राथमिकता देते हैं। ज़मीनी सच्चाई यह है कि हमारे समाज के ताने-बाने में स्त्रियों की जो स्थिति बनती है, उसमें चुनने और चुने जाने का अधिकार मिलने के छह दशक बाद भी निजी, सामाजिक और राजनीतिक मामलों में उनकी निर्णय की स्वतन्त्रता का ‘स्पेस’ अत्यन्त संकुचित है तथा उनकी नागरिकता दोयम दरजे की है। पश्चिमी बुर्जुआ जनवादी देशों में स्त्रियों को जब मताधिकार नहीं मिला था, तब भी दोयम दरजे की नागरिकता और पुरुष वर्चस्ववाद के बावजूद निजी और सामाजिक मामलों में उनकी स्थिति भारतीय स्त्रियों से बेहतर थी। एक और दावा यह भी किया जाता है कि भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता का उन्मूलन करके सामाजिक समावेशन और दलित जातियों की प्रगति की राह खोल दी। ग़ौरतलब है कि इस मामले में भारतीय संविधान और लोकतन्त्र (जनवाद) की विफलता को तो पाँच-छह वर्ष बीतते-बीतते डॉ. अम्बेडकर भी स्वीकार कर चुके थे। आरक्षण जैसे प्रावधानों ने भी बहुसंख्यक दलितों को समाज के सबसे निचले पायदान से और उजरती ग़ुलामों की सबसे अपमानित पाँत से ऊपर उठाने के बजाय उनके बीच से एक छोटी-सी जमात को आर्थिक रूप से बेहतर जीवन दे दिया है (हालाँकि सामाजिक अपमान और पार्थक्य का सामना उन्हें भी करना पड़ता है)। भारतीय पूँजीवाद यदि ”उपनिवेशीकरण और क्रमिक-विलम्बित विकास” की ऐतिहासिक प्रक्रिया के बजाय ”पुनर्जागरण/धर्मसुधार-प्रबोधन-बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति” की स्वाभाविक प्रक्रिया से विकसित हुआ होता तो पूँजीवादी शोषण-उत्पीड़न के बावजूद यहाँ स्त्रियों और दलितों की बेहतर सामाजिक स्थिति होती और उन्हें वास्तव में सापेक्षत: अधिक जनवादी अधिकार हासिल होते, चाहे संविधान की किताब में उनका उल्लेख होता या नहीं। औपनिवेशिक शासन-विधान (1935 के क़ानून) की निरन्तरता में और उसकी मूल अन्तर्वस्तु को अपनाकर बनाया गया भारत का संविधान जनवादी आदर्शों की चाहे जितनी लफ्फाज़ी करे, उनके अमल को सुनिश्चित करने का कोई ठोस प्रावधान नहीं करता। रही-सही कोर-कसर औपनिवेशिक क़ानूनी ढाँचा और निरंकुश नौकरशाही ढाँचा पूरी कर देता है। यूरोप और अमेरिका की पूँजीवादी जनवादी क्रान्तियों के बाद सत्तारूढ़ बुर्जुआ वर्ग ने जनाकांक्षाओं के साथ विश्वासघात किया और जनमुक्ति के परचम को धूल में फेंक दिया। फिर भी क्रान्तियों की लहर ने जनजीवन में जो वैचारिक-सामाजिक-सांस्कृतिक उद्वेलन पैदा किया था, उससे जनता के भीतर नागरिक आज़ादी और जनवादी अधिकारों की जो सजगता पैदा हुई थी, उसे शासक वर्ग पूरी तरह से दबा नहीं सकता था। यह स्थिति एक हद तक उन देशों के संविधानों में भी परावर्तित और अभिव्यक्त होती है। भारत में जिस प्रकार पूँजीवादी विकास क्रान्तिकारी प्रक्रिया से न होकर क्रमिक प्रक्रिया से हुआ, ”नीचे से” न होकर ”ऊपर से” हुआ, नैसर्गिक गति के बजाय, विकृत-विलम्बित गति से हुआ, उसी प्रकार संविधान भी ऊपर से लादा गया, जो उत्तरऔपनिवेशिक भारत की वास्तविक सामाजिक स्थिति को परावर्तित करने के बजाय भारतीय पूँजीपति वर्ग की

वास्तविक स्थिति, विवशताओं, ऐतिहासिक सीमाओं और उनसे पैदा हुई धूर्तताओं को अभिव्यक्ति देता था। बेशक पिछले छह दशकों के दौरान स्त्रियों और दलितों की सामाजिक-राजनीतिक स्थिति में कुछ सुधार हुए हैं, पर क्रमिक विकास से इतना बदलाव तो इतिहास-विकास की स्वाभाविक गतिकी है। इतना बदलाव तो किसी भी पूँजीवादी सत्ता को टिकाऊ बनाने के लिए ज़रूरी होता है। निरंकुश सर्वसत्तावादी बुर्जुआ शासन टिकाऊ नहीं हो सकता। सीमित से सीमित बुर्जुआ जनवादी अधिकार देने वाली पूँजीवादी सत्ता भी शोषित-उत्पीड़ित जनसमुदाय के ऊपर अपना राजनीतिक-वैचारिक वर्चस्व (अपने शासन के लिए सहमति प्राप्त करने के लिए) स्थापित करने के लिए कुछ जनवादी सुधारों और अपने "मानवीय चेहरे" का दिखावा करती रहती है तथा शोषित जनसमुदाय के कुछ अग्रणी एवं मुखर लोगों को व्यवस्था में सहयोजित (को-ऑप्ट) करके अपने सामाजिक अवलम्बों-आधारों का विस्तार करती रहती है। पूर्ववर्ती शासक वर्गों के वर्ग-अधिनायकत्व के मुकाबले इसी मायने में पूँजीपति वर्ग के वर्ग-अधिनायकत्व (उसकी राज्यसत्ता) के चरित्र की एक बुनियादी भिन्नता होती है। हर किस्म का पूँजीवादी जनवाद पूँजीपति वर्ग का बहुसंख्यक जनसमुदाय पर स्थापित वर्ग-अधिनायकत्व होता है, पर देश-विशेष का पूँजीपति वर्ग शासित जनता को कितने जनवादी अधिकार देता है, यह इस पर निर्भर करता है कि उक्त देश में पूँजीवादी विकास की ऐतिहासिक प्रक्रिया कैसी रही है, वहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास का स्तर कितना उन्नत है, नीचे से संगठित किसी रैडिकल सामाजिक बदलाव से निर्बन्ध होने वाली जनता की चेतना और आकांक्षा को नियंत्रित कर पाने में शासक वर्ग कितना सक्षम है, पूँजीवादी व्यवस्था के संकटों को झेल पाने में वह कितना सक्षम है तथा विश्व-पूँजीवाद के चौधरियों (साम्राज्यवादियों) के अधीन उसकी मातहती कितनी कम या ज़्यादा है! आगे जब हम 'सम्प्रभुता' की चर्चा करेंगे तो यह आख़िरी वाली बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी। भारतीय पूँजीपति वर्ग न तो साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद कर सकता था, न ही किसी रैडिकल भूमि क्रान्ति (नीचे से भूमि क्रान्ति) से निर्बन्ध हुई जन ऊर्जा के आवेग को सँभाल सकता था, इसीलिए स्वाभाविक था कि वह जनता को सीमित जनवाद ही दे सकता था। लेकिन क्रमिक विकास से सामाजिक स्थितियों और चेतना में कुछ बदलाव तो लाज़िमी तौर पर होने ही थे (ये बुर्जुआ शासन की निरन्तरता के लिए ज़रूरी भी थे)। इतिहास की इस अपरिहार्य गति का श्रेय भारतीय संविधान के "प्रगतिशील" या "जनवादी" चरित्र को नहीं दिया जा सकता।

यहीं पर यह ज़रूरी लगता है कि दृष्टिकोण की स्पष्टता के लिए, मूल प्रसंग से थोड़ा हटते हुए, बुर्जुआ जनवाद के बारे में थोड़ी चर्चा और कर ली जाये।

अपने शुरुआती चिन्तन के दौर से ही मार्क्स का मानना था कि सच्चा जनवाद तो राज्य के विलोपन तथा राज्य और नागरिक समाज के बीच के विभाजन की समाप्ति के बाद ही अस्तित्व में आ सकता है। जब तक शासक और शासित के बीच विभाजन रहेगा तब तक राजनीतिक दायरे में पूरे समाज के हित साझा नहीं हो सकते और समाज भी एकजुटता और समान हितों के जैविक तन्त्र के रूप में संगठित नहीं हो सकता। आगे चलकर, पेरिस कम्यून की उन्होंने इसीलिए प्रशंसा की कि इसके प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों के औपचारिक अनुदेशों से बँधे हुए थे और उन्हें कभी भी वापस बुलाया जा सकता था। कम्यून कार्यपालिका भी था और विधायिका भी। संसद में शासक वर्ग के कौन से प्रतिनिधि जनता का तीन या छह वर्षों तक छद्म प्रतिनिधित्व करेंगे, इसके बजाय सार्विक मताधिकार कम्यूनों में संगठित जनसमुदाय की वास्तविक हितपूर्ति करता था। कम्यून सर्वहारा अधिनायकत्व का पहला मॉडल था जो सिद्ध करता था कि सर्वहारा का वर्ग-

शासन किसी भी बुर्जुआ जनवाद से सैकड़ों गुना अधिक जनवादी होगा। बुर्जुआ जनवाद के बारे में मार्क्स का विचार था कि सार्विक मताधिकार, राजनीतिक आज़ादी, विधि का शासन और राजनीतिक प्रतियोगिता इसकी मुख्य अभिलाक्षणिकताएँ होती हैं। पूँजीवादी जनवादी गणराज्य का संविधान बुर्जुआ वर्ग की सामाजिक सत्ता का अनुमोदन करता है और उसका आधार तैयार करता है लेकिन साथ ही जनवादी स्थितियाँ विरोधी वर्गों को बुर्जुआ सत्ता की राजनीतिक गारण्टी के विरुद्ध संगठित होने और इस पर चोट करने का आधार मुहैया करा देती हैं। मार्क्स की स्थापनाओं को और अधिक स्पष्ट तथा विकसित-विस्तारित करते हुए लेनिन ने सामान्य तौर पर "जनवाद" की बात करने को एक उदारतावादी विभ्रम बताया। उनके अनुसार, बुर्जुआ जनवाद राज्य के किसी भी अन्य रूप की तरह वर्ग शासन का एक रूप होता है जिसे ध्वस्त कर सोवियतों (लोक पंचायतों) की व्यवस्था के रूप में सर्वहारा अधिनायकत्व क़ायम करना होता है। यह पहले की किसी भी व्यवस्था के मुकाबले अधिक जनवादी होती है। साथ ही, लेनिन ने बुर्जुआ जनवाद की और गहरी पड़ताल करते हुए स्पष्ट किया कि अपना प्रभुत्व क़ायम रखने के लिए बुर्जुआ वर्ग कभी बल-प्रयोग और पुरानी एवं कालातीत संस्थाओं को सहारा देने का रूढ़िवादी तरीका अपनाता है तो कभी सुधारों, रियायतों, राजनीतिक अधिकारों के विकास की "उदारतावादी" कार्यनीति अपनाता है। ये तरीके कभी पारी-पारी से इस्तेमाल होते हैं तो कभी एक-दूसरे से गुँथे-बुने होते हैं। इनका मूल कारण बुर्जुआ वर्ग की अपनी स्थिति की आधारभूत अन्तरविरोधी प्रकृति है। दृढ़तापूर्वक स्थापित प्रतिनिधिमूलक व्यवस्था और नागरिकों को (हालाँकि संस्तर के हिसाब से अलग-अलग मात्रा में) कुछ निश्चित राजनीतिक अधिकार दिये बिना सामान्य पूँजीवादी समाज का सफल विकास नहीं किया जा सकता। ऐसे समाज की चेतना व संस्कृति का धरातल ऊँचा करने की अपेक्षा होगी। यह अपेक्षा ऊँची तकनीक, जटिलता, नमनीयता, गतिशीलता, विश्व-प्रतिद्वन्द्विता आदि के तीव्र विकास के साथ स्वयं पूँजीवादी उत्पादन-प्रणाली की परिस्थितियों से ही पैदा होती है। लेनिन ने इस बात पर बल दिया कि आम तौर पर पूँजीवाद, और खास तौर से साम्राज्यवाद जनवाद को एक भ्रम बना देता है, लेकिन इसके साथ ही पूँजीवाद जन साधारण में जनवादी आकांक्षाएँ पैदा करता है, जनवादी संस्थाओं का निर्माण करता है तथा जनवाद को अस्वीकृत या संकुचित या भ्रम बनाने वाले साम्राज्यवाद तथा जनवाद की चाहत रखने वाले जन समुदाय के बीच के विरोध को तीखा करता है। पूँजीवाद का नाश केवल आमूलगामी सामाजिक-आर्थिक-राजनीतिक क्रान्ति द्वारा ही हो सकता है, पर इस क्रान्ति की अगुवाई वही सर्वहारा कर सकता है, और उसके नेतृत्व में वही मेहनतकश जन इसे अंजाम दे सकते हैं जो जनवाद के संघर्ष में शिक्षित हों। बुर्जुआ वर्ग का तख्ता पलटने की तैयारी में सर्वहारा वर्ग बुर्जुआ वर्ग के ख़िलाफ स्वयं उसी द्वारा सृजित एवं विकृत की जाने वाली जनवादी संस्थाओं एवं आकांक्षाओं का इस्तेमाल करता है। ऐसा यदि वह नहीं करता है तो संघर्ष का एक बड़ा मैदान अवसरवादियों-सुधारवादियों के लिए छोड़ देता है, जिससे पूँजीवादी व्यवस्था को काफी राहत और ताक़त मिल जाती है।

जब हम भारत के संविधान और जनवाद (लोकतन्त्र) की बुर्जुआ अन्तर्वस्तु और ऐतिहासिक विशिष्टताओं की चर्चा कर रहे हैं तो संविधान की प्रस्तावना की विवेचना से शुरुआत करते समय ही पूँजीवादी जनवाद के प्रति मार्क्सवादी पहुँच-पद्धति विषयक इन आम प्रस्थापनाओं का संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक था। हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय संविधान में उल्लिखित जनवाद पूरी तरह से दिखावा था। बेशक यह अति संकुचित था और विकृत था, क्योंकि यह उस बुर्जुआ वर्ग का जनवाद था, जो उपनिवेशवाद के गर्भ से जन्मा था, "समझौता-दबाव-समझौता" की रणनीति अपनाकर तथा साम्राज्यवादी विश्व के संकटों-अन्तरविरोधों का लाभ उठाकर राजनीतिक सत्ता

हासिल करने की मंज़िल तक पहुँचा था तथा साम्राज्यवादी सदी के मधयाह्न में सत्तारूढ़ हुआ था। यह न तो साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद कर सकता था, न ही क्रान्तिकारी ढंग से प्राक्-पूँजीवादी भूमि सम्बन्धों को तोड़ सकता था। अत: इसका जनवाद अति सीमित था। फिर भी, राष्ट्रीय आन्दोलन के दौरान जनता को साथ लेने की प्रक्रिया में इसने जनवादी आकांक्षाएँ पैदा की थीं और (साम्राज्यवाद का कनिष्ठ साझीदार होने के बावजूद) औद्योगिक पूँजीपति वर्ग होने के नाते, इसके पूँजीवादी उत्पादन एवं विनिमय तन्त्र के विस्तार के लिए भूमि सम्बन्धों का मंथर-क्रमिक रूपान्तरण भी इसके लिए ज़रूरी था तथा बुर्जुआ जनवादी संस्थाओं की मौजूदगी भी, चाहे उनका रूप जितना भी संकुचित, विकृत और मुख्यत: रस्मी ही क्यों न हो! आश्चर्य नहीं कि वैश्विक और अन्दरूनी संकटों का दबाव इसे ज़्यादा से ज़्यादा रस्मी और विकृत होने तथा क्षरित-विघटित होने की दिशा में धकेल रहा है। ऐसे में, विभिन्न सुधारवादी-उदारवादी और छद्म वामपन्थी शक्तियाँ विविध रूपों में इसी व्यवस्था के भीतर विरोध पक्ष की प्रतिसन्तुलनकारी भूमिका निभा रही हैं, दूसरी-तीसरी सुरक्षा पंक्ति की भूमिका निभा रही हैं। दमन-दबाव और उदारतावाद की नीतियाँ साथ-साथ मिले रूपों में सामने आ रही हैं।

अब फिर हम भारतीय संविधान की प्रस्तावना में घोषित आभासी तौर पर उदात्त उच्चादर्शों की सच्चाई उद्घाटित करने की मूल विषयवस्तु पर वापस लौटते हैं। पहले चर्चा की जा चुकी है कि स्त्रियों को मताधिकार और अस्पृश्यता के उन्मूलन जैसी संविधान की घोषणाएँ निहायत रस्मी और खोखली थीं। इन घोषणाओं के पीछे संविधान के रैडिकल चरित्र की नहीं बल्कि विशेष ऐतिहासिक दौर की भूमिका थी। इन घोषणाओं में न तो ज़मीनी हक़ीक़त प्रतिबिम्बित होती थी, न ही उसे बदलने में उनकी कोई अहम भूमिका थी। क्रमिक गति से यदि कुछ मात्रात्मक या आंशिक गुणात्मक बदलाव आया भी, तो वह स्वाभाविक ऐतिहासिक क्रम-विकास और पूँजीवादी उत्पादन-तन्त्र की आन्तरिक ज़रूरत से आया था।

अब हम प्रस्तावना में उल्लिखित दूसरे महत्वपूर्ण शब्द "न्याय" की चर्चा करेंगे जिसे अमेरिकी संविधान की प्रस्तावना से उठा लिया गया है। इसे और अधिक प्रभावी बनाने के लिए "सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक" विशेषण जोड़ दिये गये हैं। सर्वहारा वर्ग के स्टैण्ड प्वाइण्ट से यदि सोचें तो जब तक सामूहिक उत्पादक मेहनतकश समुदाय अधिशेष के सामूहिक हस्तगतकर्ता भी न बन जायें और पूँजीवादी शोषण का खात्मा न हो जाये, तब तक आर्थिक न्याय का कोई मतलब नहीं है। उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर जब तक उत्पादक जन समुदाय काबिज़ न हो जाये और निर्णय की ताक़त उसके हाथों में न आ जाये तब तक राजनीतिक न्याय का कोई अर्थ नहीं है। वर्गीय शोषण के सभी रूपों के खात्मे की प्रक्रिया के साथ-साथ जब तक जेण्डर, जाति, नस्ल, राष्ट्रीयता, धर्म आदि पर आधारित सभी किस्म के अन्याय और शोषण-उत्पीड़न के खात्मे की प्रक्रिया आगे नहीं बढ़ेगी, तब तक सामाजिक न्याय की स्थापना का हर दावा खोखला और बेमानी है।

सामाजिक न्याय की बात करते हुए संविधान-निर्माताओं के ज़ेहन में संविधान में उल्लिखित वाद-योग्य (जिनको लेकर अदालत में जाया जा सकता हो) मूलभूत अधिकारों तथा ऐतिहासिक रूप से संरचित जेण्डर और जाति-आधारित उत्पीड़न की समाप्ति की बात थी। मूलभूत अधिकारों की असलियत पर आगे बात करेंगे। स्त्रियों और दलितों की स्थिति की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। राजनीतिक न्याय की चर्चा करते हुए संविधान-निर्माताओं के दिमाग़ में सार्विक मताधिकार की बात थी। बेशक यह एक बुर्जुआ जनवादी अधिकार था। पर आज सभी यह जानते हैं कि, आदर्श

स्थिति में भी, बुर्जुआ संसदीय प्रणाली में आम जनता का चुनने का अधिकार सिर्फ़ इस बात का होता है कि उनका प्रतिनिधित्व करने के नाम पर शासक वर्गों का कौन-सा प्रतिनिधि आगामी तीन या पाँच वर्षों तक उन पर शासन करे! संसद केवल महँगी बहसबाज़ी का अड्डा होता है और सरकारें पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाती हैं। आज के भारत में संसदीय चुनाव और संसदीय राजनीति में पूँजी और ताक़त का खेल इतने खुले और घृणित रूप में हो रहा है और भ्रष्टाचार का मैला भरा मटका इस तरह चौराहे पर फूट गया है कि सार्विक मताधिकार से राजनीतिक न्याय मिलने का दावा एक अश्लील प्रहसन बनकर रह गया है। विश्वास बहाली और 'डैमेज कण्ट्रोल' के लिए पूँजीपति वर्ग के सुलझे हुए प्रतिनिधि और स्वयं सरकार भी सक्रिय हो गयी है तथा 'सिविल सोसायटी' के सुधारवादी लोग व्यवस्था के दामन पर लगे दागों को साफ़ करने में जुट गये हैं।

सबसे भोंड़ा-भद्दा मज़ाक तो आर्थिक न्याय की बात है। मूलभूत अधिकारों का अध्याय इसके बारे में कुछ नहीं कहता। राज्य के नीति-निर्देशक सिद्धान्तों में (जो वाद-योग्य नहीं हैं, मात्र "आदर्श और लक्ष्य" हैं) इनकी सामान्य चलताऊ चर्चा है। मूलभूत अधिकारों में सम्पत्ति का अधिकार तो शामिल है, लेकिन काम करने का अधिकार नहीं। राज्य नागरिकों की बुनियादी आवश्यकताओं की पूर्ति की भी ज़िम्मेदारी नहीं लेता। ऐसे में आर्थिक न्याय की बात करना खाली कनस्टर पीटने से अधिक कुछ नहीं है। इस प्रश्न पर हम आगे फिर लौटेंगे। प्रस्तावना के अगले तीन शब्दों — "स्वतन्त्रता", "समता" और "बन्धुत्व" — में प्रबोधनकालीन राजनीतिक दर्शन और फ़्रांसीसी क्रान्ति के आदर्शों की अनुगूँजें सुनाई पड़ सकती हैं। लेकिन कुछ परिभाषात्मक विशेषण और क्रिया-विशेषण जोड़कर इनके वास्तविक अर्थ को हल्का और विकृत बना दिया गया है। जैसे "समता" की परिभाषा "प्रतिष्ठा और अवसर की समता" के रूप में की गयी है। समता के बारे में रूसो की स्पष्ट धारणा थी कि भौतिक चीज़ों तक जिनकी समान पहुँच नहीं है, उनकी क़ानून तक भी समान पहुँच नहीं हो सकती। मार्क्सवाद इस सोच को यहाँ तक विस्तार देता है कि जो भौतिक वस्तुओं तक पहुँच के मामले में बराबर नहीं, वे "अवसर" तक पहुँच के मामले में भी बराबर नहीं हो सकते। "बन्धुता" के नारे को लेकर भी ऐसा ही प्रपंच रचा गया है। कैथोलिकों और प्रोटेस्टेण्टों के बीच भयंकर धर्मयुद्धों से त्रस्त यूरोप में "बन्धुता" के मूल प्रबोधनकालीन सूत्रीकरण का निहितार्थ था विभिन्न धार्मिक विश्वासों वाले लोगों के बीच बन्धुता। धार्मिक-साम्प्रदायिक बँटवारों को पाटे बिना और वर्ग-शत्रुताओं का शमन किये बिना "राष्ट्र की एकता" सम्भव नहीं थी जो पूँजीवादी राष्ट्रीय बाज़ार के निर्माण के लिए ज़रूरी थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग ने धार्मिक-साम्प्रदायिक आधार पर देश के विभाजन के साथ उपनिवेशवादियों से सत्ता हासिल की थी। पर सत्तारूढ़ होने के पहले से ही वह जन एकजुटता को तोड़ने में साम्प्रदायिकता की भूमिका और बुर्जुआ सत्ता के वर्चस्व के सुदृढ़ीकरण में धर्म की भूमिका को बखूबी समझता था। इसीलिए धार्मिक कलह, जातिगत विभेद और वर्ग ध्रुवीकरण के प्रश्नों को दरकिनार करते हुए बन्धुता के जुमले को इसने "व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता" तक सीमित कर दिया। यहाँ यह भी प्रतीत होता है कि संविधान-निर्माता प्रबोधनकाल के रैडिकल आदर्शों में विश्वास के दिखावे के साथ ही व्यक्तिवाद की एँग्लो-सैक्सन परम्पराओं से (जिसके वे मानस-पुत्र थे) अपने जुड़ाव का भी तालमेल करना चाहते थे।

यहीं पर प्रस्तावना की पहली ही पंक्ति में उल्लिखित धर्मनिरपेक्षता की भी चर्चा समीचीन होगी। यूरोपीय पुनर्जागरण और प्रबोधन काल से जन्मे क्लासिकी बुर्जुआ जनवादी अर्थों में धर्मनिरपेक्षता

का स्पष्ट अर्थ था – धार्मिक संस्थाओं-अनुष्ठानों का राज्य से और राजनीतिक दायरे से पूर्ण पृथक्करण और धार्मिक विश्वासों को निजी जीवन के दायरे तक सीमित कर देना। धर्मनिरपेक्षता की अधिक रैडिकल व्याख्या धार्मिक आस्था को निजी आज़ादी या विश्वास के दायरे तक सीमित रखती है। कोई भी व्यक्ति, समुदाय या राज्य अपने धार्मिक विश्वासों को किसी अन्य नागरिक पर आरोपित नहीं कर सकता, उसके धार्मिक-अधार्मिक, आस्तिक-नास्तिक निजी विश्वासों की आज़ादी नहीं छीन सकता, और राजनीति ही नहीं बल्कि सार्वजनिक जीवन के हर पहलू से धर्म का पूर्ण पृथक्करण होना चाहिए। धर्मनिरपेक्षता की यह अवधारणा प्रबोधनकाल की इस उद्घोषणा से उपजी थी कि ”अब से अन्धविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों तथा अत्याचार को शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, स्वयं प्रकृति से उपजी समानता तथा मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों के लिए जगह खाली करनी होगी” फ्रेडरिक एँगेल्स: ‘डयूहरिंग मत-खण्डन’ की भूमिका)। भारतीय बुर्जुआ वर्ग और संविधान-निर्माता सिद्धान्तकारों की धर्मनिरपेक्षता की सोच इससे अलग थी। भारतीय बुर्जुआ वर्ग के सिद्धान्तकारों ने धर्मनिरपेक्षता की व्याख्या ”सर्वधर्म समभाव” के रूप में की। व्यवहार में सर्वधर्म समभाव का विचार तमाम प्राक्पूँजीवादी विचारों-संस्थाओं की मौजूदगी, धार्मिक आधारों पर जनता को बाँटने की ज़रूरत और वोटबैंक की राजनीति के चलते राजनीतिक, शिक्षा, संस्कृति और सामाजिक-नैतिक दायरे में धार्मिक मूल्यों-अन्धविश्वासों की मौजूदगी, साम्प्रदायिकता की राजनीति के उद्भव और विकास तथा कालान्तर में बहुसंख्यकों की धार्मिक कट्टरपन्थी राजनीति का प्रभाव-विस्तार होना ही था। पीछे मुड़कर देखें तो राष्ट्रीय आन्दोलन के दौर में भी भारतीय बुर्जुआ राजनीतिज्ञ जुझारू भौतिकवाद के वाहक़ नहीं थे। अतीतोन्मुखता व नरम से लेकर कट्टर धार्मिक पुनरुत्थानवाद के तत्व उसके विचारों में तब भी मौजूद थे। सत्तासीन होने के बाद, राज्य से धर्म के पूर्ण पृथक्करण के बजाय धर्मनिरपेक्षता को ”सर्वधर्म समभाव” के रूप में परिभाषित करना तथा परस्पर-विरोधी धर्मावलम्बियों के बीच बन्धुता सुनिश्चित करने के बजाय बन्धुता के जुमले को व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता-अखण्डता से जोड़ देना (अखण्ड भारत के झण्डाबरदार हिन्दू कट्टरपन्थी भी बन्धुता की बात करते हैं, पर उसमें ”संयुक्त परिवार टाइप राष्ट्र” में अल्पसंख्यक छोटे भाइयों को हर हाल में बहुसंख्यक बड़े भाइयों का अधीनस्थ आज्ञाकारी होना होगा) भारतीय बुर्जुआ वर्ग के ऐतिहासिक चरित्र के सर्वथा अनुरूप था। आश्चर्य नहीं कि बुर्जुआ संसदीय राजनीति में भाजपा की कट्टर केसरिया लाइन के साथ कांग्रेस व अन्य दल भी समयानुसार नरम केसरिया लाइन अपनाते हैं या मतों के धार्मिक और जातिगत (जाति प्रश्न को धर्म से एकदम अलग करके नहीं देखा जा सकता) ध्रुवीकरण का लाभ उठाते रहते हैं। इस पूरी स्थिति में विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता भी ज़ाहिरा तौर पर सभी धर्मावलम्बियों के लिए (और नास्तिक विश्वास वालों के लिए भी) समान नहीं है। धर्म की सामाजिक-राजनीतिक जीवन में दखलन्दाज़ी और साम्प्रदायिकता की राजनीति और संस्कृति ने अल्पसंख्यकों को दोयम दर्जे का नागरिक बनाकर ”प्रतिष्ठा और अवसर की समता” के जुमले को कितना भद्दा मज़ाक बना दिया है, यह तो राजिन्दर सच्चर आयोग की रिपोर्ट से भी साफ़ हो चुका है। दलितों और अनुसूचित जातियों की भी ऐसी ही स्थिति है, इसकी साक्षी अनेक गैर-सरकारी रिपोर्टें हैं।

वैसे यह जानना ज़रूरी है कि पश्चिम का जो बुर्जुआ वर्ग बुर्जुआ जनवादी क्रान्ति के बाद सत्तासीन हुआ था, उसने भी सत्तासीन होने के बाद जनता और क्रान्ति के आदर्शों के साथ विश्वासघात किया था और चर्च के साथ ”पवित्र गठबन्धन” करके जुझारू भौतिकवादी तर्कणा के झण्डे को किनारे रख दिया था। उत्पादन की प्रगति के लिए उसे उच्च तकनीक और विज्ञान की ज़रूरत थी, पर

बुर्जुआ सत्ता को टिकाऊ बनाने के लिए जनता को धार्मिक अन्धविश्वासी व अतार्किक बनाये रखना ज़रूरी था। वैसे भी पूँजीवादी समाज में धर्म का एक नया भौतिक आधार तैयार हो जाता है। जीवन को प्रभावित करने वाली अदृश्य प्राकृतिक शक्तियों के बारे में अज्ञान आदिम धर्म के उद्भव का मूल कारण था। आधुनिक जीवन को संचालित करने वाली 'माल' (कमोडिटी) की अदृश्य सत्ता के बारे में अदृश्य ईश्वरीय सत्ता, भाग्यवाद और कर्मकाण्ड का नया सामाजिक आधार बन जाता है। पूँजीवाद के असाध्य संकटों का हल जब शासक वर्ग किसी किस्म के फासीवाद में ढूँढ़ता है तो अलग-अलग समाजों में उसका चेहरा धार्मिक कट्टरपन्थ या नस्लवाद या जातिवाद का भी हुआ करता है।

प्रबोधनकाल के महान दार्शनिकों ने अन्धविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकारों तथा अत्याचार की जगह शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, स्वयं प्रकृति से उपजी समानता तथा मनुष्य के जन्मसिद्ध अधिकारों को केन्द्र में स्थापित करने वाले बुद्धि के जिस राज की बात की थी, वह बुर्जुआ वर्ग के राज का आदर्शीकरण मात्र था। यह इन महान चिन्तकों के चिन्तन की युगीन सीमा थी। जैसा कि एँगेल्स ने लिखा था, बुर्जुआ वर्ग के सत्तासीन होने के बाद "...शाश्वत न्याय ने बुर्जुआ न्याय में मूर्त रूप प्राप्त किया, कि समानता क़ानून के सामने नागरिक समानता बनकर रह गयी, कि बुर्जुआ सम्पत्ति को मनुष्य के सबसे मूलभूत अधिकारों में से एक घोषित कर दिया गया। बुद्धि का राज – रूसो की सामाजिक संविदा – क़ेवल बुर्जुआ जनवादी गणराज्य के रूप में अस्तित्व में आया और केवल उसी रूप में अस्तित्व में आ सकता था।"

भारतीय पूँजीपति वर्ग के हाथों में तो राष्ट्रीय आन्दोलन के समय भी जुझारू भौतिकवाद और क्रान्तिकारी जनवाद का झण्डा नहीं था। यह पुनर्जागरण-प्रबोधन की प्रक्रिया से आगे नहीं बढ़ा था, यह कृषि-दस्तकारी-मैन्युफैक्चरिंग की नैसर्गिक गति से विकसित न होकर औपनिवेशिक सामाजिक संरचना के गर्भ से पैदा हुआ था। गाँधी का क्लासिकी बुर्जुआ मानवतावाद भी जुझारू तर्कणा नहीं बल्कि धार्मिक सुधारवादी था और उनका धार्मिक सुधारवाद तोल्स्तोय से भी काफी पीछे था। दलितों के नेता अम्बेडकर भी जुझारू सामाजिक संघर्षों और रैडिकल भूमि सुधार के विरोधी थे, वे ब्रिटिश संसदीय प्रणाली के संवैधनिक सुधारवाद के भक्त थे और फ्रांसीसी जन क्रान्ति जैसे जिस सामाजिक तूफान ने बुर्जुआ जनवादी मूल्यों (जिनके वे हामी थे) को जन्म दिया, वैसी किसी जन क्रान्ति से भी उनका परहेज़ था। नेहरू का समाजवाद एक लोकलुभावन मध्यवर्गीय यूटोपिया से अधिक कुछ भी नहीं था। याद रखना होगा कि नौसेना विद्रोह का विरोध करने वाले और तेलंगाना किसान संघर्ष के सैनिक दमन की अनुमति देने वाले तथा केरल में पहली वामपन्थी सरकार को असंवैधनिक ढंग से बर्खास्त करने वाले व्यक्ति नेहरू ही थे। कांग्रेस के पटेल, पन्त, टण्डन, मोरारजी आदि नेता तो धुर दक्षिणपन्थी और सामाजिक मामलों में भी पुरातनपन्थी रूढ़िवादी थे। सत्ता मिलने की सम्भावना निकट आने के साथ ही कांग्रेस के समझौतों की शुरुआत हो चुकी थी। 1935 से लेकर 1946 में संविधान सभा के गठन के दौर तक की इस ऐतिहासिक प्रक्रिया की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। ऐसे में संविधान की प्रस्तावना में धर्मनिरपेक्षता, न्याय, स्वतन्त्रता, समता, बन्धुता आदि प्रबोधनकालीन आदर्शों का लेबल बरकरार रखते हुए उनके निहितार्थों को बदलने की जो मक्कारी की गयी है और उदात्त आदर्शों को खोखला नारा बनाकर जो लफ्फाज़ी की गयी है, वह ज़रा भी आश्चर्य की बात नहीं है।

संविधान की प्रस्तावना में उल्लिखित सम्प्रभुता की असलियत

सम्प्रभुता की आधुनिक अवधारणा को विकसित करने में हॉब्स और रूसो जैसे प्रबोधनकालीन दार्शनिकों से लेकर अमेरिकी क्रान्ति और फ्रांसीसी क्रान्ति के सिद्धान्तकारों तक की अहम भूमिका थी। यह ईश्वरीय स्वीकृति प्राप्त राजा की सम्प्रभु सत्ता की जगह जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की सत्ता के माध्यम से जनता को सम्प्रभु बनाने की, यानी स्वतन्त्र निर्णय लेने की सम्पूर्ण क्षमता से लैस बनाने की, क्रान्तिकारी अवधारणा थी। आन्तरिक सन्दर्भों में सम्प्रभुता का अर्थ यह था कि जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा नीति-निर्माण और क्रियान्वयन-सम्बन्धी निर्णय लेने की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता थी, वहीं बाह्य सन्दर्भों में इसका अर्थ राज्यसत्ता का किसी भी अन्य देश के हस्तक्षेप या दबाव से मुक्त होना था।

जहाँ तक जनता को सम्प्रभु बनाने का प्रश्न है, विश्व इतिहास में, बुर्जुआ जनवादी क्रान्तियों ने भी कहीं जनता को सम्प्रभु नहीं बनाया। हर प्रकार के बुर्जुआ जनवादी गणराज्य में जनता के मताधिकार के बावजूद (हालाँकि कई देशों में स्त्रियों को मताधिकार काफी बाद में मिला) वास्तव में सत्ता बुर्जुआ वर्ग के ही हाथों में केन्द्रित रही। पूँजीवाद के ऐतिहासिक युग में सम्प्रभुता का अर्थ पूँजीपति वर्ग की राज्यसत्ता की, आन्तरिक और बाह्य सन्दर्भों में, निर्णय लेने की स्वतन्त्रता थी। जो उपनिवेशवादी देश थे, उनकी बुर्जुआ सत्ताएँ सम्प्रभु थीं। दूसरी ओर उपनिवेश, अर्द्धउपनिवेश और नाममात्र की स्वतन्त्रता वाले वित्तीय उपनिवेश थे, जहाँ सत्ताओं की सम्प्रभुता सम्भव ही नहीं थी। दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के तीन दशकों के दौरान एशिया, अफ़्रीका, लातिन अमेरिका के अधिकांश उपनिवेशों-अर्द्धउपनिवेशों ने राजनीतिक स्वतन्त्रता हासिल कर ली। कुछ देश अमेरिकी नवउपनिवेश बन गये, पर यह स्थिति भी ज़्यादा दिनों तक बनी नहीं रही। अब समय ‘बिना उपनिवेशों के साम्राज्यवाद’ का था जहाँ उत्पादक शक्तियों के विकास में अन्तर के हिसाब से, उन्नत पूँजीवादी देश पिछड़े पूँजीवादी देशों की जनता का शोषण करते थे। किसी भी नवस्वाधीन देश की बुर्जुआ सत्ता पूर्णतः सम्प्रभु नहीं थी। उनकी सम्प्रभुता खण्डित थी, अलग-अलग अंशों में सीमित थी। जिन देशों के बुर्जुआ वर्गों ने परिस्थितियों का लाभ उठाकर और समझौते करके सत्ता प्राप्त की थी, उनकी सम्प्रभुता अधिक सीमित थी। जिन देशों के बुर्जुआ वर्गों ने जुझारू जनसंघर्ष या राष्ट्रीय जनवादी क्रान्तियों के ज़रिये सत्ता हासिल की थी, उनकी सम्प्रभुता सापेक्षतः अधिक थी। लेकिन पूँजीवादी विकास के रास्ते पर आगे बढ़ने के साथ ही इन देशों का बुर्जुआ वर्ग भी साम्राज्यवाद से समझौते के लिए विवश होता चला गया। कालान्तर में तीसरी दुनिया के सभी देशों के बुर्जुआ विश्व पूँजीवादी तन्त्र में अपनी-अपनी ताक़त के हिसाब से अलग-अलग सोपानों पर साम्राज्यवाद के कनिष्ठ साझीदार के रूप में व्यवस्थित हो गये।

प्रबोधनकालीन आदर्शों के मानदण्डों पर खरी उतरने वाली ‘राष्ट्र की सम्प्रभुता’ यदि कहीं ‘जनता की सम्प्रभुता’ के पर्याय के रूप में स्थापित हो सकी तो उन देशों में, जहाँ सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व में हुई समाजवादी क्रान्ति (1917 की सोवियत क्रान्ति) या लोक जनवादी क्रान्तियों (चीन, कोरिया, वियतनाम आदि) ने साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद किया था।

अब हम भारत की विशेष स्थिति की ओर लौटते हैं। भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक राष्ट्रीय जनान्दोलन का नेतृत्व करते हुए, ‘समझौता-दबाव-समझौता’ की रणनीति अपनाते हुए और विश्व परिस्थितियों का सटीक ढंग से लाभ उठाते हुए सत्ता हासिल की थी। सत्ता-

हस्तान्तरण के संक्रमणकालीन दौर की जिन परिस्थितियों की पहले चर्चा की जा चुकी है, उससे स्पष्ट है कि भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सत्ता की सम्प्रभुता प्रारम्भ से ही खण्डित और सीमित-संकुचित थी। राजनीतिक स्वतन्त्रता के बावजूद, भारत के शासक वर्ग ने साम्राज्यवादी विश्व से निर्णायक विच्छेद नहीं किया। कई साम्राज्यवादी देशों की प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाते हुए, साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की मदद लेते हुए और उसे शोषण का अवसर देते हुए उसने क्रमिक पूँजीवादी विकास का रास्ता चुना। केवल साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी की मदद से पूँजीवादी विकास का रास्ता किसी एक साम्राज्यवादी देश के नवउपनिवेश जैसी स्थिति पैदा कर सकता था या साम्राज्यवादी दबाव बहुत अधिक बढ़ा सकता था। इससे बचने के लिए अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा और साम्राज्यवादी तथा समाजवादी शिविरों के बीच के टकराव का लाभ उठाने के साथ-साथ भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने पूँजी संचय की समस्या को हल करने के लिए राजकीय पूँजीवाद (पब्लिक सेक्टर) का रास्ता चुना और आम जनता को निचोड़कर आधारभूत एवं ढाँचागत उद्योगों का ढाँचा खड़ा किया। इस तरह साम्राज्यवादी विश्व में, अपनी आर्थिक कमज़ोरी के बावजूद और साम्राज्यवादी वित्तीय पूँजी को लाभ कमाने की छूट देते हुए भी, भारतीय बुर्जुआ वर्ग ने निर्णय और कार्रवाई करने की अपनी स्वतन्त्रता, मूलत: और मुख्यत: बनाये रखी। इन अर्थों में भारतीय बुर्जुआ सत्ता, काफी हद तक (सम्पूर्णत: नहीं) सम्प्रभु थी, पर यह सम्प्रभुता जनता की सम्प्रभुता नहीं थी।

भारतीय राज्य का यही चरित्र हमें नेहरू की विदेश नीति में देखने को मिलता है। एक ओर नेहरू ने संरक्षणवादी तथा आयात-प्रतिस्थापन (इम्पोर्ट-सब्स्टीटयूशन) की आर्थिक नीति अपनायी, दुनिया के राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलनों का समर्थन (हालाँकि यह समर्थन मौखिक से आगे नहीं गया) किया, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के भागीदार बने बहुपक्षीय सामरिक सन्धियों से अलग रहे, लेकिन दूसरी ओर उन्होंने माउण्टबेटन को गवर्नर जनरल बनाये रखकर, ब्रिटिश कम्पनियों की पूँजी और परिसम्पत्तियों को ज़ब्त न करके और उन्हें कारोबार जारी रखने की इजाज़त देकर तथा कॉमनवेल्थ में शामिल होकर ब्रिटेन को भविष्य में अच्छे सम्बन्धों के प्रति आश्वस्त भी किया। अन्य पश्चिमी देशों की ओर भी उन्होंने दोस्ती का हाथ बढ़ाया तथा तकनोलॉजी एवं वित्त के वांछित स्रोत के तौर पर अमेरिका को देखते हुए उससे बेहतर रिश्ते बनाने की भरपूर कोशिश की। वास्तव में, यह अमेरिका था जिसने मैकार्थीवादी कम्युनिस्ट विरोधी लहर, डलेस भाइयों की विदेश नीति, सैनिक गठबन्धनों की नवउपनिवेशवादी नीति और शीतयुद्ध के प्रभाव में, नेहरू की "समाजवादी" जुमलेबाज़ियों और सापेक्षत: स्वतन्त्र आर्थिक नीति को सन्देह की निगाह से देखा तथा नेहरू के दोस्ताना रुख़ की भरपूर उपेक्षा की। इस अमेरिकी रुख़ और पश्चिमी देशों के दबाव का जवाब नेहरू ने गुटनिरपेक्ष नीति पर अपना ज़ोर बढ़ाकर तथा समाजवादी शिविर के प्रति अपनी नज़दीकियाँ बढ़ाकर दिया। सोवियत संघ अब उनके लिए तकनोलॉजी और वित्त का वैकल्पिक स्रोत था। दूसरी ओर, देश के भीतर नेहरू लगातार घोर कम्युनिस्ट विरोधी बने रहे। तेलंगाना किसान संघर्ष के बर्बर सैनिक दमन को इतिहास कभी भुला नहीं सकता। केरल में पहली कम्युनिस्ट सरकार (हालाँकि पार्टी तब तक संसदमार्गी हो चुकी थी) को निहायत स्वेच्छाचारी तरीक़े से बखरस्त करने का काम नेहरू ने ही किया था। गुटनिरपेक्ष देशों के ब्लॉक में अग्रणी भूमिका निभाकर तथा समाजवादी शिविर के साथ नज़दीकी बढ़ाकर नेहरू ने पश्चिम के साथ सौदेबाज़ी में अपनी स्थिति मज़बूत की। सोवियत संघ से प्राप्त सहायता ने तकनीकी प्रगति और सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों की प्रगति के साथ ही सामरिक शक्ति बढ़ाने में भी भारत की मदद की।

लेकिन इस अवधि के दौरान भी भारतीय बुर्जुआ वर्ग अमेरिका से निकटता बढ़ाने की कोशिशें करता रहा और अमेरिका भी अपने हित साधने के हर अनुकूल अवसर का लाभ उठाने की कोशिश में लगा रहा। पड़ोसी देशों के प्रति नेहरू काल से ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग का रुख़ विस्तारवादी और प्रभुत्ववादी रहा है। चीन के साथ सीमा विवाद भड़काने में नेहरू की भूमिका इसी रुख़ से प्रेरित थी। इस सीमा विवाद ने अमेरिका के साथ सामरिक सहकार के लिए ज़मीन तैयार की थी। साठ के दशक के मध्य में रुपये के अवमूल्यन के पीछे एक अहम कारण अमेरिकी दबाव था। तथाकथित हरित क्रान्ति ने अमेरिकी सरकारी एजेंसियों और एग्रो-कॉरपोरेशनों को भरपूर अवसर प्रदान किया कि वे भारतीय कृषि में प्रवेश कर सकें और आर्थिक नीतियों को प्रभावित कर सकें। उच्च शिक्षा की आंग्ल-अमेरिकी संस्थाओं में भारतीय कुलीन बौद्धिक तबक़ा प्रशिक्षित होता रहा। अर्थतन्त्र, तकनीकी तन्त्र और सामाजिक तन्त्र के नीति-निर्माण और प्रबन्धन में इस तबक़े की अहम भूमिका थी। कमोबेश 1980 के दशक तक भारतीय पूँजीपति वर्ग अन्तर साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाकर अपनी सीमित सम्प्रभुता को सुरक्षित बनाये रख सका। 1990 के दशक में सोवियत संघ के विघटन के बाद स्थितियाँ बदलीं। एक अधिक एकीकृत विश्व पूँजीवादी व्यवस्था अस्तित्व में आयी जिसमें वित्तीय पूँजी का चरित्र अभूतपूर्व भूमण्डलीय था और राष्ट्रीय सीमाओं के आर-पार उसकी गति निर्बाध थी। भारतीय पूँजीपति वर्ग इस नयी विश्व-व्यवस्था में पूरी तरह से शामिल हो गया। विदेशी पूँजी के लिए राष्ट्रीय बाज़ार के दरवाज़े पूरी तरह से खोल दिये गये। राजकीय उद्यमों के बेरोकटोक निजीकरण की शुरुआत हुई। पिछली आधी सदी के भीतर उत्पादक शक्तियों का विकास करके भारतीय पूँजीपति वर्ग ने जो शक्ति हासिल की है, उसके सहारे तथा साम्राज्यवादियों की प्रतिस्पर्धा का लाभ उठाकर वह आज भी अपनी सीमित सम्प्रभुता बचाये हुए है, पर साम्राज्यवादियों के कनिष्ठ साझीदार के रूप में इसका चरित्र एकदम नंगा हो चुका है और यह बात एकदम साफ़ हो चुकी है कि भारतीय राज्यसत्ता की सम्प्रभुता भारतीय जनता की सम्प्रभुता क़तई नहीं है। देशी पूँजी और विदेशी पूँजी जनता की लूट के साझीदार हैं और बुर्जुआ राज्यसत्ता साम्राज्यवादी हितों की हिफ़ाज़त के लिए वचनबद्ध है। रहे-सहे भ्रम भी अब टूट चुके हैं। दरअसल, नवउदारवाद की वर्तमान नीतियाँ उसी दिशा में यात्रा का तार्किक परिणाम हैं जो दिशा भारतीय पूँजीपति वर्ग ने सत्तारूढ़ होने के समय चुनी थी।

भारत जैसे किसी भी कृषि प्रधान पिछड़े हुए समाज में क्रान्तिकारी ढंग से भूमि-सम्बन्धों को बदले बिना व्यापक जनसमुदाय की सामूहिक पहलक़दमी और सामूहिक निर्णय की शक्ति विकसित ही नहीं की जा सकती थी और ऐसा किये बिना साम्राज्यवाद से निर्णायक विच्छेद भी सम्भव नहीं हो सकता था। चीन की लोक जनवादी क्रान्ति ने यही काम कर दिखाया था, जबकि भारत में यह सम्भव नहीं हो सका। इसके चलते भारतीय जनता न तो आन्तरिक तौर पर सम्प्रभुता-सम्पन्न हो सकी और न ही बाहरी तौर पर। संविधान में उल्लिखित सम्प्रभुता महज़ जुमलेबाज़ी ही बनकर रह गयी।

प्रस्तावना के उल्लिखित ”लोकतन्त्रात्मक गणराज्य” के ढोल की पोल

अब हम प्रस्तावना में उल्लिखित ”लोकतन्त्रात्मक गणराज्य” या ”जनवादी गणराज्य” (डेमोक्रेटिव रिपब्लिक) शब्दावली की असलियत की पड़ताल करें।

कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सदस्य और विख्यात विधिवेत्ता शरत चन्द्र बोस ने ‘इण्डियन लॉ रिव्यू’ के जनवरी 1950 के अंक में (संविधान पारित होने के कुछ सप्ताह पहले ही) यह टिप्पणी की थी कि संविधान की प्रस्तावना ही धोखाधड़ी के साथ तैयार की गयी है।

पिछले साठ वर्षों के बीच ”लोकतन्त्रात्मक गणराज्य” या ”जनवादी गणराज्य” का जो अमली रूप सामने आया है उसने जनता के साथ हुई धोखाधड़ी को एकदम नंगा कर दिया है। इस बात का प्राय: बहुत अधिक डंका पीटा जाता है कि भारत का बहुदलीय संसदीय जनवाद साठ वर्षों से सुचारु रूप से चल रहा है। बेशक शासक वर्गों की इस हुनरमन्दी को मानना पड़ेगा कि साठ वर्षों से यह धोखाधड़ी जारी है! मगर सच यह भी है कि असलियत जनता से छुपी नहीं रह गयी है। यदि जनवाद का यह वीभत्स प्रहसन जारी है तो इसके पीछे बुनियादी कारण है राज्यसत्ता का दमन तन्त्र, शासक वर्गों द्वारा चतुराईपूर्वक अपने सामाजिक आधारों का विस्तार तथा जनता के जाति-धर्म के आधारों पर बाँटने के कुचक्रों की सफलता। लेकिन इससे भी बड़ा बुनियादी कारण है, इस व्यवस्था के किसी व्यावहारिक क्रान्तिकारी विकल्प का संगठित न हो पाना।

बहुदलीय संसदीय जनवाद का मतलब सिर्फ इतना ही रहा है कि हर पाँच वर्षों बाद जनता ठप्पा मारकर सिर्फ यह चुनाव करे कि शासक वर्ग की कौन सी पार्टी अगले पाँच वर्षों तक उसपर शासन करे। सरकारें चाहे जिस पार्टी की हों, वे शासक वर्गों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती रही हैं। जो सरकार योग्यतापूर्वक इस काम को नहीं कर पाती, उस सरकार को गिरते देर नहीं लगती। चुनाव पूँजीपति घरानों की थैलियों के बिना कोई लड़ ही नहीं सकता। संसद की भूमिका केवल बहसबाज़ी के अड्डे की होती है। नीतियों को लागू करने का असली काम नौकरशाही करती है। मन्त्रिमण्डल बस पूँजीपतियों के इशारे पर नीतियाँ बनाता है। जनता के हर सम्भावित प्रतिरोध को कुचलने के लिए पुलिस, अर्द्धसैनिक बलों और सेना का एक दैत्याकार तन्त्र है। दमनकारी राज्य मशीनरी को सहारा देने के लिए गैरजनवादी, निरंकुश सामाजिक संस्थाओं का तानाबाना है और जनवाद के विभ्रम को तरह-तरह से बनाये रखने के लिए तथा शासक वर्ग की नीतियों को लोकलुभावन मुखौटा पहनाने के लिए बुर्जुआ मीडिया का सर्वव्यापी पहुँच वाली एक शक्तिशाली संरचना है।

26 जनवरी 1950 को जब संविधान पारित हुआ तो आम लोगों के एक बड़े हिस्से को भारतीय जनवादी गणराज्य के बारे में, थोड़ी बहुत शंकाओं के बावजूद काफी उम्मीदें थीं। लोगों को इन्तजार था कि दो सौ वर्षों की गुलामी से निचुड़ा हुआ देश जब थोड़ा सम्हलकर अपनी उत्पादक शक्तियों का विकास करेगा तो प्रगति का फल आम लोगों को भी मिलेगा। एक से दो दशक का समय बीतते-बीतते भारतीय जनवादी गणराज्य का असली चेहरा सामने आ चुका था। बाद में दशकों का कालखण्ड उसके ज़्यादा से ज़्यादा वीभत्स और ज़्यादा से ज़्यादा विकृत होते जाने का समय था।

आइये, इस जनवादी गणराज्य की असलियत की सिलसिलेवार पड़ताल की जाये। इसे बनाने वाली संविधान सभा के चुनाव की गैरजनवादी प्रक्रिया की पहले चर्चा की जा चुकी है। इसकी भी चर्चा की जा चुकी है कि इसकी 395 में से 250 धाराएँ 1935 के ‘गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया ऐक्ट’ से ज्यों की त्यों ले ली गयीं थी। राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा आगे जब हम विस्तार से करेंगे तो देखेंगे कि किस तरह संविधान में ऊँचे आदर्शों और लुभावने वायदों (सबको आजीविका, समान काम के लिए समान वेतन, समान सामाजिक अवसर आदि) लन्तरानी खूब हाँकी है, पर इन्हें लागू करने की कोई क़ानूनी बाध्यता सरकार के लिए नहीं हैं। अब इतने वर्षों बाद राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों को भारतीय जीवन की विद्रूप सच्चाइयों के बरक्स रखकर कोई पढ़े तो वे एक भोड़े-भद्दे मज़ाक से अधिक कुछ भी नहीं लगते।

जिस देश में जनवादी गणराज्य का संविधान लागू होने के छः दशकों से भी अधिक समय बाद 80 करोड़ लोग अपनी बुनियादी जरूरतें पूरी न कर पाते हैं, आधी से अधिक आबादी कुपोषण ग्रस्त हो, 40 करोड़ लोग रात को भूखे सोते हो, 9 हजार बच्चे प्रतिदिन भूख और कुपोषण से मरते हो, 18 करोड़ लोग बेघर हो और 18 करोड़ झुग्गी-झोंपड़ियों में रहते हों, उस देश में जनवाद के उच्चादर्श खोखले झुनझने से अधिक कुछ भी नहीं हैं। जो लोग दिन रात हाड़ गलाकर भी जीने की बुनियादी ज़रूरतें तक पूरी नहीं कर पाते, उनके लिए जनवादी अधिकारों का व्यवहारतः कोई मतलब नहीं रह जाता। राष्ट्रीय विकास के लम्बे-चौड़े दावों के बीच आम जनता की ज़िन्दगी की बेरहम हक़ीकत यह है कि भारत में 63 फीसदी बच्चे प्रायः भूखे पेट सोते हैं, 60 फीसदी बच्चे कुपोषणग्रस्त हैं, 60 फीसदी बच्चे (और 74 फीसदी नवजात) रक्ताल्पता के शिकार हैं, 50 फीसदी बच्चे का बज़न न्यूनतम सीमा से कम है, 23 फीसदी बच्चे जन्म से कमज़ोर होते हैं। देश की 75 फीसदी माँओं को पोषणयुक्त भोजन नहीं मिलता, प्रसव के दौरान 1 लाख में से 450 स्त्रियों की मौत हो जाती है और गर्भवती एवं सद्यःप्रसूता स्त्रियों के मामने में 99 फीसदी मौतें गरीबी, भूख और बीमारी के चलते होती हैं। यह जनवादी गणराज्य यदि छः दशकों से अधिक समय बाद भी 40 फीसदी आबादी को न्यूनतम सुविधायुक्त आवास, 80 फीसदी परिवारों को सुरक्षित पीने का पानी और 42 प्रतिशत परिवारों को बिजली नहीं मुहैया करा सका है, तो फिर जनता के लिए जनवाद का कोई विशेष मतलब नहीं रह जाता।

जिस समाज में असमानता की खाई विकास की तेज़ रफ़्तार के साथ लगातार बढ़ती चली गयी हो, वहाँ जनवाद के आदर्श खोखले झुनझुने की आवाज़ जैसे लगने लगते हैं। आज़ादी के 64 वर्षों बाद की सच्चाई यह है कि देश ऊपर की 3 फीसदी और नीचे की 40 फीसदी आबादी की आमदनी के बीच का अन्तर साठ गुना हो चुका है। ऊपर की 10 फीसदी आबादी के पास कुल परिसम्पत्ति का 85 फीसदी इकट्ठा हो गया है। जबकि नीचे की 60 फीसदी आबादी के पास महज़ दो फीसदी है। आबादी का 0.01 फीसदी ऐसा है जिसकी आमदनी पूरे देश की औसत आमदनी से दो सौ गुना अधिक है। कुल 1 अरब 21 करोड़ में से बमुश्किल तमाम 15 करोड़ आबादी ही उन धनी और खुशहाल लोगों की है जिनके लिए तमाम अत्याधुनिक सुविधाओं, सेवाओं और मँहगी एवं विलासितापूर्ण उपभोक्ता सामग्रियाँ का विशाल बाज़ार है। इनमें से भी 10 लाख लोग ऐसे हैं जिनकी मासिक आय 50 लाख रुपये से अधिक हैं। दुनिया में सबसे तेज़ी से अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या भारत में बढ़ रही है। अरबपतियों की कुछ दौलत को लिहाज से अमेरिका के बाद दूसरा स्थान भारत का है, लेकिन बेघरों, कुपोषितों, भूखों अनपढ़ों, बेरोज़गारों और दवा-इलाज की बुनियादी सुविधाओं तक से वंचित लोगों की तादाद के लिहाज से भी वह दुनिया में

पहले नम्बर पर है। चीन के बाद भारत अर्थव्यवस्था की विकास दर के हिसाब से दूसरे स्थान पर है, पर मानव विकास सूचकांक की दृष्टि से भी, यह दुनिया के सबसे ग़रीब देशों के साथ सबसे निचले पायदान पर खड़ा है।

आधी सदी से भी अधिक समय के दौरान इस जनवाद ने जनता को क्या दिया है, इसकी तस्वीर के कुछ छूटे हुए पहलुओं की हम आगे भी चर्चा करेंगे। इसके पहले ज़रा गणराज्य के उसूलों के अमली रूप पर भी एक सरसरी निगाह डाल ली जाये। अपने आदर्श रूप में जनवादी गणराज्य का अर्थ है, जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की नीति निर्मात्री और कार्यकारी सत्ता के माध्यम से जनता का सम्प्रभु होना, उस सत्ता का जनसामान्य के हित में काम करना और जन सामान्य के प्रति जवाबदेह देना। जनवादी गणराज्य के इस आदर्श रूप को तो दुनिया के किसी भी बुर्जुआ वर्ग ने लागू नहीं किया, लेकिन भारत में इसका अमली रूप अत्यन्त घृणित पाखण्डपूर्ण है। पहली बात तो यह कि विधायिका और कार्यपालिका का कार्यविभाजन करके जनप्रतिनिधियों की जनता के प्रति जवाबदेही को हर बुर्जुआ जनवाद की तरह भारत में भी औपचारिक बना दिया गया है। बहुदलीय प्रणाली में बहुमत पाने वाला दल सरकार बनाकर बुर्जुआ वर्ग की मैनेजिंग कमेटी की भूमिका निभाता है और रोज़मर्रे का शासन-प्रशासन दिल्ली से लेकर ब्लॉक स्तर तक नौकरशाही सम्हालती है जिसकी जनता के प्रति कोई जवाबदेही नहीं होती। तथाकथित जनप्रतिनिधिगण संसद में सोने और हंगामा करने तथा सिफारिश दलाली एवं कमीशनखोरी करके सम्पत्ति बनाने का काम करते हैं। बुर्जुआ जनवादी गणराज्य का तीसरा खम्भा न्यायपालिका है, जिसकी चर्चा आगे करेंगे। उसके पहले यह देख लें कि चुनाव की प्रक्रिया क्या वास्तव में जनप्रतिनिधित्व की वास्तविक जनवादी प्रणाली है?

संसद और विधानसभाओं का क्षेत्र जितना बड़ा होता है और चुनाव-प्रचार की प्रक्रिया जितनी खर्चीली होती है, उसमें एक सामान्य नागरिक थैलीशाहों के अरबों-खरबों रुपये की मदद से चलने वाली किसी पार्टी का उम्मीदवार बने बिना प्रभावी ढंग से चुनाव नहीं लड़ सकता। चुनाव लड़ने का शौक पूरा करके ज़मानत ज़ब्त कराने वाले किसी उम्मीदवार को भी लाखों से लेकर करोड़ों तक खर्च करने पड़ते हैं। एक आकलन के मुताबिक, चुनाव में भागीदारी का प्रति उम्मीदवार औसत खर्च 8 करोड़ रुपये और बड़ी पार्टियों का प्रति उम्मीदवार औसत खर्च 30 करोड़ रुपये बैठता है (अमित भादुड़ी, ई.पी.डब्ल्यू, 20-26 नवम्बर 2010) वर्ष 2004 के लोकसभा चुनावों में सरकारी तन्त्र का कुल घोषित प्रत्यक्ष खर्च 13 अरब रुपये था। यदि अब तक के सभी लोकसभा और विधानसभा चुनावों के सिर्फ सरकारी खर्चे को ही जोड़ दिया जाये तो यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बहुतदलीय संसदीय जनवादी प्रणाली देश की बहुसंख्यक आम शोषित-वंचित आबादी पर कितना कमरतोड़ बोझ डालती है।

और बात सिर्फ चुनाव की ही नहीं है। "दुनिया का सबसे बड़ा जनवादी गणराज्य" आम लोगों पर कितना भारी पड़ता है, इसका अनुमान महज कुछ तथ्यों और आँकड़ों से लगाया जा सकता है। जिस देश में तक़रीबन 84.5 करोड़ आबादी 20 रुपये रोज़ाना से कम पर और उसमें से 27 करोड़ आबादी 11 रुपये रोज़ाना पर गुजर करती हो, उस देश में सांसद की मासिक तनख्वाह 50,000 रुपये है। उसे 45,000 रुपये मासिक निर्वाचन क्षेत्र भत्ता मिलता है। संसद सत्रों के दौरान हर सांसद को 2000 रुपये रोज़ टी.ए.डी.ए. मिलता है। आवास, बिजली, फोन, हवाई यात्रा, प्रथम श्रेणी रेल यात्रा, सब्सिडाइज्ड़ संसद कैण्टीन आदि सुविधाओं की कोई गिनती नहीं है। कुल 534 संसद सदस्यों पर सालाना 3 अरब 20 करोड़ 40 लाख रुपये खर्च होते हैं। हर पूर्व सांसद को

20,000 रुपये मासिक पेंशन मिलती है। 5 करोड़ रुपये सालाना की सांसद निधि अपने निर्वाचन क्षेत्रों में विकास कार्यों के लिए हर सांसद को मिलती है जो वस्तुत: 70 प्रतिशत ”भ्रष्टाचार निधि” होती है जिसमें स्थानीय नौकरशाही का भी हिस्सा होता है। संसद के सत्रों पर प्रतिदिन 3.6 करोड़ रुपये ख़र्च होता हैं। आधी जनता भरपेट भोजन नहीं कर पाती, पर उनके प्रतिनिधि जो सांसद हैं, उनमें से 70 फीसदी करोड़पति है। कैबिनेट मन्त्रियों को आवास-यात्रा आदि सुविधाओं और भत्तों के अतिरिक्त 65,000 रुपये मासिक वेतन मिलता है। 2006-09 के बीच केन्द्रीय मन्त्रियों ने देश के भीतर बाहर अपनी यात्राओं पर 300 करोड़ रुपये खर्च किये।

यह जनवाद कितना मँहगा और परजीवी है और यह जनता पर कितना भारी है, इसे उजागर करने वाले कुछ और तथ्यों पर निगाह डालें। केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल और सम्बद्ध विभागों का कुछ खर्च 2008-09 में 1 खरब 75 अरब डालर यानी लगभग 87 खरब 50 अरब रुपये के आसपास था। योजना और वार्षिक बजट के अतिरिक्त गैरयोजनागत खर्च 2008-09 में 5 करोड़ डालर यानी करीब 2 अरब 50 करोड़ रुपये था। सभी राज्यों के मन्त्रियों, विधायकों और नौकरशाही का सालाना खर्च यदि एक साथ जोड़ दें तो यह उपरोक्त राशि के दस गुने से भी अधिक हो जायेगा। केन्द्र और राज्य के मन्त्रियों, जनप्रतिनिधियों और नौकरशाहों की सुरक्षा व्यवस्था पर ही सालाना खरबों रुपये ख़र्च होते हैं। करोड़ों बेघरों के इस देश का राष्ट्रपति 340 कमरों के भव्य महल राष्ट्रपति भवन में रहता है जो दुनिया के सभी राष्ट्राधयक्षों के आवासों (व्हाइट हाउस और बकिंघम पैलेस से भी) बड़ा है। 2007 में इसके रखरखाव की लागत सालाना 100 करोड़ रुपये आँकी गयी थी। 2009-10 में सिर्फ इसके बिजली का बिल ही 6.67 करोड़ रुपये था। इस समय राष्ट्रपति को 1 लाख रुपये, उपराष्ट्रपति को 80,000 रुपये और राज्यपालों को 75,000 रुपये मासिक वेतन अन्य अनगिनत सुविधाओं और भत्तों के अतिरिक्त मिलता है।

इस दैत्याकार और बेहद खर्चीले नेताशाही और नौकरशाही के तन्त्र का 90 फीसदी से भी अधिक बोझ वह गरीब जनता उठाती है। जिसे जीने की बुनियादी सुविधाएँ तक नसीब नहीं। टैक्सों से होने वाली सरकारी खजाने की आमद का 90 फीसदी से भी अधिक हिस्सा आम लोग परोक्ष करों के रूप में देते हैं। इस फीसदी से भी कम हिस्सा पूँजीपतियों और सम्पत्तिशाली वर्गों द्वारा दिये जाने वाले टैक्सों का होता है। तुर्रा यह कि उन टैक्सों का भी बड़ा हिस्सा वे नहीं देते। सरकार भी उन्हें ‘टैक्स हॉलिडे’ और ‘टैक्स ब्रेक’ के रूप में तथा समय-समय पर विशेष टैक्स छूटों के रूप में सालाना खरबों रुपये की छूट देती है। बैंकों से पूँजीपति कर्ज़ लेकर पूँजी-निवेश करते हैं। और सालाना खरबों रुपये का ऐसा कर्ज नहीं लौटाते और कानूनी झोल और वित्तीय घपले के सहारे बेदाग बच निकलते है। इन सबके अतिरिक्त सरकार उन्हें तरह-तरह की सब्सिडी देती है और कारखाने लगाने या खनिज निकालने के लिए कौड़ियों के मोल ज़मीनें देती है।

अब ज़रा इस ”महान जनवादी गणराज्य” की क़ानून-व्यवस्था और न्यायपालिका की स्थिति को देखें। पहली बात यह कि इस देश का संविधान जनता को जो अत्यन्त सीमित जनवादी अधिकार देता है, वक्त पड़ने पर उसे हड़प लेने के सारे इन्तज़ाम भी संविधान के भीतर ही मौजूद हैं। संविधान से छन-रिसकर जो सीमित जनवादी अधिकार नीचे आते हैं, उनका बड़ा हिस्सा क़ानून-व्यवस्था के मकड़जाल में अटक जाता है और वहाँ से जनवादी अधिकार के कुछ क़तरे यदि निकल भी पाते हैं। तो दफ्तरों के अफ़सरों-बाबुओं और थानों के दारोग़ाओं की फाइलों और जेबों में अटके रह जाते हैं। क़ानून तो औपनिवेशिक हैं ही, उन्हें लागू करने वाले तन्त्र का ढाँचा भी मूलत: औपनिवेशिक ही है। भारत की निचली अदालतों में तीन करोड़ से अधिक मुकदमे लम्बित

पड़े हैं। देश की जेलों में 70 फीसदी से अधिक विचाराधीन कैदी हैं जिनमें से अधिकांश अपने ऊपर लगे अभियोग के तहत मिलने वाली अधिकतम सज़ा से अधिक समय जेलों में काट चुके हैं। बजट का एक फीसदी से भी कम न्यायिक तंत्र पर खर्च होता है। विधि आयोग बरसों से ढाँचागत सुविधाएँ बढ़ाने और जजों की संख्या कम से कम पाँच गुनी बढ़ाने के लिए कह रहा है। निचले स्तर की अदालतों में उतना ही भ्रष्टाचार व्याप्त है, जितना पुलिस थानों में। अब भ्रष्टाचार का दीमक शीर्ष स्तरों तक पैठ चुका है। वकील शान्तिभूषण-प्रशान्तभूषण ने उच्चतम न्यायालय के अबतक के कई मुख्य न्यायाधीशों को भ्रष्ट बताया है। उच्च न्यायालयों के कई न्यायाधीशों पर भ्रष्टाचार के आरोप हैं। उच्चतम और उच्च न्यायालयों में जजों की नियुक्तियों और तरक्कियों में पूँजीपति घरानों के हितों से प्रेरित और सरकार की अनुकूलता से प्रेरित राजनीतिक हस्तक्षेप के आरोप आम बात है। न्यायपालिका न तो राजनीतिक हस्तक्षेप से मुक्त है, न ही वर्गीय पूर्वाग्रह से।

श्रम क़ानूनों का स्वरूप जटिल है। 165 श्रम क़ानून पुराने पड़ चुके हैं। उच्चतम न्यायालय भी स्वीकार कर चुका है कि श्रम न्यायालयों और समूची न्यायपालिका से श्रमिकों को न्याय नहीं मिलता। श्रम न्यायालय और ट्रिब्युनल मामलों को लटकाकर मालिकों का हित साधते हैं। श्रम विभाग मालिकों के एजेण्ट की भूमिका निभाता है। देश की 93 फीसदी कामगार आबादी अनौपचारिक क्षेत्र में काम करती है; इसमें से 58 फीसदी कृषि एवं सम्बद्ध क्षेत्र में काम करने वाली ग्रामीण मज़दूर आबादी है। अनौपचारिक क्षेत्र के इन मज़दूरों को किसी भी किस्म की रोज़गार सुरक्षा या सामाजिक सुरक्षा नहीं हासिल है। काम के घण्टे, ओवरटाइम, न्यूनतम मज़दूरी, छुट्टी, मेडिकल, दुर्घटना की स्थिति में मुआवज़ा, कार्यस्थल पर सुविधाओं तथा ठेका मज़दूरों में मुआवज़ा मज़दूरों, प्रवासी मज़दूरों और स्त्री मज़दूरों से सम्बन्धित जो श्रम क़ानून काग़ज़ों पर मौजूद भी हैं, वे वास्तव में शायद ही कहीं अंशतः भी लागू होते हों। मज़दूरों के लिए जनवाद कामतलब शब्दशः मात्र यही रह गया है कि शासक वर्गों की इस या उस पार्टी को वोट देकर अपने ऊपर शासन करने का अधिकार सौंप दे।

'भारतीय पुलिस देश की सर्वाधिक संगठित गुण्डा फोर्स है' — यह बात जस्टिस ए.एन. मुल्ला ने काफी पहले कही थी। आज भी स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया है। तमाम आयोगों की सुधार विषयक सिफारिशों को दीमक चाट रहे हैं। मानवाधिकार आयोग दन्त-नखहीन है। थानों में टॉर्चर, हिरासत में मौतें, फर्जी मुठभेड़े, फर्जी अभियोग लगाकर नकली गवाह खड़ा करके मुकदमे क़ायम करना आम पुलिसिया दस्तूर है। आम नागरिकों को पुलिस सड़कों पर ठगों-बटमारों की तरह लूटती है और गुण्डों की तरह पीटती है। भारतीय जेले पुराणों में वर्णित नर्क की जीती-जागती मिसालें हैं। वे आज भी अंग्रेजों के ही ज़माने के ढंग-ढर्रे पर चलती हैं। दरअसल "महान भारतीय लोकतन्त्र" के महातमाशे को चलाने रहने के लिए सत्ताधारियों को जेल-पुलिस-थाने की ऐसी ही निरंकुश दमनकारी मशीनरी की ज़रूरत है।

औपनिवेशिक काले क़ानूनों के अलावा आज़ादी के बाद बने काले क़ानूनों की एक लम्बी फेहरिस्त है, जिन्हें जनता के जनवादी अधिकारों को कुचलने के लिए मनमाने ढंग से इस्तेमाल किया जाता है। 'मीसा', डी.आइ.आर., एन.एस.ए., टाडा, पोटा आदि ऐसे ही काले क़ानून थे। एक क़ानून जब बहुत बदनाम हो जाता है तो उसकी जगह लेने दूसरा क़ानून आ जाता है। एन.एस.ए. (राष्ट्रीय सुरक्षा क़ानून) और गैर क़ानूनी गतिविधि निरोधक क़ानून (यू.ए.पी.ए.) अभी भी लागू हैं। अंग्रेजों के समय के जिस कुख्यात राजद्रोह के क़ानून के तहत तिलक और गाँधी को सज़ा सुनाई गयी थी और जिसे नेहरू ने भी 'बर्बर' कहा था, वह आज भी लागू है और उसी के तहत विनायक

सेन और कई अन्य लोगों पर मुकदमे चलाये जा रह हैं। ‘सशस्त्र बल (विशेष अधिकार) क़ानून’ ब्रिटिश सत्ता के एक अध्यादेश की तर्ज़ पर बनाया गया क़ानून है, जिसके लागू होने पर किसी भी इलाके में वस्तुत: सैनिक शासन जैसी स्थिति हो जाती है और आम जनता के जनवादी अधिकार बेमानी हो जाते हैं। उत्तर-पूर्व के राज्यों में 1958 से और जम्मू-काश्मीर में 1990 से यह क़ानून लागू है। मज़दूरों की हड़तालों को कुचलने के लिए सरकार के तरकश में ‘आवश्यक सेवा क़ानून’ (एस्मा) का विषबुझा तीर मौजूद रहता है।

केन्द्र के अतिरिक्त अधिकांश राज्य सरकारों के पास जनता की संगठित आवाज़ को कुचलने के लिए तरह-तरह के काले कानून मौजूद हैं। इनमें ‘छत्तीसगढ़ विशेष जन सुरक्षा क़ानून’, ‘पंजाब सार्वजनिक एवं निजी सम्पत्ति को क्षति निरोधक क़ानून 2010’, ‘पंजाब स्पेशल सिक्योरिटी ग्रुप क़ानून 2010’ और ‘मकोका’ आदि महज कुछ उदाहरण हैं। जाहिर है कि शोषण और अत्याचार के विरुद्ध उठने वाले हर सम्भावित जनज्वार को कुचल डालने के लिए शासक वर्ग चाक-चौबन्द है। बुर्जुआ काले क़ानून हुकूमत के हर काले कारनामे को जायज़ ठहराने के लिए तैयार किये गये हैं।

प्रस्तावना में जोड़े गये “समाजवादी” शब्द की बेशर्म धोखाधड़ी

भारतीय संविधान की प्रस्तावना में समाजवाद शब्द 3 जनवरी 1977 को लागू हुए कुख्यात 42वें संशोधन द्वारा जोड़ा गया। इससे बड़ी विडम्बना क्या हो सकती कि समाजवाद शब्द आपातकाल के काले दिनों में और उस 42वें संशोधन विधेयक द्वारा जोड़ा गया जो राज्य के तथाकथित व्यापक हित में नागरिकों के जीवन के मूलभूत अधिकार का भी अपहरण कर लेने की इजाज़त देता था। समाजवाद शब्द उन दिनों जोड़ा गया जब देश में बुर्जुआ जनवाद के तहत मिले अधिकारों को भी छीन लिया गया था। दरअसल बढ़ते पूँजीवादी संकट के कारण राज्य की बढ़ती निरंकुशता और जनता के दमन-उत्पीड़न पर पर्दा डालने के लिए ही समाजवाद का साइनबोर्ड लटकाया गया था।

संविधान में भले ही यह शब्द बहुत बाद में जोड़ा गया मगर स्वतन्त्रता आन्दोलन आज़ादी के समय से ही समाजवाद और ”समाजवादी किस्म” की अर्थव्यवस्था की बातें कांग्रेस के नेता ख़ासकर जवाहरलाल नेहरू करते रहे थे। 1947 के बाद पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू करते और सार्वजनिक क्षेत्र के विशाल उद्योगों में भारी निवेश करते हुए नेहरू ने ”समाजवादी ढर्रे” पर भारत का निर्माण करने की वचनबद्धता दोहरायी। कई कल्याणकारी योजनाएँ भी शुरू की गयीं। मगर क्या यही समाजवाद है? पिछले 40-50 वर्षों की यात्रा बताती है कि देश लगातार लुटेरे पूँजीपतियों की गिरफ्त में और गहरे धँसता गया है और इसकी शुरुआत 1947 में ही हो गयी थी। आज़ादी के ठीक बाद ही तेलंगाना में किसान आन्दोलन को कुचलने के लिए सेना उतारकर नेहरू ने भारतीय राज्य का असली चरित्र स्पष्ट कर दिया था। आगे हम जब केन्द्र-राज्य सम्बन्धों और भारतीय राज्य के संघात्मक ढाँचे पर चर्चा करेंगे तब और स्पष्ट हो जायेगा कि किस तरीके का दमनात्मक, अति केन्द्रीकृत राज्यतन्त्र यहाँ विकसित हुआ। लेकिन समाजवाद और समाजवादी किस्म के नारों की जुगाली नेहरू और दूसरे नेता लगातार करते रहे।

नेहरू के समाजवाद का अपना अलग ब्राण्ड था लेकिन मूल रूप में यह उसी तरह का ”समाजवाद” था जिस तरह के समाजवाद की बातें घाना में क्वामे एन्क्रूमा, मिस्र में जमाल अब्दुल नासिर, इण्डोनेशिया में सुकर्ण और सीरिया तथा इराक में बाथ पार्टी के नेता करते थे। इन सबका मूल लक्ष्य एक ही था। जनता को समाजवाद की चाशनी में पगी कड़वी दवा पिलाकर जनता से निचोड़े गये संसाधनों के बूते पर पूँजीवादी विकास के लिए जरूरी आधारभूत ढाँचे और भारी उद्योगों का निर्माण करना। इसकी असलियत की पड़ताल करनी जरूरी है।

नेहरू का समाजवाद कुछ मायने में तीसरी दुनिया के इन नवस्वाधीन देशों के बुर्जुआ नेताओं के मुकाबले कहीं अधिक कपटपूर्ण और जनविरोधी था। 1936 से ही कांग्रेस नियोजित अर्थव्यवस्था की बातें करने लगी थी। 1944 में कांग्रेस ने टाटा-बिड़ला योजना को स्वीकार किया और दरअसल वही 47 के बाद आर्थिक विकास की नीतियों का आधार बनी। इसमें भी नियोजित अर्थव्यवस्था और सार्वजनिक क्षेत्र की बात की गयी थी। घनश्याम दास बिड़ला आज़ादी के पहले से ही दूसरे पूँजीपतियों को समझाते रहते थे कि नेहरू समाजवाद की जो लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं उनसे घबड़ाने की ज़रूरत नहीं है, इनमें हमारा ही भला है।

उपनिवेशवाद से आज़ादी पाने वाले सभी देशों के सामने विकास के लिए पूँजी की समस्या थी। भारतीय पूँजीपतियों के सामने भी सबसे बड़ी समस्या प्रारम्भिक पूँजी-संचय की ही थी। पूँजीवादी

विकास के लिए इस्पात, बिजली भारी मशीनरी जैसे बुनियादी उद्योगों और यातायात-परिवहन, सड़कों, रेलमार्गों, संचार-व्यवस्था आदि का ताना-बाना खड़ा करना था। कृषि में पूँजीवादी विकास और कृषि क्षेत्र से अधिशेष के दोहन के लिए नहरों, बाँधें आदि का निर्माण और बड़े उर्वरक कारख़ाने लगाना था। इन सबके लिए बहुत बड़े पैमाने पर पूँजी की ज़रूरत थी। इस पूँजी के लिए विदेशों पर निर्भरता से बचने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग ने जनता से पूँजी उगाहने का रास्ता चुना। पूँजीपतियों के औद्योगिक-व्यापारिक हितों की प्रतिनिधि संस्था 'फेडरेशन ऑफ इंडियन चैम्बर्स ऑफ कामर्स एँड इण्डस्ट्री' (फिक्की) और कांग्रेस दोनों ने ही पहले से तय कर लिया था कि राजाओं-महाराजाओं, नवाबों, जागीरदारों, ज़मींदारों, मठों-मन्दिरों-मस्जिदों-गुरुद्वारों-गिरजाघरों के पास जनता की मेहनत की कमाई की सैकड़ों साल की लूट से बटोरी गयी जो अकूत सम्पत्ति पड़ी है उसे नहीं छूना है। यही नहीं ज़मींदारी उन्मूलन के दौरान उन्हें 600 करोड़ रुपये का हर्ज़ाना देने का भी निर्णय किया गया जो आज की क़ीमत पर लगभग 2 लाख करोड़ रुपये बैठेगा। अगर भारत में जन क्रान्ति हुई होती तो इस विराट सम्पदा को निश्चय ही विकास के लिए शुरुआती पूँजी संचय के रूप में इस्तेमाल किया जाता। उस समय तक भारत में उद्योग-धन्धे अत्यन्त सीमित होने के कारण उनसे निचोड़े गये अतिरिक्त मूल्य से निर्मित पूँजी इतनी कम थी कि उसके सहारे तो आधारभूत संरचना का विकास होने में सैकड़ों साल लग जाते।

ऐसे में प्रारम्भिक पूँजी जुटाने के लिए भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास दो ही रास्ते थे। पहला यह कि मज़दूरों-किसानों की नस-नस से खून निचोड़कर सिक्कों में ढाला जाये, आम जनता की गाढ़ी कमाई से भी पाई-पाई छीन ली जाये और उन्हें बदहाली और कंगाली में धकेल दिया जाये। इसके लिए उन्होंने तरह-तरह के छल-प्रपंच और तरक़ीबें ईजाद कीं। दूसरा रास्ता विदेशों से पूँजी आयात करने का था। इसमें भी भारतीय पूँजीपति वर्ग ने दुनिया के तत्कालीन वर्ग-सन्तुलन का लाभ उठाकर अपनी राजनीतिक आज़ादी को क़ायम रखते हुए अपने आर्थिक आधारों को बढ़ाने और विकसित करने में विदेशी पूँजी का कुशलता से इस्तेमाल किया।

देश की जनता से पूँजी उगाहने में एक समस्या थी। मज़दूरों-किसानों और आम मेहनतकश लोगों को लूटकर सीधे पूँजीपतियों को पैसा नहीं दिया जा सकता था। इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था के नाम पर सार्वजनिक क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र और निजी क्षेत्र की नीतियाँ बनायी गयीं। सार्वजनिक क्षेत्र में आधारभूत उद्योगों और बुनियादी ढाँचे से सम्बन्धित उद्योगों को लगाने का निर्णय किया गया जिनमें मुनाफा बहुत ही कम या नाममात्र का था लेकिन जिनके दम पर निजी क्षेत्र भारी मुनाफा कमाकर अपनी पूँजी का विस्तार कर सकता था। यह बहुत चालाकी भरी नीति थी। यहाँ का पूँजीपति वर्ग अपने दम पर आधारभूत उद्योगों और इन्फ्रास्ट्रक्चर का निर्माण करने में अक्षम था। यह काम जनता की गाढ़ी कमाई से राज्य ही कर सकता था। इसी को बड़ी कुशलता से "समाजवादी ढर्रे के समाज के विकास" का नाम दिया गया।

राजकीय पूँजीवाद का यह रास्ता कोई नई बात नहीं थी। जर्मनी में 19वीं सदी में बिस्मार्क के समय से जनता से पैसे लेकर पूँजीपतियों के हित साधने के लिए इस रास्ते का इस्तेमाल किया जा रहा है। 1930 के दशक में महामन्दी के बाद पूँजीवाद को संकट से उबारने के लिए कल्याणकारी राज्य के कीन्सियाई नुस्खे के तहत राज्य ने जनता से पैसे उगाहक़र बड़े पैमाने पर सार्वजनिक निर्माण और अवरचनागत ढाँचे में पूँजी निवेश किया। भारत में यह काम समाजवाद के नारे के तहत नये तरीक़े से किया गया। जनता पूँजीपतियों को सीधे तो पैसे देती नहीं मगर समाजवाद के नाम पर राज्य ने उसके पैसे से दैत्याकार सार्वजनिक उपक्रम खड़े करके पूँजीपतियों का काम

आसान कर दिया। परोक्ष करों के द्वारा आम जनता से उगाही गयी विशाल धनराशियों और पेंशन, बीमा, छोटी-छोटी बचतों आदि में जमा जनता की अरबों की धनराशि को ”उधार लेकर” सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के इन उद्योगों, बाँधों आदि को नेहरू ने ”देश के नये मन्दिरों” का नाम दिया मगर इनका असली मक़सद पूँजीपतियों के उद्योगों की मदद करना था। 50-60 साल के करार करके नाममात्र की क़ीमतों पर पूँजीपतियों को स्टील, बिजली, पानी, कोयला और औद्योगिक उत्पादन के लिए ज़रूरी अनेक सुविधाएँ प्रदान की गयीं। रेलों से माल ढुलाई आदि में उन्हें भारी छूटें दी गयीं। देहात में क्रमिक पूँजीवादी विकास के लिए राज्य ने विभिन्न तरीकों से पूँजी निवेश किया। नहरों का जाल बिछाया गया, खाद के बड़े-बड़े कारख़ाने लगाये गये। तथाकथित हरित क्रान्ति के दौरान यह प्रक्रिया और तेजी से बढ़ी।

1970 का दशक आते-आते आधारभूत ढाँचे और राष्ट्रीय बाज़ार के विकास का काम काफी हद तक पूरा हो चुका था। अब पूँजीपतियों को और अधिक विस्तार के लिए फिर से पूँजी की जरूरत पड़ने लगी थी। इसी समय एक बार फिर ‘ग़रीबी हटाओ’ और समाजवाद के नारे देते हुए इन्दिरा गाँधी ने बैंकों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। इससे घरेलू बचत बहुत अधिक बढ़ गयी। बैंकों की शाखाएँ और विस्तारित पटल दूर-दराज़ के इलाक़ों तक पहुँच गये। समाजवाद की इस अगली क़िश्त से एक बार फिर पूँजीपतियों के लिए बड़े पैमाने पर पूँजी जुटायी गयी। जनता की बचत से पूँजीपतियों को अपने उद्योगों में निवेश के लिए भारी पैमाने पर उधार दिया गया। बैंकों में जमा रकम पर जनता को 4-6 प्रतिशत ब्याज मिलता था मगर उसी रकम को निवेश करके पूँजीपति 10-20 या 50 गुना मुनाफा बटोरते थे। 1980 के दशक की शुरुआत में जब स्वराज पॉल ने कई भारतीय कम्पनियों के शेयर खरीद कर उन पर कब्जा करने की कोशिश की तब आम लोगों के सामने यह उजागर हुआ कि टाटा-बिड़ला जैसे बड़े घराने भी महज 6-7 प्रतिशत शेयरों के दम पर हजारों करोड़ के सम्पत्ति साम्राज्य को नियन्त्रित करते हैं। सबसे अधिक पूँजी बैंकों और बीमा कम्पनियों ने लगायी हुई थी।

भारतीय पूँजीपति वर्ग के राजनीतिक प्रतिनिधियों ने बड़ी कुशलता के साथ पूँजीवादी विकास के अपने रास्ते को समाजवाद के आवरण में पेश किया। भाकपा, माकपा और कुछ अन्य कम्युनिस्ट नामधारी पार्टियाँ भी इसी को समाजवाद की दिशा में कदम का दाम देती थीं और राष्ट्रीकरण की रट लगाती रहती थीं। आज भी ये पार्टियाँ सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण पर इस कदर मातम करती हैं मानो वास्तव में जनता से समाजवाद छीन लिया गया हो। क्या बड़े उद्योगों पर सरकार का स्वामित्व ही समाजवाद है? पूँजीवाद के तहत होने वाला राष्ट्रीकरण विशुद्ध पूँजीवाद ही होता है। भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के नौकरशाहों और टेक्नोक्रेट के रूप में एक विशाल नौकरशाह पूँजीपति वर्ग अस्तित्व में आया। इन उद्योगों में काम करने वाले मज़दूरों से उगाहे गये अतिरिक्त मूल्य का हस्तगतकर्ता जनता नहीं थी। इसकी भारी मात्रा पूँजीपतियों को अपने उद्योगों के विकास में मदद के लिए थमा दी जाती थी और बाकी नौकरशाह पूँजीपतियों के नये वर्ग के ऐशो-आराम और विलासिता पर खर्च होती थी। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों के शीर्षस्थ अफसर अपने ऊपर करोड़ों रुपये खर्च करते थे।

अब भारतीय पूँजीपति वर्ग के पास इतनी पूँजी आ चुकी है कि वह प्रतिस्पर्द्धा करके सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को खरीद सकता है और खुद भी बड़े आधारभूत उद्योग लगा सकता है। अब उसका अपना आधार इतना विस्तारित हो चुका है कि पूँजी और तकनोलॉजी के लिए विदेशी कम्पनियों के लिए दरवाज़े खोलकर भी उसके सामने राजनीतिक आज़ादी खोने का ख़तरा नहीं

है। साम्राज्यवादी बड़ी पूँजी का कनिष्ठ साझीदार बन कर वह देश की जनता की लूट में भागीदारी करता रह सकता है।

इसी वजह से पिछले कुछ वर्षों के भीतर सार्वजनिक क्षेत्र तेज़ी से सिकुड़ा है। और एक के बाद एक कारख़ाने निजी क्षेत्र में दे दिये गये हैं। सार्वजनिक क्षेत्र के जो उद्योग बचे भी हुए हैं उनकी भी अन्दर से प्रकृति बदल गयी है। दिल्ली मेट्रो रेल कॉरपोरेशन में तो अधिकांश काम प्राइवेट ठेका कम्पनियों के मज़दूरों से कराया जाता है, रेलवे में भी किश्तों में निजीकरण लगातार जारी है। कल्याणकारी राज्य की एक-एक योजनाओं को लगातार बन्द किया जा रहा है, शिक्षा, स्वास्थ्य आदि को पूरी तरह बाज़ार की शक्तियों के हवाले कर दिया गया है। मनमोहन सिंह-चिदम्बरम-अहलूवालिया आदि जिस भाषा में बाज़ार की शक्तियों का गुणगान करते हैं और ”समाजवाद” की खिल्ली उड़ाते हैं, और तमाम सरकारी भोंपू और मीडिया लगातार पूँजीपतियों के सुर में सुर मिलाकर देश की तमाम समस्याओं के लिए 1947 के बाद की ”समाजवादी” नीतियों को दोषी ठहराते हैं उसे देखते हुए तो इन्हें फिर से प्रस्ताव पास कर संविधान से समाजवाद शब्द को निकाल देना चाहिए।

हालाँकि, आपातकाल के दौरान जब यह शब्द जोड़ा गया था तब और आज में एक बात की समानता है। तब भी राज्य का दमनकारी स्वरूप एकदम नग्न-निरंकुश रूप में जनता के सामने आया था। आज भी अघोषित आपातकाल जैसी स्थिति बनी हुई है। मेहनतकश जनता के श्रम और देश के प्राकृतिक संसाधनों की वहशी लूट के लिए देशी-विदेशी पूँजीपतियों को खुली छूट दे दी गयी है और जहाँ भी लोग इसका प्रतिरोध कर रहे हैं उनका बर्बर दमन किया जा रहा है। ऐसे में संविधान की प्रस्तावना में मौजूद समाजवाद शब्द बार-बार आपातकाल के काले दिनों की और जनता के साथ की गयी धोखाधड़ी की याद दिलाता रहता है।

मूलभूत अधिकारः दावे और हक़ीक़त

इस श्रृंखला में अब तक हमने देखा कि किस प्रकार एक निहायत ही ग़ैर-जनवादी तरीक़े से चुनी गयी संविधान सभा ने भारतीय संविधान का निर्माण किया। हमने यह भी देखा कि इस संविधान के लगभग सत्तर फ़ीसदी प्रावधान औपनिवेशिक क़ानून ‘गवर्नमेंट ऑफ़ इण्डिया ऐक्ट 1935’ से हूबहू या फिर चन्द मामूली शाब्दिक बदलावों के साथ उठा लिये गये थे। बाकी तीस फ़ीसदी प्रावधान भी विभिन्न देशों के बुर्जुआ संविधानों और परम्पराओं से उधार लिये गये थे। इन प्रावधानों को भी ग़ौर से देखने पर हम पाते हैं कि इनमें स्वाधीनता संघर्ष के दौरान किये गये वायदों और जनता की आकांक्षाओं और भावनाओं को अभिव्यक्ति देने के बजाय आज़ादी मिलने के बाद सत्तारूढ़ देशी पूँजीपति वर्ग के शासन को मज़बूती प्रदान करने और लोकलुभावन जुमलों का इस्तेमाल करके जनता से अपने शासन के प्रति सहमति लेने की कोशिश ज़्यादा दिखती है। ज़ाहिर है कि देशी शासक वर्ग स्वाधीनता संघर्ष के दौरान किये गये लंबे-चौड़े वायदों से खुले आम वायदाख़िलाफ़ी कर नग्न तानाशाही नहीं क़ायम कर सकता था। इसलिए संविधान में कुछ ऐसे प्रावधान डाले गये जिनको प्रथमदृष्टया देखने पर लोकतंत्र का वहम हो और जिनकी आड़ में संविधान की जनविरोधी अन्तर्वस्तु छिपायी जा सके। इसकी एक बानगी हमने संविधान की प्रस्तावना की चर्चा के दौरान देखी कि किस प्रकार संविधान की शुरुआत लच्छेदार और मनमोहक शब्दों से होती है। लोकतंत्र का आवरण बनाये रखने के लिए सबसे महत्वपूर्ण प्रावधान संविधान के भाग तीन में मूलभूत अधिकारों के रूप में मौजूद हैं।

मूलभूत अधिकार वे अधिकार होते हैं जो देश के हर नागरिक को एक नागरिक होने की हैसियत से प्राप्त होते हैं और जिनका हनन होने की सूरत में कोई भी व्यक्ति न्यायालय में गुहार लगा सकता है। भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकार अमेरिका के मशहूर ‘बिल ऑफ़ राइट्स’ से प्रेरित हैं। ये अधिकार हैं: समता का अधिकार (अनु. 14-18), स्वातंत्र-अधिकार (अनु. 19-22), शोषण के ख़िलाफ़ अधिकार (अनु. 23-24), धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार (अनु- 25-28), संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (अनु. 28-30) और संवैधानिक उपचारों का अधिकार (अनु. 32-35)। लेकिन जब हम मूलभूत अधिकार सम्बन्धी प्रावधानों की तफ़सीलों में जाते हैं तो ये ऊँची दुकान और फ़ीके पकवान जैसा भाव पैदा करते हैं।

संविधान प्रदत्त मूलभूत अधिकारों का मूल स्वरूप राजनीतिक है। भारतीय संविधान आर्थिक समानता, आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक शोषण से मुक्ति से सम्बन्धित मूलभूत अधिकारों की कोई गारण्टी नहीं देता। संविधान के मूलभूत अधिकारों से सम्बन्धित भाग तीन में संसाधनों के असमान बँटवारे और उनके निजी हाथों में संकेन्द्रण के विरुद्ध अधिकार, काम का अधिकार, काम की न्यायसंगत और मनोचित दशाओं का अधिकार, स्वास्थ्य और पोषणयुक्त भोजन का अधिकार, श्रमिकों के लिए निर्वाह मज़दूरी का अधिकार, समान श्रम के लिए समान मज़दूरी, निःशुल्क विधिक सहायता का अधिकार, जैसे बेहद बुनियादी अधिकारों का ज़िक्र तक नहीं है। हालाँकि इनमें से कुछ की चलताऊ चर्चा संविधान के चौथे भाग में राज्य के नीति निर्देशक तत्वों के रूप में की गयी है, परन्तु ये नीति निर्देशक तत्व राज्य के लिए विधिक रूप से बाध्यताकारी नहीं हैं और नागरिकों को इनका उल्लंघन होने की सूरत में न्यायालय जाने का भी कोई अधिकार नहीं है। ऐसे में ये नीति निर्देशक तत्व जनता के अधिकारों की दृष्टि से भद्दे मज़ाक के समान हैं।

भारतीय नागरिकों को प्रदत्त मूलभूत अधिकार न सिर्फ़ नाकाफ़ी हैं बल्कि जो चन्द राजनीतिक अधिकार संविधान द्वारा दिये भी गये हैं उनको भी तमाम शर्तों और पाबन्दियों भरे प्रावधानों से परिसीमित किया गया है। उनको पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो संविधान निर्माताओं ने अपनी सारी विद्वता और क़ानूनी ज्ञान जनता के मूलभूत अधिकारों की हिफ़ाज़त करने के बजाय एक मज़बूत राज्यसत्ता की स्थापना करने में में झोंक दिया हो। इन शर्तों और पाबन्दियों की बदौलत आलम यह है कि भारतीय राज्य को जनता के मूलभूत अधिकारों का हनन करने के लिए संविधान का उल्लंघन करने की ज़रूरत ही नहीं है। इसके अतिरिक्त संविधान में एक विशेष हिस्सा (भाग 18) आपातकाल सम्बन्धी प्रावधानों का है जो राज्य को आपातकाल घोषित करने का अधिकार देता है। आपातकाल की घोषणा होने के बाद नागरिकों के औपचारिक अधिकार भी निरस्त हो जाते हैं और राज्य सत्ता को लोकतंत्र का लबादा ओढ़ने की भी ज़रूरत नहीं रहती। ग़ौरतलब है कि आज़ादी के बाद से अब तक कुल चार बार आपातकाल घोषित किया जा चुका है (तीन बार बाध्य कारणों से और एक बार आन्तरिक कारण से)। 1975 में इन्दिरा गाँधी सरकार द्वारा घोषित आन्तरिक आपातकाल नागरिकों के मूलभूत अधिकारों के धड़ल्ले से हनन के लिए कुख्यात है जब 19 महीनों तक संविधानसम्मत तरीके से वस्तुतः तानाशाही क़ायम थी जिसका ज़िक्र आने पर इस संविधान के प्रबल से प्रबल समर्थक भी शर्म से बगलें झाँकने लगते हैं।

आज़ादी के 65 सालों में भारतीय बुर्जुआ राज्य के आचरण पर निगाह डालने से यह बात दिन के उजाले की तरह साफ़ नज़र आती है कि यह राज्य जनता के मूलभूत अधिकारों की हिफ़ाज़त तो दूर अपने काले क़ानूनों और काली करतूतों से इन अधिकारों का खुलेआम हनन करता आया है। भारतीय राज्य जनान्दोलनों के बर्बर दमन, नौकरशाही, पुलिस तंत्र और पफ़ौज के घोर जनविरोधी आचरण, कश्मीर और पूर्वोत्तर की परिधि की राष्ट्रीयताओं के उत्पीड़न और हाल में नक्सलवाद के नाम पर देश की सबसे ग़रीब और बदहाल आदिवासी आबादी के ख़िलाफ़ अघोषित युद्ध छेड़ने के लिए पूरी दुनिया में कुख्यात है। इससे भी बड़ी विडम्बना तो यह है कि भारतीय राज्य ने इन काले कारनामों को अंजाम देने के लिए संविधान में ही मौजूद प्रावधानों का इस्तेमाल किया है। यानी कि भारतीय संविधान इस मामले में अनूठा है कि इसके आधार पर निर्मित राज्यसत्ता को ग़ैर-लोकतांत्रिक हरकतें करने और नागरिकों के जनवादी अधिकारों का हरण करने की तरक़ीबें संविधान में ही मौजूद हैं। इस प्रकार भारतीय संविधान लोकतंत्र के आवरण में एक निरंकुश राज्य सत्ता स्थापित करने के मामले में एक मील के पत्थर के समान है। यही वजह है कि तीसरी दुनिया के उत्तर-औपनिवेशिक देशों का बुर्जुआ शासक वर्ग इस संविधान को एक ‘रोल-मॉडल’ के रूप में देखता है।

मूलभूत अधिकार और उनका माखौल उड़ाती शर्तों और पाबन्दियों की तफ़सीलवार चर्चा हम आगे करेंगे। परन्तु उससे भी बुनियादी पहलू यह है कि जिस प्रकार से भारतीय समाज में पूँजीवादी विकास हुआ है और हो रहा है उसको देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि अगर ये शर्तें और पाबन्दियाँ संविधान में मौजूद नहीं भी होतीं तो भी नागरिकों के जनवादी अधिकार एक हद तक ही सुरक्षित रह पाते। एक ऐसे समाज में जिसकी सामाजिक-आर्थिक संरचना में ग़ैर-बराबरी, शोषण और उत्पीड़न के तत्व अन्तर्निहित हों उसमें यदि क़ानूनी और संवैधानिक रूप से बराबरी और स्वतंत्रता घोषित भी कर दी जाये तो यह महज़ विधिक बराबरी और स्वतंत्रता होगी। दूसरे शब्दों में, क़ागज़ पर तो सभी नागरिक बराबर और स्वतंत्र होंगे परन्तु हक़ीक़त में लोगों में ग़ैर-बराबरी और स्वामित्व-अधीनता का सम्बन्ध बरकरार रहेगा।

संविधान और क़ानून की किताबों में तो दुनिया के सबसे बड़े धन्नासेठों में एक मुकेश अम्बानी और एक रिक्शा चलाने वाला दोनों बराबर हैं क्योंकि दोनों को समान रूप से मूलभूत अधिकार प्राप्त हैं। लेकिन असल ज़िन्दगी में तो कोई मूर्ख या हद दर्जे का भोला और अज्ञानी व्यक्ति ही इस बात पर यकीन करेगा। अम्बानी जैसे पूँजीपतियों की ख़िदमत में राजनेता से लेकर नौकरशाह तक उनके आगे-पीछे घूमते हैं और वकील से लेकर न्यायाधीश तक उनकी जेबों में होते हैं। दूसरी ओर रिक्शे वाले के अधिकारों का हनन रोज़ाना घण्टे-दर-घण्टे इस व्यवस्था की नुमाइन्दगी करने वाले ही करते हैं। सड़क और चौराहे पर एक कांस्टेबल भी उसके साथ जानवरों सरीखा बर्ताव करता है और वह उसके ख़िलाफ़ कुछ भी नहीं कर पाता है। अव्वलन तो उसे मूलभूत अधिकार जैसी किसी चीज़ के बारे में कुछ पता ही नहीं होता और यदि किसी को अपवादस्वरूप पता भी हो तो उसकी हिफ़ाज़त करने की कुव्वत उसके पास नहीं होती। कमोबेश यह बात देश की अधिकांश मेहनतकश जनता पर लागू होती है।

जिस देश में एक ओर 77 फ़ीसदी आबादी 20 रुपये प्रतिदिन पर गुज़ारा करती हो और दूसरी ओर अरबपतियों की संख्या दुनिया में सबसे अधिक रफ़्तार से बढ़ रही हो वहाँ समानता और स्वतंत्रता जैसे मूलभूत राजनीतिक अधिकार अन्तिम विश्लेषण में बेमानी ही साबित होंगे, भले ही वे क़ानून और संविधान में मोटे अक्षरों में लिखे हों। जिस देश में संविधान लागू होने के छह दशक बाद भी बच्चों की लगभग आधी आबादी और महिलाओं की आधी से ज़्यादा आबादी भूख और कुपोषण की शिकार हो, जहाँ जातिगत और जेंडर आधारित उत्पीड़न के नये नये घिनौने रूप सामने आ रहे हों वहाँ जब कोई संविधान में मौजूद शोषण से मुक्ति के अधिकार का गुणगान करता है तो वह देश की बहुसंख्यक आम मेहनतकश आबादी के अपमान से अधिक कुछ नहीं लगता है।

भारतीय संविधान के उत्साही समर्थक इस बात का ज़ोर-शोर से बख़ान करते नहीं थकते हैं कि संविधान में संवैधानिक उपचार भी एक मूलभूत अधिकार है। इस प्रावधान के अनुसार हर नागरिक को यह मूलभूत अधिकार है कि यदि राज्य या कोई व्यक्ति उसके मूलभूत अधिकारों का हनन करता है तो वह सीधे सर्वोच्च न्यायालय में गुहार लगा सकता है। लेकिन ज़मीनी हक़ीक़त तो यह है कि न सिर्फ़ भौगोलिक दृष्टि से बल्कि आर्थिक दृष्टि से भी उच्चतम न्यायालय भारत के आम नागरिक की पहुँच से काफी दूर है। न्याय की प्रक्रिया बेहद लम्बी और बेहिसाब ख़र्चीली होने की सूरत में संवैधानिक उपचार का अधिकार भी महज़ औपचारिक ही है जिसका संविधान का ढिंढोरा पीटने वाले कितना भी इस्तेमाल करें, परन्तु भारत की आम बहुसंख्यक जनता के मूलभूत अधिकारों की हिफ़ाजत करने में यह प्रावधान निहायत ही निकम्मा साबित हुआ है। यही नहीं भारतीय राज्य ने नागरिकों को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक करने की ज़िम्मेदारी निभाना भी ज़रूरी नहीं समझा है। यही वजह है कि अनपढ़ और ग़रीब आबादी तो दूर पढ़े-लिखे मध्यवर्गीय पृष्ठभूमि के अधिकांश लोग भी अपने मूलभूत अधिकारों के प्रति सर्वथा अनभिज्ञ पाये जाते हैं।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय संविधान में मौजूद मूलभूत अधिकार बेहद सीमित हैं और जनता को जो कुछ अधिकार दिये भी गये हैं उनको भी तमाम शर्तों, पाबन्दियों और कानूनी शब्दाडम्बरों के मायाजाल से जकड़ कर प्रभावहीन बना दिया गया है।

मूलभूत अधिकार – लम्बे-चौड़े वायदों के पीछे की सच्चाई

समता का अधिकार(अनु. 14 से अनु. 18 तक)

अनु. 14 से लेकर अनु. 18 तक के प्रावधान समता के मूलभूत अधिकार से सम्बन्धित हैं। संविधान में क़ानून के राज्य और क़ानून के समक्ष समता की लोकलुभावन बातें इस नंगी सच्चाई के सामने बेमानी साबित हो जाती हैं कि हम एक ऐसे समाज में रह रहे हैं जो न सिर्फ़ ऐतिहासिक रूप से असमान रहा है बल्कि आज़ादी के बाद के पूँजीवादी विकास के दौर में सामाजिक और आर्थिक विषमता घटने की बजाय बढ़ी ही हैं। एक आँकड़े के मुताबिक देश की ऊपरी दस फ़ीसदी आबादी के पास देश की कुल परिसम्पत्ति का 85 फ़ीसदी है, जबकि नीचे की 60 फ़ीसदी आबादी के पास महज़ 2 फ़ीसदी है। एक ओर देश में अरबपतियों और करोड़पतियों की संख्या में इजाफ़ा हो रहा है वहीं दूसरी ओर ग़रीबी और भुखमरी भी बढ़ रही है।

ऐसे में अनु. 14 में उल्लेखित क़ानून के समक्ष समता और क़ानून के समान संरक्षण की बात एक भद्दे मज़ाक जैसी लगती है। असलियत यह है कि इस देश में सम्पत्तिवानों के लिए तो क़ानून बेहद लचीला है जिसकी वजह से वे हत्या, बलात्कार, फ़िरौती, लूटपाट जैसे संगीन अपराधों में लिप्त होने के बाद भी न सिर्फ़ खुले आम समाज में अपना डंका बजाते हैं बल्कि विधायक, संसद सदस्य और मंत्री तक बन जाते हैं। वहीं दूसरी ओर सम्पत्तिविहीनों के लिए क़ानून फ़ौलाद सरीखा है और इसकी चपेट में ग़लती से भी या मामूली अपराध करने की वजह से आने के बाद वे सालों-साल जेलों में सड़ते रहते हैं क्योंकि उन्हें न तो क़ानूनीप्रक्रिया के बारे में जागरूकता होती है और न ही इस बेहद ख़र्चीली प्रक्रिया को वहन करने की कुव्वत। यानि अमीरों के लिए क़ानून का एक रूप और ग़रीबों के लिए दूसरा रूप!

अनु. 15 में धर्म, नस्ल, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव करने पर निषेध की बात कही गई है। अनु. 16 में इन्हीं आधारों पर सरकारी नौकरियों में भी भेदभाव को निषेध करने का प्रावधान है। परन्तु इस देश की हक़ीकत इन प्रावधानों से कितनी जुदा है इस बात का अन्दाज़ा आये दिन दलितों, महिलाओं, प्रवासी मज़दूरों, कश्मीर और उत्तर-पूर्व जैसे परिधि की राष्ट्रीयताओं के लोगों के साथ हिंसक और अपमानजनक वारदातों से लगाया जा सकता है। वोट बैंक और सस्ती लोकरंजकता पर आधारित बुर्जुआ राजनीति व्यवहार में हर पल अपने ही द्वारा बनाये गये संविधान के प्रावधानों की धज्जियाँ उड़ाती दिखती है।

अनु. 15 में ही एक और प्रावधान यह है कि राज्य शैक्षिक और सामाजिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रयोजन कर सकता है। यहाँ ग़ौर करने वाली बात यह है कि इस प्रावधान में आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों का कोई ज़िक्र नहीं है। संविधान निर्माता इस बात से अच्छी तरह वाकिफ़ थे कि वे जिस पूँजीवादी समाज की नींव रख रहे थे उसमें हमेशा ही बहुसंख्यक आबादी आर्थिक रूप से पिछड़ी ही रहेगी। ऐसे में आर्थिक रूप से पिछड़े वर्गों के लिए विशेष प्रयोजन संविधान में डालना उदीयमान बुर्जुआ वर्ग को हरग़िज मंजूर नहीं होता। इसलिए उन्होंने इस मसले पर मौन रहना ही उचित समझा। अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और पिछड़ी जातियों के लिए संरक्षण देना इसलिए ज़रूरी था कि यदि इन जातियों के अगुआ तत्वों को कुछ रियायतों का लालच देकर सदियों से चली आ रही जाति-व्यवस्था के अमानवीय भेदभाव के ख़िलाफ़ सुलग रही विद्रोह की लपट पर ठंडे पानी के छींटे न फ़ेंके जाते तो पूँजीवादी व्यवस्था के ऊपर अस्तित्व का संकट आ जाता। यदि विद्रोह की ये लपटें मज़दूर संघर्षों की मशाल से जा मिलतीं तो पूँजीवादी आधार पर समाज को चलाना बेहद मुश्किल हो जाता। आज भी आरक्षण की जातिगत राजनीति

का मक़सद निचली जातियों के मन में बेहतरी की एक झूठी उम्मीद जगाना है क्योंकि पूँजीवादी व्यवस्था सबके लिए रोज़गार दे ही नहीं सकती। आरक्षण की मौजूदा बुर्जुआ राजनीति के रहनुमा जाति प्रथा और मनुवादी ब्राहमणवाद के ख़िलाफ़ चाहे जितनी गर्मा गर्म बातें कहें, उनकी राजनीति जाति प्रथा की जड़ों को काटने की बजाय उसको और मजबूत बनाती है। इस प्रकार बुर्जुआ राजनीति ने खुद ही संविधान में मौजूद अस्पृश्यता उन्मूलन (अनु. 17) और जातिगत भेदभाव रोकने के प्रावधानों को बेमानी साबित कर दिया है। इस सच्चाई की एक मिसाल यह है कि संविधान लागू होने के छह दशकों बाद भी इस देश में अन्तरजातीय विवाह नियम की बजाय अपवाद है। समय बीतने के साथ भले ही जातिगत उत्पीड़न के कुछ पुराने भोंडे रूप सामने न आते हों परन्तु जातिगत उत्पीड़न के नये-नये रूप सामने आ रहे हैं जो दिल दहला देने वाले हैं।

संविधान के अनु. 18 में उपाधियों के अन्त का प्रावधान है और इसमें राज्य को यह निर्देश दिया गया है कि वह सेना या विद्या सम्बन्धी सम्मान के सिवाय और कोई उपाधि नहीं प्रदान करेगा। इस सांकेतिक ज़िम्मेदारी को निभाने में भी भारत की पूँजीवादी राजनीति सफ़ल नहीं हो पायी है। हर साल सरकार अपने चहेते बुद्धिजीवियों, कलाकारों, उद्योगपतियों और मीडियाकर्मियों को पद्म विभूषण, पद्म भूषण और पद्म श्री जैसे ख़िताबों से नवाजती है और इनको पाने की होड़ औपनिवेशिक काल के राय बहादुर और खान बहादुर जैसी उपाधियों के लिए होड़ की याद दिलाती है।

स्वतन्त्रता सम्बन्धित अधिकार (अनु. 19 से अनु. 22 तक)

संविधान के अनुच्छेद 19 से 22 तक स्वतन्त्रता सम्बन्धित अधिकारों के प्रावधान हैं। भारतीय संविधान के उत्साही समर्थक और बुर्जुआ बुद्धिजीवी इन प्रावधानों का बखान करते नहीं अघाते। सतही तौर पर देखने से ये प्रावधान जनता को स्वतन्त्रता सम्बन्धित तमाम अधिकार देते हुए प्रतीत भी होते हैं। परन्तु जैसे ही हम इन प्रावधानों की तफ़्सीलों में जाते हैं, हम पाते हैं कि दरअसल ये जनता को प्रदत्त अधिकार कम और राज्य द्वारा जनता के अधिकारों का हनन करने के अस्त्र ज़्यादा हैं।

मिसाल के तौर पर अनु. 19 को ही लें जो बोलने और अभिव्यक्ति की आज़ादी (19(1)(क)), शान्तिपूर्वक और बिना हथियार के सभा करने की आज़ादी(19(1) (ख)), संघ या यूनियन बनाने की आज़ादी (19(1)(ग)), भारत के राज्यक्षेत्र में कहीं भी बेरोकटोक आवाजाही की आज़ादी (19(1)(घ)), भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भी भाग में निवास करने और बस जाने की आज़ादी (19(1)(घ)), कोई भी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की आज़ादी (19(1)(छ))का वायदा करता है। परन्तु जैसे ही हम अनु. 19 में ही मौजूद अन्य खण्डों पर निगाह दौड़ाते हैं, इन वायदों की क़लई खुल जाती है। इन खण्डों में 'वाजिब पाबन्दियों (Reasonable restrictions)' के प्रावधान हैं जो राज्य को यह अधिकार देते हैं कि वह भारत की प्रभुता और अखण्डता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध, लोक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित में अथवा न्यायालय की अवमानना के सम्बन्ध में क़ानून बनाकर इन अधिकारों पर वाजिब पाबन्दियाँ लगा सकता है। 'वाजिब पाबन्दियों' के इन्हीं प्रावधानों का जमकर लाभ उठाते हुए पिछले छह दशकों में भारतीय राज्य ने नागरिकों के बेहद बुनियादी जनवादी अधिकारों का धड़ल्ले से हनन किया है।

इस देश के लोगों को बोलने की आज़ादी तब तक है जब तक वो राज्य की सुरक्षा और देश की प्रभुता और अखण्डता के दायरे के भीतर बात करते हैं। ज्यों ही कोई मौजूदा व्यवस्था का

आमूलचूल परिवर्तन करके वास्तविक जनवाद और समता पर आधारित एक वैकल्पिक व्यवस्था के निर्माण के बारे में बोलता है, या फ़िर कश्मीर और उत्तर पूर्व के राज्यों के लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार के पक्ष में बोलता है, राज्य सत्ता के कान खड़े हो जाते हैं और उस व्यक्ति के बोलने की आज़ादी पर वाजिब पाबन्दियों के लिए संविधान का सहारा लेकर उसकी ज़बान ख़ामोश करने की क़वायद शुरू हो जाती है।

भारत को दुनिया का सबसे बड़ा लोकतन्त्र कहकर इसकी शान में क़सीदे पढ़ने वाले लोग अक़्सर भारत में प्रेस और मीडिया की आज़ादी का हवाला देते हैं और इसको संविधान के अनु. 19 (1) (क) में मौजूद अभिव्यक्ति की आज़ादी से जोड़ते हैं। परन्तु भारतीय प्रेस और मीडिया के स्वरूप से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दरअसल यह आज़ादी प्रेस और मीडिया के व्यवसाय की आज़ादी है। देश के लगभग सभी बड़े अख़बार और टेलीविज़न चैनलों का मालिकाना हक़ कॉरपोरेट घरानों के पास है। यही नहीं औद्योगिक घराने विज्ञापनों के ज़रिये अख़बारों और टी वी चैनलों पर नियन्त्रण स्थापित करते हैं। पिछले कुछ सालों में पेड-न्यूज़ जैसी परिघटनाओं के सामने आने से और राडिया टेप काण्ड के बाद भी जब कोई भारत में मुक्त प्रेस और आज़ाद मीडिया की बात करता है तो हँसी आती है।

आइये अब देश में कहीं भी शान्तिपूर्ण और हथियारों के बिना सभा करने की आज़ादी के अधिकार की असलियत समझें। देश की राजधानी दिल्ली में आलम यह है कि जन्तर-मन्तर के अतिरिक्त सभी स्थानों पर धारा 144 हमेशा लगी रहती है जिसके तहत 5 या उससे अधिक लोग एक जगह एकत्र नहीं हो सकते। यानि जन्तर-मन्तर के अलावा और कहीं भी कोई सभा नहीं हो सकती है और जन्तर मन्तर में भी सभा करने के लिए पुलिस की अनुमति लेनी पड़ती है। इस तथ्य की रोशनी में जब हम ऊपर लिखे गये संवैधानिक अधिकार को पढ़ते हैं तो हम अपने आप को ठगा हुआ सा पाते हैं। कमोबेश ऐसा ही भाव संघ या यूनियन बनाने के संवैधानिक अधिकार और ज़मीनी हक़ीकत के बीच की खाई को देखकर पैदा होता है। अभी हालिया मारुती आन्दोलन पर सरसरी निगाह डालने से यह खाई साफ़ नज़र आती है क्योंकि मारुती के मज़दूरों की मुख्य माँग अपनी स्वतन्त्र यूनियन बनाने की थी जिसको एक साज़िशाना अन्दाज़ में दबा दिया गया। जहाँ तक देश में कहीं भी बेरोकटोक आवाजाही और कहीं भी निवास करने और बसने के अधिकार का सवाल है, अलग-अलग राज्यों में क्षेत्रीय अन्धराष्ट्रवादी ताकतों के उभार के दौर में ये वैसे भी सीमित हो जाते हैं और देश में कहीं भी जाने और क़ानूनन बसने के लिए ज़रूरी आर्थिक संसाधन एक छोटी आबादी के पास ही उपलब्ध होती है। ग़रीबों की अधिकांश आबादी महानगरों में अवैध कालोनियों और झुग्गी-झोपड़ियों में रहने पर मज़बूर होती है जिन पर हमेशा प्रशासन के क़हर का ख़तरा मंडराता रहता है। यही बात अपना व्यवसाय चुनने की आज़ादी पर लागू होती है। बड़े उद्योगपतियों और अति शिक्षित प्रोफ़ेशनलों के लिए तो व्यवसाय चुनने की आज़ादी है परन्तु आर्थिक तंगी और अशिक्षा के मद्देनज़र ग़रीबों और कमज़ोर तबके की आबादी के लिए इस आज़ादी का कोई मतलब नहीं रह जाता है। उनके लिए व्यवसाय चुनने की आज़ादी का मतलब सिर्फ़ यह रह जाता है कि वे कमरतोड़ मेहनत करने वाली मज़दूरी करें, रिक्शा चलायें या ठेला और खोमचा लगाकर कोई चीज़ बेचें। तिस पर भी पुलिस का डण्डा हमेशा उनके सिर पर सवार रहता है जिससे बचने के लिए उन्हें चोर उचक्कों की तरह यहाँ वहाँ भटकना पड़ता है और अपने संवैधानिक अधिकारों के लिए भी घूस देना पड़ता है।

ज्ञात हो कि 1978 तक संविधान के अनुच्छेद 19(1)(च) और अनुच्छेद 31 के तहत सम्पत्ति का अधिकार मूलभूत अधिकार था। इन प्रावधानों के अनुसार राज्य द्वारा किसी की सम्पत्ति अधिग्रहित करने की सूरत में पर्याप्त हरज़ाने का प्रावधान था। इन्हीं प्रावधानों के तहत जमींदारी उन्मूलन के समय पूर्व जमींदारों को मोटी रक़म उस सम्पत्ति के हरजाने के तौर में मिली जो जमींदारों की कई पुश्तों ने किसानों का खून निचोड़ कर अर्जित की थी। जब इम्पीरियल बैंक ऑफ़ इण्डिया, निजी एयरलाइंसों और बदहाल औद्योगिक इकाइयों का राष्ट्रीयकरण किया गया तो इनके देशी और विदेशी शेयर होल्डरों को ज़रूरत से कहीं ज़्यादा हरज़ाना दिया गया। इन्हीं प्रावधानों के तहत केन्द्र सरकार ने पूर्व राजे रजवाड़ों और उनकी अगली पीढ़ियों तक को कर रहित प्रिवी पर्सेज़ दिये, उनके महलों, जागीरों और बेशकीमती हीरे जवाहरात पर उनका मालिकाना हक़ बरकरार रखा गया। यही नहीं उनके ऊपर कोई मुकदमा चलाने के लिए केन्द्र सरकार की मंजूरी ज़रूरी थी। इसके अतिरिक्त उन राजे रजवाड़ों और उनकी सन्तानों को केन्द्र और राज्य सरकारों में मन्त्री और विदेशों में राजदूत नियुक्त किया गया। इनमें से कई आज भी अलग-अलग पार्टियों के कद्दावर नेता माने जाते हैं और कई बड़े उद्योगपति और आलीशान होटलों के मालिक हैं। हालाँकि 1978 में संविधान के 44 वें संशोधन द्वारा सम्पत्ति के अधिकार को मूलभूत अधिकार के दर्ज़े से हटा दिया गया, परन्तु अब भी यह संविधान के अनुच्छेद 300 (क) के तहत एक कानूनी अधिकार है। यही नहीं आम तौर पर उच्च न्यायालयों और उच्चतम न्यायालय ने अन्य मूलभूत अधिकारों की व्याख्या सम्पत्ति के अधिकार की रक्षा करने के अन्तर्गत ही की है।

संविधान के अनुच्छेद 20 में अपराधों के लिए दोषसिद्धि के सम्बन्ध में संरक्षण का प्रावधान है। इसमें इस बात का प्रावधान है कि बिना किसी क़ानून के उल्लंघन के किसी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता है, दण्ड अपराध के अनुसार ही होना चाहिए, किसी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक दण्डित नहीं किया जाएगा और किसी अपराध के लिए अभियुक्त किसी व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा। परन्तु भारतीय न्यायिक व्यवस्था की थोड़ी भी समझ रखने वाला व्यक्ति यह अच्छी तरह जानता है कि वास्तव में न्याय की प्रक्रिया लोगों के सामाजिक और आर्थिक रुतबे के अनुसार काम करती है। रईसजादों के अपराधों के निए अव्वलन तो उन्हें कोई दण्ड नहीं मिलता और अगर अपवादस्वरूप किसी मामले में मिलता भी है तो वह उनके अपराधों की अपेक्षा बेहद कम होता है। ग़रीबों के साथ न्यायिक व्यवस्था ठीक इसके उलट व्यवहार करती है। छोटे-छोटे अपराधों के लिए ग़रीब सालों साल जेलों में सड़ते रहते हैं और कई मामलों में तो आर्थिक तंगी की वजह से वे जमानत पर भी नहीं छूट पाते हैं। इसके अतिरिक्त उनसे अपराध कबूल करवाने के लिए पुलिस बर्बर प्रताड़ना के तरीके अपनाती है जो अनुच्छेद 20 के प्रावधानों को घटिया मज़ाक जैसा बना देते हैं।

संविधान का अनुच्छेद 21 जीने और निजी आज़ादी के संरक्षण का दावा करता है जिसके अनुसार किसी व्यक्ति को, उसके प्राण या निजी आज़ादी से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। इस दावे का खोखलापन इस प्रावधान में ही दिखता है। इससे यह बात साफ़ उभर कर आती है कि राज्य को यह अधिकार है कि वह कानून बनाकर किसी व्यक्ति के प्राण या निजी आज़ादी से वंचित कर सकती है। यदि राज्य स्वेच्छाचारी तरीके से कोई निरंकुश क़ानून बनाकर लोगों के जीने के अधिकार और निजी आज़ादी के अधिकार से वंचित कर दे तो यह बिल्कुल संविधान सम्मत है। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार पिछले छह दशकों में भारतीय राज्य ने तमाम काले कानूनों के ज़रिये लोगों के जीने के अधिकार और निजी

आज़ादी के अधिकार का अपवादस्वरूप नहीं बल्कि धड़ल्ले से अपहरण किया है। इसके अतिरिक्त हम यह पहले भी देख चुके हैं कि चूँकि भारतीय संविधान नागरिकों को एक गरिमापूर्ण मानवीय जीवन जीने के लिए ज़रूरी बुनियादी ज़रूरतों की भी गारण्टी नहीं देता इसलिए अनुच्छेद 21 में उल्लिखित जीने और निज़ी आज़ादी का अधिकार महज़ एक क़ागज़ी अधिकार बनकर रह जाता है।

मूल संविधान में मूलभूत अधिकारों सम्बन्धित भाग 3 में शिक्षा के अधिकार का कोई ज़िक्र नहीं था। संविधान लागू होने के आधी सदी बाद 2002 में 86 वें संशोधन के ज़रिये अनुच्छेद 21 क जोड़ा गया जो शिक्षा के मूलभूत अधिकार को मूलभूत अधिकार घोषित करता है। यानि जो अधिकार किसी भी स्वतन्त्र देश में सबसे पहले मिलना चाहिए था उसको देने में भारतीय शासक वर्ग को 50 वर्षों से भी ज़्यादा का वक़्त लग गया। यही नहीं अनुच्छेद 21 क के प्रावधान पढ़ने से यह बात साफ़ हो जाती है कि यह अधिकार आधे अधूरे मन से दिया गया है। इसमें सिर्फ़ 6 से 14 वर्ष के बच्चों की शिक्षा की ज़िम्मेदारी राज्य को दी गई है। यानि छह वर्ष से कम और 14 वर्ष से अधिक बच्चों की शिक्षा की ज़रूरत संविधान लागू होने के आधी सदी बाद भी महसूस नहीं की गई। यही नहीं इस प्रावधान में सबके लिए समान शिक्षा और शिक्षा की गुणवत्ता से सम्बन्धित कोई बात नहीं कही गई है। ग़रीबों के बच्चे अगर किसी तरह ख़स्ताहाल सरकारी स्कूलों में पहुँच भी पाते हैं तो उनकी शिक्षा की गुणवत्ता मध्यवर्ग या उच्च वर्ग के बच्चों के मुकाबले बेहद निचले स्तर की होती है। ऐसे में संविधान के संशोधन के दौरान इस पहलू पर कोई ध्यान न देना भारतीय बुर्जुआ वर्ग के घोर जनविरोधी चरित्र की ही एक बानगी है।

अन्त में आइये हम अनुच्छेद 22 में मौजूद प्रावधानों पर निगाह डालते हैं जिनके तहत कुछ दशाओं में गिरफ़्तारी और निरोध से संरक्षण का दावा किया गया है। लेकिन हास्यास्पद तथ्य यह है कि इसी अनुच्छेद में राज्य को निरोधक नज़रबन्दी (preventive detention)सम्बन्धित क़ानून बनाने के लिए संवैधानिक मंजूरी भी दी गई है। इसी संवैधानिक मंजूरी का जमकर लाभ उठाते हुए संसद और राज्य विधायिकाओं ने पिछले छह दशकों के दौरान तमाम काले क़ानूनों की झड़ी लगाई है जिनका इस्तेमाल राज्यसत्ता द्वारा बड़े पैमाने पर नागरिक और जनवादी अधिकारों के हनन करने के अलावा जनान्दोलनों का दमन करने में भी किया गया। अभी मूल संविधान की स्याही भी नहीं सूखी थी जब संसद ने निरोधक नज़रबन्दी क़ानून 1950 (Preventive Detention Act 1950) को पारित किया जो 1969 तक प्रभावी रहा। इसके पश्चात 1971 में 'मीसा' लाया गया जो 1975 से 1977 तक प्रभावी कुख़्यात आपातकाल के दौरान राज्य की नग्न तानाशाही का पर्याय बन गया। 1980 में राष्ट्रीय सुरक्षा कानून (National Security Act) लाया गया जो आज भी अस्तित्व में है। 1985 में 'टाडा' (Terrorism and Disruptive Activities Act) लाया गया जिसका आतंकवाद से लड़ने के नाम पर जमकर दुरुपयोग हुआ। वर्ष 2002 में तत्कालीन राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की सरकार ने आतंकवाद से लड़ने के लिए अपनी प्रतिबद्धता दिखाने के लिए खूंखार पोटा (Prevention of Terrorism Act) पारित किया जिसका दुरुपयोग होना ही था और वही हुआ। वर्ष 2004 में संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की सरकार ने अपनी प्रगतिशील छवि दिखाने के लिए पोटा को निरस्त किया, परन्तु बड़ी ही चालाकी से उसके काले प्रावधान गैरकानूनी गतिविधियाँ निवारक अधिनियम (Unlawful Activities (Prevention) Act) में डाल दिये। इसके अतिरिक्त विभिन्न राज्यों में भी इस किस्म के काले क़ानूनों की एक लम्बी फ़ेहरिस्त है जैसे कि महाराष्ट्र में 'मकोका' और छत्तीसगढ़ में छत्तीसगढ़ विशेष सुरक्षा अधिनियम!

इस प्रकार हम पाते हैं कि संविधान ने नागरिकों को जो अतिसीमित अधिकार प्रदान भी किये हैं उनके अपहरण के प्रावधान भी संविधान में ही मौजूद हैं।

शोषण के विरुद्ध अधिकार

संविधान के तीसरे भाग में दो अनुच्छेद (23 और 24) 'शोषण के विरुद्ध अधिकार' शीर्षक के तहत रखे गये हैं। परन्तु इस शीर्षक से यह गलतफ़हमी नहीं होनी चाहिए कि इसके तहत सामाजिक उत्पादन में सबसे महत्वपूर्ण योगदान करने वाले मज़दूर वर्ग के शोषण के विरुद्ध कोई बुनियादी प्रावधान है। यदि संविधान निर्माता वाक़ई शोषण का ख़ात्मा करने के लिए दृढ़संकल्प होते तो वे इस शीर्षक के तहत सबसे पहला प्रावधान यह रखते कि मुनाफ़ा कमाने की स्वार्थी हसरत के लिए किसी नागरिक के श्रम को नहीं निचोड़ा जा सकता। परन्तु यदि वे ऐसा करते तो भारत में पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था की नींव डाली ही नहीं जा सकती थी क्योंकि भारतीय संविधान बनने के लगभग एक शताब्दी पहले ही मार्क्स ने वैज्ञानिक तर्कों द्वारा यह निर्विवाद रूप से सिद्ध कर दिया था कि श्रम का शोषण किये बग़ैर पूँजीवादी व्यवस्था की अट्टालिका का निर्माण हो ही नहीं सकता। बहरहाल, संविधान के निर्माण की प्रक्रिया की चर्चा के दौरान हम यह पहले ही देख चुके हैं कि संविधान निर्माता वास्तव में भारत के नवजात बुर्जुआ वर्ग के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। इसलिए उनसे यह उम्मीद करना कि वे संविधान में कोई ऐसा कोई बुनियादी प्रावधान डालते जो बुर्जुआ वर्ग के हितों के ख़िलाफ़ जाता, एक नादानी होगी।

एक उदारवादी पूँजीवादी व्यवस्था भी मज़दूर वर्ग के लिए कुछ अधिकारों का प्रावधान करती है, मसलन न्यूनतम मज़दूरी का अधिकार, समान काम के लिए समान वेतन का अधिकार, काम की मानवोचित परिस्थितियों का अधिकार, काम के सीमित घण्टों का अधिकार इत्यादि। परन्तु भारतीय संविधान में 'शोषण के विरुद्ध अधिकार' शीर्षक के तहत इनमें से किसी भी अधिकार का ज़िक्र तक नहीं है। यह अपने आप में भारतीय संविधान और उस पर आधारित भारतीय लोकतन्त्र के घोर मज़दूर विरोधी चरित्र को दिखाता है।

अब आइये देखते हैं कि 'शोषण के विरुद्ध अधिकार' शीर्षक के तहत किन अधिकारों के प्रावधान संविधान के तीसरे भाग में मौजूद हैं। इस शीर्षक के तहत अनुच्छेद 23 में मानव के दुर्व्यापार (Human Trafficking) और बेगार जैसे बलात् श्रम पर पाबन्दी का प्रावधान है। संविधान लागू होने के छह दशकों का अनुभव यह बताता है कि भारतीय राज्य इस अधिकार को भी लागू करने में नितान्त अक्षम सिद्ध हुआ है। पिछले छह दशकों मे ग़रीबी और बेरोज़गारी की मार झेलते लोगों का सापेक्षिक पिछड़े इलाक़ों से विकसित इलाक़ों की ओर न सिर्फ़ स्वेच्छा से पलायन होता आया है, बल्कि ग़ैर क़ानूनी रूप से मानव दुर्व्यापार का गोरखधन्धा कम होने की बजाय लगातार बढ़ता ही गया है। इससे भी भयावह सच्चाई यह है कि मानव दुर्व्यापार के इस गोरखधन्धे के शिकार ज़्यादातर मामलों में महिलायें और बच्चे होते हैं जिनमें से अधिकांश वेश्यावृत्ति के दुष्चक्र में फ़ँस जाते हैं। देश के हर शहर में यह गोरखधन्धा पिछले छह दशकों में संविधान में इसको रोकने के प्रावधान की खिल्ली उड़ाता हुआ दिन दूनी रात चौगुनी रफ़्तार से बढ़ता गया है।

संविधान के अनुच्छेद 24 में चौदह वर्ष से कम आयु के किसी बालक को किसी कारख़ाने, खान या अन्य परिसंकटमय काम के लिए नियोजित करने की पाबन्दी का प्रावधान है। यह पूरा प्रावधान खामियों से भरा है इसकी मिसाल इसी से मिल जाती है कि संविधान लागू होने के छह दशक बाद भी भारत दुनिया भर में बाल मज़दूरी के मामले में अग्रणी देशों की श्रेणी में शामिल है। किसी भी

लोकतान्त्रिक देश में बाल मज़दूरी के सभी रूपों पर पाबन्दी होनी चाहिए। परन्तु भारतीय संविधान में यह सिर्फ़ कारख़ानों, खानों और परिसंकटमय कामों में ही वर्जित है। यानि ढाबों, होटलों, दुकानों और घरों में बाल मज़दूरी के सिलसिले में संविधान में कोई भी पाबन्दी नहीं है। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद 24 में बाल मज़दूरी सम्बन्धी प्रावधान 14 वर्ष तक के ही बच्चों पर लागू हैं, अर्थात् 14 वर्ष और एक दिन के बच्चे के लिए बाल मज़दूरी पर पाबन्दी सम्बन्धी कोई भी प्रावधान संविधान में मौजूद नहीं है। संविधान में मौजूद प्रावधान की उपरोक्त सीमाओं की वजह से कालीन उद्योग, होटल और रेस्त्राँ व ढाबों में ही नहीं बल्कि ख़दानों में एवं पटाखा उद्योग और माचिस उद्योग जैसे ख़तरनाक उद्योगों में बाल मज़दूरी धड़ल्ले से जारी है। चूँकि बाल मज़दूरी से पूँजीपति वर्ग का मुनाफ़ा कमाने का हित सधता है इसलिए पिछले छह दशकों में इस मानवता पर कलंक इस विभीषिका को समाप्त करने के लिए कोई कारगर क़दम नहीं उठाये गये हैं। ऐसे में संविधान में मौजूद शोषण के विरुद्ध अधिकार औपचारिक अधिकारों की सीमा से एक क़दम भी आगे बढ़ते नहीं दिखते।

धर्म की स्वतन्त्रता और अल्पसंख्यकों के अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 25-30 में धर्म की स्वतन्त्रता और अल्पसंख्यकों की संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकारों के प्रावधान हैं। संविधान की प्रस्तावना की चर्चा के दौरान हमने देखा था कि किस प्रकार भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता धार्मिक संस्थाओं-अनुष्ठानों का राज्य से पूर्ण पृथक्करण और धार्मिक विश्वासों को निजी जीवन के दायरे तक सीमित कर देने वाली क्लासिकी बुर्जुआ जनवादी अवधारणा न होकर “सर्व-धर्म समभाव” के अर्थों में प्रचलित हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि सार्वजनिक जीवन में धार्मिक कुरीतियों और अन्धविश्वासों तथा सामन्ती और पितृसत्तात्मक मूल्यों के ख़िलाफ़ संघर्ष करने की बजाय धर्म की स्वतन्त्रता के नाम पर उन्हें बरक़रार रहने दिया गया। यही नहीं पिछले छह दशकों में धर्म और जाति पर आधारित वोट बैंक की राजनीति भी ख़ूब फ़ली-फूली। विभिन्न राजनीतिक पार्टियाँ लोगों की धार्मिक और जातीय पहचान बरक़रार रखने का खुले आम आह्वान करती हैं। नतीजतन समताविरोधी, नारीविरोधी विचारों का परित्याग करने और समता पर आधारित आधुनिक मूल्यों की स्थापना करने की बजाय दकियानूसी विचार नये सिरे से और पहले से कहीं ज़्यादा गहराई से लोगों के दिलो-दिमाग़ में पैठ बना रहे हैं।

धर्म निरपेक्षता की प्रबोधनकालीन अवधारणा सार्वजनिक जीवन में वैज्ञानिक और तर्कसंगत विचारों को बढ़ावा देने की पक्षधर थी। परन्तु धर्मनिरपेक्षता की भारतीय अवधारणा यानी “सर्वधर्म समभाव” इसका ठीक उल्टा कर रही है। विज्ञान ने अपनी सतत् विकासयात्रा के दौरान ब्रह्माण्ड, प्रकृति और मानव समाज के बारे में नित नये क्षितिज उद्घाटित किये हैं जिनकी समझ स्थापित करके तमाम सामाजिक समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। परन्तु भारत में हो ये रहा है कि विज्ञान का दैनिक जीवन के हर क्षेत्र में इस्तेमाल होते हुए भी विचारों के धरातल पर अवैज्ञानिक और अतार्किक विचारों का घटाटोप छाया हुआ है। इसकी एक मिसाल इसी से मिल जाती है कि भारत में सैकड़ों टी वी चैनल हैं जिनमें से धर्म पर आधारित चैनलों की संख्या दर्ज़नों में है, परन्तु विज्ञान पर आधारित एक भी नहीं है। इन धार्मिक चैनलों पर प्रवचन सुनाने वाले किसिम-किसिम के बाबा और कुछ नहीं करते बल्कि पुरातनपन्थी, दकियानूसी और घोर अवैज्ञानिक जीवन दृष्टिकोण का प्रचार-प्रसार करते हैं और धर्म की स्वतन्त्रता के नाम पर अपना धन्धा चलाते हैं जिससे लोगों में सामाजिक बदलाव की वैज्ञानिक चेतना कुन्द होती है।

1990 के दशक से हिन्दुत्ववादी फ़ासीवादी राजनीति के उभार के बाद से अल्पसंख्यकों में असुरक्षा की भावना पहले से कहीं ज़्यादा बढ़ गयी। भय और आतंक के साम्प्रदायिक माहौल में संविधान में उल्लिखित धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार ज़ाहिरा तौर पर एक बेहद सीमित मायने रखता है। अल्पसंख्यकों और निम्न जातियों के हितों के प्रतिनिधित्व करने का दावा करने वाले संगठन और राजनीतिक पार्टियाँ भी अल्पसंख्यकों और निम्न जातियों के लोगों में प्रबोधनकारी और वैज्ञानिक विचारों की पैठ बनाने की बजाय उनमें पुरातनपन्थी और अतार्किक विचारों का ही प्रचार-प्रसार करते हैं। वे एक वैकल्पिक समतामूलक सामाजिक ढाँचे के निर्माण के लिए संघर्ष करने के लिए प्रेरित करने की बजाय उनमें असुरक्षा की भावना भरकर उन्हें मज़हबी और जातीय पहचान से चिपके रहने की सलाह देते हैं। आरक्षण की राजनीति इसी का एक उदाहरण है जो निम्न जातियों और अल्पसंख्यकों को मौजूदा व्यवस्था को आमूलचूल ढंग से बदलकर नयी समतामूलक धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था के निर्माण की बजाय इसी व्यवस्था में उच्च जातीय हिन्दू शासक वर्ग से ख़ैरात के कुछ टुकड़े माँगकर संतुष्ट हो जाने की सलाह देती है।

चूँकि भारत में उत्पादन के साधनों का मालिकाना हक़ जिनके पास है वे अधिकांशतः उच्च जाति के हिन्दू समुदाय से आते हैं, इसलिए अल्पसंख्यकों और निचली जातियों के लोगों के लिए स्वतन्त्रता बेमानी ही है। यही बात अल्पसंख्यकों के संस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी प्रावधानों के विषय में लागू होती है। संविधान में मौजूद इन प्रावधानों का लाभ अल्पसंख्यकों के एक बेहद छोटे से हिस्से तक ही पहुँच पाता है जो पहले से ही सुविधासम्पन्न होते हैं और जो इन विशेषाधिकारों की मलाई काटकर मौजूदा व्यवस्था के सबसे बड़े पैरोकार बन जाते हैं। अल्पसंख्यकों की अधिकांश आबादी मेहनतकश वर्ग से आती है और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ने की वजह से शिक्षा और संस्कृति के मामले में भी पिछड़ेपन का शिकार होती है। अल्पसंख्यकों की इस बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी के शैक्षिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन के बारे में भारतीय संविधान मौन है।

संवैधानिक उपचारों का अधिकार

संविधान के अनुच्छेद 32 में नागरिकों को कई क़िस्म के रिटों के रूप में संवैधानिक उपचारों का प्रावधान उल्लिखित है। ये रिट हैं – बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेरण। कोई भी व्यक्ति संविधान के भाग तीन में उल्लिखित किसी भी मूलभूत अधिकार के किसी व्यक्ति अथवा राज्य द्वारा हनन की सूरत में उपरोक्त रिटों के माध्यम से सीधे उच्चतम न्यायालय तक गुहार लगा सकता है।

मूलभूत अधिकारों की प्रस्तावना सम्बन्धी अंक में हम यह चर्चा कर चुके हैं कि उच्चतम न्यायालय अधिकांश नागरिकों की पहुँच से न सिर्फ़ भौगोलिक रूप से दूर है बल्कि बेहिसाब मँहगी और बेहद जटिल न्यायिक प्रक्रिया की वजह से भी संवैधानिक उपचारों का अधिकार महज़ औपचारिक अधिकार रह जाता है। उच्चतम न्यायालय में नामी-गिरामी वकीलों की महज़ एक सुनवाई की फ़ीस लाखों में होती है। ऐसे में ज़ाहिर है कि न्याय भी पैसे की ताक़त से ख़रीदा जानेवाला माल बन गया है और इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि अमूमन उच्चतम न्यायालय के फ़ैसले मज़दूर विरोधी और धनिकों और मालिकों के पक्ष में होते हैं। आम आदमी अव्वलन तो उच्चतम न्यायालय तक जाने की सोचता भी नहीं और अगर वो हिम्मत जुटाकर वहाँ जाता भी है तो यदि उसके अधिकारों का हनन करने वाला ताकतवर और धनिक है तो अधिकांश मामलों में पूँजी की ताक़त के आगे न्याय की उसकी गुहार दब जाती है।

इस प्रकार न्याय की प्रक्रिया में पूँजी की दख़ल होने की वजह से संवैधानिक उपचार का अधिकार भी महज़ कागज़ी अधिकार रह जाता है। हक़ीक़त में यह आम जनता की पहुँच से बाहर है। चूँकि आम जनता संवैधानिक उपचार के अधिकार को ही अपने हित में लागू करने में सक्षम नहीं हो पाती इसलिए संविधान में मौजूद अन्य अतिसीमित मूलभूत अधिकार भी अन्तिम विश्लेषण में बेमानी ही साबित होते हैं।

राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त: खोखले सिद्धान्त, नंगी सच्चाइयाँ

मूलभूत अधिकारों की चर्चा के दौरान हमने देखा कि भारतीय संविधान नागरिकों को एक इन्सानी ज़िन्दगी जीने के लिए ज़रूरी बेहद बुनियादी सामाजिक और आर्थिक अधिकारों तक की भी कोई गारण्टी नहीं देता। संविधान के भाग तीन में उल्लिखित मूलभूत अधिकारों का चरित्र मुख्यतः राजनीतिक है। सामाजिक और आर्थिक अधिकारों से जुड़े कुछ प्रावधान संविधान के भाग चार में (अनु. 36 से अनु. 51 तक) राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्त शीर्षक के तहत मौजूद हैं। संविधान निर्माताओं को राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को संविधान में डालने की प्रेरणा आयरलैण्ड के संविधान से मिली थी। परन्तु इन सिद्धान्तों का खोखलापन इस बात से ही ज़ाहिर हो जाता है कि ये राज्य के लिए विधिक रूप से बाध्यताकारी नहीं हैं। संविधान के चौथे भाग में ही अनु. 37 में स्पष्ट रूप से यह लिखा है कि इस भाग में मौजूद प्रावधान किसी न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं होंगे। इन अधिकारों को लागू करवाने के लिए संविधान में न तो कोई समयसीमा लिखी है और न ही कोई ज़रिया। हालाँकि अनु. 37 में यह भी लिखा है कि ये सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत हैं और कानून बनाने में इन सिद्धान्तों को लागू करना राज्य का कर्तव्य होगा, परन्तु संविधान इस बात पर मौन है कि यदि राज्य इस कर्तव्य से मुकर जाये (जैसा कि भारतीय राज्य बेशर्मी से मुकर चुका है), तो क्या किया जाये!

संविधान के निर्माता कहे जाने वाले डॉक्टर भीमराव अम्बेडकर ने नीति निदेशक सिद्धान्तों पर टिप्पणी करते हुए कहा था कि हालाँकि ये सिद्धान्त किसी अदालत में प्रवर्तनीय नहीं हैं, फिर भी ये महत्वपूर्ण इसलिए हैं क्योंकि ये जनता की अदालत में प्रवर्तनीय हैं। उनका यह सोचना था कि कोई भी सरकार इन सिद्धान्तों को दरकिनार नहीं कर सकती क्योंकि यदि वह ऐसा करेगी तो जनता अगले चुनावों में उसे गिरा देगी। स्पष्ट है कि बुर्जुआ लोकतन्त्र के बारे में अम्बेडकर इस गफ़लत के शिकार थे कि यह वास्तव में जनता का शासन होता है। संविधान लागू होने के 63 साल बाद भी आलम यह है कि इन नीति निदेशक सिद्धान्तों का पालन होना तो दूर, भारतीय राज्य इनसे पल्ला झाड़ रहा है। पिछले दो दशकों से जारी नव-उदारवादी नीतियों के दौर में, जिन पर कमोबेश सभी चुनावी पार्टियों की आम-सहमति है, तो ये सिद्धान्त और भी ज़्यादा खोखले और पाखण्डपूर्ण लगते जा रहे हैं।

आइये, अब इन नीति निदेशक सिद्धान्तों की तफ़सीलों में जाते हैं। संविधान के अनु. 39 में राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति सिद्धान्त उल्लिखित हैं। इनमें अनु. 39(ख) और अनु. 39(ग) को सामाजिक और आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करने में सबसे अहम माना जाता है। अनु. 39(ख) कहता है कि राज्य अपनी नीति का संचालन इस प्रकार करेगा कि समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। अनु. 39(ग) कहता है कि आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन-साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी संकेन्द्रण न हो। आइये, इन दो अहम नीति निदेशक सिद्धान्तों की रोशनी में भारतीय राज्य के प्रदर्शन की पड़ताल करें। संविधान लागू होने के छह दशक से भी ज़्यादा का समय बीत जाने पर भारत में ग़रीबों की संख्या अफ्रीका के 26 देशों को मिलाकर भी वहाँ के कुल ग़रीबों की संख्या से ज़्यादा है। दूसरी ओर धन पशुओं की संख्या में

दुनिया में सबसे ज़्यादा तरक्की करने वाले देशों में भारत का नाम अग्रिम पंक्तियों में लिया जाता है। इससे तो यही साबित होता है कि भौतिक संसाधनों का स्वामित्व सामूहिक हितों की बजाय बस धनिकों के हितों में हो रहा है और धन तथा उत्पादन-साधनों का संकेन्द्रण हो रहा है। यही नहीं पिछले दो दशकों में यह संकेन्द्रण और भी तेजी से बढ़ा है। एक आँकड़े के मुताबिक नव-उदारवादी नीतियों के लागू होने के बाद से नीचे की दस फ़ीसदी आबादी और ऊपर की दस फ़ीसदी आबादी की आय के बीच का फ़र्क दो गुना बढ़ा है। हाल के दिनों में आयी कई रिपोर्टों में यह निर्विवाद रूप से सामने आया है कि आय में असमानता दर्शाने वाले गिनी गुणांक में वृद्धि हो रही है, यानी असमानता बढ़ रही है। ऐसे में यह स्पष्ट है कि नव-उदारवादी नीतियाँ नीति निदेशक सिद्धान्तों का खुल्लमखुल्ला उल्लंघन कर रही हैं। परन्तु न सिर्फ़ सभी चुनावी पार्टियाँ बल्कि भारतीय बुर्जुआ लोकतन्त्र के अन्धकार भरे परिदृश्य में उम्मीद की आख़िरी किरण कही जाने वाली न्यायपालिका ने भी नव-उदारवादी नीतियों को बेशर्मी से बेरोकटोक आगे बढ़ाया है। ऐसे में क्या यह कहना अतिशयोक्ति होगी कि ये सिद्धान्त धोखाधड़ी की मिसाल हैं?

आइये, अब आगे बढ़ते हैं। संविधान के अनु. 39 में सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन के अधिकार की बात भी कही गयी है। इस सिद्धान्त का दीवालियालापन इसी बात से ज़ाहिर हो जाता है कि संविधान लागू होने के छह दशक बाद भी देश के अलग-अलग हिस्सों में करोड़ों युवा रोज़गार की तलाश में दर-दर भटकते रहते हैं और बेराज़गारी की वजह से निराशा, हताशा और अवसाद के शिकार होते हैं। अनु. 39 में ही स्त्रियों और पुरुषों को समान काम के लिए समान वेतन के अधिकार का प्रावधान है। ज़मीनी हक़ीकत यह है कि स्त्रियों को किसी कारखाने में रखा ही इसलिए जाता है क्योंकि पुरुषों के मुकाबले उनकी श्रम शक्ति की कीमत कम देनी पड़ती है।

अनु. 39 में ही श्रमिकों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न करने की बात कही गयी है और ऐसी परिस्थिति बनाने की बात कही गयी है जिससे आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोज़गार में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हो। इसके अतिरिक्त इसी अनुच्छेद में बालकों को स्वतन्त्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ देने की बात भी कही गयी है। यदि वास्तव में इन सिद्धान्तों का पालन हुआ होता तो निश्चय ही हमारा समाज एक मानवीय समाज होता। परन्तु जब हम भारतीय समाज में व्याप्त बेरोज़गारी और बाल मज़दूरी की परिघटना से रूबरू होते हैं तो ये सिद्धान्त एक क्रूर मज़ाक के समान चुभते हैं।

कहने को तो मज़दूरों के लिए और भी प्रावधान नीति निदेशक सिद्धान्तों के रूप में मौजूद हैं। मसलन, काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं और प्रसूति सहायता का प्रावधान (अनु. 42), निर्वाह मज़दूरी का प्रावधान (अनु. 43) और उद्योगों के प्रबन्ध में मज़दूरों के भाग लेने का प्रावधान (अनु. 43 (क))। परन्तु श्रम के बढ़ते हुए अनौपचारीकरण और ठेकाकरण के इस युग में ये सभी प्रावधान बेमानी हैं। इन प्रावधानों के संविधान में होने या न होने से एक आम मज़दूर की ज़िन्दगी में कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि पूँजी रूपी डायन रोज़ाना उसका खून चूसती ही जा रही है।

एक अन्य अहम नीति निदेशक सिद्धान्त अनु. 47 में मौजूद है जिसके अनुसार राज्य का यह प्राथमिक कर्तव्य है कि वह अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने और

लोक स्वास्थ्य को सुधारने का प्रयास करेगा। भारतीय राज्य पिछले छह दशकों में अपने इस प्राथमिक कर्तव्य का पालन करने में पूरी तरह से विफ़ल रहा है। यह इसी बात से ज़ाहिर हो जाता है कि अभी भी इस देश में लगभग 47 फ़ीसदी बच्चे कुपोषण के शिकार हैं और आधी से ज़्यादा महिलाएँ कुपोषण की शिकार हैं। जहाँ एक ओर अमीरों के लिए सुपर स्पेशिएलिटी अस्पताल बन रहे हैं जिनमें इलाज करवाने के लिए दुनिया भर से लोगों को मेडिकल टूरिज़्म के नाम पर न्योता दिया जाता है, वहीं ग़रीब और उनके बच्चे हैजा, काला अजार, जापानी बुखार, मलेरिया, डेंगू जैसी बीमारियों से रोज़ाना दम तोड़ते रहते हैं क्योंकि सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा जर्जर हो चुकी हैं और दवा कम्पनियों के मुनाफ़े की हवस के चलते दवाइयों के दाम आसमान छूते जा रहे हैं। चिकित्सा सेवा पूरी तरह से एक ऐसे माल में तब्दील हो चुकी है जो आम मेहनतकश जनता की पहुँच से बाहर है। ऐसे में, जब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ है कि राज्य अपने प्राथमिक कर्तव्य का पालन कर पाने में पूरी तरह फिसड्डी साबित हुआ है, संविधान भारतीय नागरिकों को क्या उपचार प्रदान करता है? इसका जवाब है – कुछ भी नहीं!

एक अन्य महत्वपूर्ण नीति निदेशक सिद्धान्त अनु. 44 में मौजूद है जिसमें कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान नागरिक संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। परन्तु विडम्बना यह है कि पिछले छह दशकों में यह प्रयास शुरू तक नहीं किया गया है। राज्य की इस निष्क्रियता का ख़ामियाजा पिछले छह दशकों से अल्पसंख्यक वर्ग की महिलाओं को भुगतना पड़ रहा है क्योंकि विवाह, तलाक, सम्पत्ति हस्तान्तरण, गोद लेने जैसे मसलों पर अभी भी पर्सनल लॉ के अनुसार निर्णय लिया जाता है जो घोर महिला विरोधी हैं।

कुछ सालों पहले जब छह से चौदह वर्ष की आयु तक के बच्चों की शिक्षा को मूलभूत अधिकार का दर्ज़ा दिया गया था तो शासक वर्ग के नुमाइन्दों ने मीडिया में खूब प्रचारित किया कि वह एक क्रान्तिकारी कदम था और उसके द्वारा उन्होंने राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों पर अमल किया। परन्तु संविधान के अनु. 45 में राज्य को संविधान लागू होने से दस वर्ष की अवधि के भीतर सभी बालकों को चौदह वर्ष की आयु पूरा होने तक निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए प्रावधान बनाने की ज़िम्मेदारी दी गयी थी। भारतीय राज्य ने न सिर्फ़ इस ज़िम्मेदारी को पूरा करने में आधी सदी की देरी की बल्कि जब पूरी भी की तो आधे-अधूरे ढंग से क्योंकि नीति निदेशक सिद्धान्तों में चौदह वर्ष तक के सभी बच्चों की शिक्षा की भी बात की गयी जबकि संविधान के संशोधन के द्वारा 6-14 वर्ष तक के बच्चों तक की शिक्षा का ही प्रावधान किया गया है।

इनके अतिरिक्त, नीति निदेशक सिद्धान्तों में कुछ गाँधीवादी सिद्धान्त भी हैं जो गाँधी के ग्राम स्वराज्य के यूटोपिया से प्रेरित हैं। पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों के क़ायम रहते हुए ग्राम स्वराज्य कल्पना की दुनिया से उतरकर जमीनी यथार्थ में तब्दील हो ही नहीं सकता। यह इन सिद्धान्तों के लागू होने की प्रक्रिया से साफ़ समझ में आ जाता है। मसलन अनु. 40 को ही लें जिसमें राज्य को ग्राम पंचायतों का संगठन करने के लिए कदम उठाने के लिए और उनको ऐसी शक्तियाँ और प्राधिकार प्रदान करने के लिए कहा गया है जो उन्हें स्वायत्त शासन की इकाइयों के रूप में कार्य करने योग्य बनाने के लिए आवश्यक हों। संविधान लागू होने के चार दशकों के अन्तराल तक तो गाँधी का यह सपना संविधान के मोटे पोथे में दफ़न ही रहा। 1993 में 73वें संविधान संशोधन के द्वारा इस सपने को पुनर्जीवित करने की क़वायद शुरू की गयी। परन्तु इन चार दशकों में पूँजीवाद की गंगा में काफ़ी पानी बह चुका था क्योंकि तब तक पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्ध स्पष्ट रूप से स्थापित हो चुके थे। ऐसे में यह अचरज की बात नहीं है कि गाँधी का पंचायती राज का

सपना भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र के ढाँचे में श्रम की लूट में ग्रामीण बुर्जुआ और कुलकों की हिस्सेदारी सुनिश्चित करने के लिए पंचायतों के रूप में एक नये स्तर के निर्माण करने की क़वायद में तब्दील हो चुका है।

राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को बाध्यताकारी न बनाने के पीछे संविधान निर्माताओं का तर्क यह था कि जब संविधान बनाया जा रहा था उस वक़्त भारतीय राज्य के पास इतने संसाधन नहीं थे कि वह इन सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को सुनिश्चित कर सके। अव्वलन तो यह तर्क अपने आप में युक्तिसंगत नहीं है क्योंकि आज़ादी के बाद ज़मीदारों, राजे-रजवाड़ों, नवाबों की सम्पत्ति जब्त करके तथा धनिकों पर भारी कर लगाकर संसाधन जुटाये जा सकते थे। परन्तु कुछ देर के लिए यदि इस तर्क को स्वीकार भी कर लिया जाये तो फ़िर अगला तार्किक सवाल यह उठता है राज्य को इतना सक्षम होने में कितना वक़्त लगेगा कि वह इन सिद्धान्तों को लागू कर सके। इस सवाल पर संविधान मौन है। छह दशक से भी ज़्यादा वक़्त गुज़र जाने के बाद आलम यह है कि गाड़ी आगे बढ़ने की बजाय उल्टी दिशा में निकल चुकी है।

दरअसल ये नीति निदेशक सिद्धान्त कल्याणकारी बुर्जुआ राज्य की कीन्सियाई अवधारणा पर आधारित थे और अब जब पूरे विश्व में पूँजीवाद कल्याणकारी राज्य के लबादे से छुटकारा पाना चाह रहा है, तो ऐसे सिद्धान्तों का उनके लिए भी कोई मतलब नहीं रह गया है। हाँ, यह ज़रूर है कि संविधान में इन सिद्धान्तों की मौजूदगी से इस अमानवीय व्यवस्था के वीभत्स रूप पर पर्दा डालने में मदद मिलती है। इन सिद्धान्तों के ज़रिये शासक वर्ग और उसके टुकड़ों पर पलने वाले बुद्धिजीवी, जनता के बीच यह भ्रम पैदा करते हैं कि भले ही आज जनता को तमाम दिक्कतों और तकलीफ़ों का सामना करना पड़ रहा है, लेकिन धीरे-धीरे करके ये सिद्धान्त लागू किये जायेंगे जिनसे जनता की सारी समस्याओं का हल निकल आयेगा। इसलिए, जनता को इन सिद्धान्तों के भ्रमजाल से बाहर निकालना आज के दौर में क्रान्तिकारी आन्दोलन के प्रमुख कार्यभारों में से एक है।

मूलभूत कर्तव्यः राज्य की विफ़लता का ठीकरा जनता पर फोड़ने की बेशर्म क़वायद

भारतीय संविधान के भाग 4क में नागरिकों के लिए कुछ मूलभूत कर्तव्य गिनाये गये हैं। ग़ौरतलब है कि यह भाग मूल संविधान में नहीं था, बल्कि इसे 1976 में 42 वें संशोधन के द्वारा संविधान में डाला गया था। यह महज़ संयोग नहीं है कि भारतीय राज्य ने नागरिकों को उनके मूलभूत कर्तव्यों की याद उस समय दिलाई जब आज़ादी के समय दिखाये सपनों के तार-तार होने के बाद जन-असंतोष इतना गहरा चुका था कि हालात को क़ाबू में करने के लिए शासक वर्ग को संविधान में ही मौजूद प्रावधानों का इस्तेमाल करके पूरे देश में आपातकाल लगाना पड़ा। लगातार बढ़ती हुई ग़रीबी और बेरोज़गारी की वजह से 'नेहरूवादी समाजवाद' (जो वास्तव में राजकीय पूँजीवाद था) का खोखलापन और भारतीय संविधान की पूँजीवादी अन्तर्वस्तु जनता के सामने दिन के उजाले की तरह साफ हो चुकी थी। ऐसे में भारतीय बुर्जुआ शासक वर्ग और उसकी सबसे भरोसेमन्द कांग्रेस पार्टी ने न सिर्फ़ आपातकाल की घोषणा की बल्कि संविधान में भी कुछ बुनियादी फ़ेरबदल करके एक अति-केन्द्रीयकृत फौलादी राज्यसत्ता के रूप में अपनी ताक़त और मज़बूत करने की साज़िश भी रची। संविधान का कुख्यात 42 वां संशोधन इसी साज़िश का नतीजा था जिसे तत्कालीन विदेश मंत्री स्वर्ण सिंह के नेतृत्व वाली समिति की सिफ़ारिशों के आधार पर लागू किया गया था। एक ऐसे समय में जब संविधान में ही मौजूद राज्य के नीति निदेशक सिद्धान्तों को लागू करने में भारतीय राज्य की विफ़लता स्पष्ट रूप से दिख रही थी, नागरिकों के मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान संविधान में डालने के पीछे शासक वर्ग की मंशा यह थी की, इनका सहारा लेकर राज्य अपनी विफ़लता का दोष जनता के मत्थे मढ़ सके। इन मूलभूत कर्तव्यों की आड़ लेकर राज्य के नुमाइंदे जनता को यह पाठ पढ़ाते रहे हैं कि तमाम सामाजिक और आर्थिक समस्याओं के लिए शासन और प्रशासन की व्यवस्था नहीं बल्कि नागरिक ही ज़िम्मेदार हैं क्योंकि वे अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन नहीं करते। हलाँकि ये कर्तव्य किसी न्यायालय में प्रवर्तनीय नहीं हैं, फिर भी ये निश्चय ही शासक वर्ग के हाथ में एक ऐसा हथकण्डा है जिसके सहारे वे जनता के बुनियादी अधिकारों का हनन करने का औचित्य प्रतिपादन करते हैं।

आम तौर पर मूलभूत कर्तव्यों के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि अधिकार और कर्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू होते हैं, इसलिए यदि नागरिकों को मूलभूत अधिकार चाहिए तो उनको कुछ मूलभूत कर्तव्यों का भी पालन करना ही होगा। इस क़िस्म का तर्क करने वाले लोग यह भूल जाते हैं कि किसी भी देश के संविधान के सन्दर्भ में यह तर्क तो मुख्यतः और मूलतः शासक वर्ग और राज्यसत्ता के लिए लागू होना चाहिए। जनवाद का तक़ाज़ा तो यह है कि यदि कोई राज्य नागरिकों से अपने द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करने की अपेक्षा रखता है तो उसका यह कर्तव्य होना चाहिए कि वह जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करे और जनता के बुनियादी अधिकारों का सम्मान करे। इस धारावाहिक में हम पहले ही यह चर्चा विस्तार से कर चुके हैं कि दुनिया का सबसे लम्बा संविधान होने के बावजूद भारतीय संविधान नागरिकों को उनके बेहद बुनियादी हक़ों मसलन काम करने का अधिकार, भोजन का अधिकार, आवास का अधिकार, समान और निशुल्क शिक्षा का अधिकार, स्वास्थ्य का अधिकार, काम करने की मानवोचित परिस्थितियों को अधिकार आदि की भी कोई ज़िम्मेदारी नहीं लेता। यही नहीं बीते वर्षों में भारतीय राज्य अपने तमाम वायदों से निहायत ही बेशर्मी से मुकरता जा रहा है। भारतीय राज्य की पूँजी

के प्रति पक्षधरता और उसका घोर जनविरोधी चरित्र अब खुले रूप में सामने आ चुका है। ऐसी जनविरोधी राज्यसत्ता जब अपने नागरिकों से उनके मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने का आह्वान करती है तो यह एक प्रहसन के समान लगता है। यह आश्चर्य की बात नहीं है देश की अधिकांश आबादी को यह पता भी नहीं होगा कि यह मूलभूत कर्तव्य किस चिड़िया का नाम है और जिन लोगों को इसके बारे में पता भी है उनको यह भी पता है कि इसकी कोई प्रासंगिकता नहीं है।

भारतीय संविधान के मूलभूत कर्तव्यों से सम्बन्धित प्रावधानों का एक और प्रहसनात्मक पहलू यह है कि इसको पूर्व सोवियत संघ के समाजवादी संविधान से प्रेरित बताया जाता है। यह बात उतनी ही हास्यास्पद है जितनी कि यह कि नेहरूवादी समाजवाद सोवियत संघ के समाजवाद से प्रेरित था थे और उन नीतियों से भारत समाजवाद की ओर अग्रसर हो रहा था। तत्कालीन सोवियत संघ की समाजवादी अन्तर्वस्तु को दरिक़नार करके महज़ उसके आवरण की नक़ल करने की जो हास्यास्पद प्रक्रिया नेहरू के समय शुरू हुई थी वह इन्दिरा गाँधी के दौर में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई थी। हम यह पहले ही चर्चा कर चुके हैं कि संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा ही प्रस्तावना में ‘समाजवाद’ शब्द जोड़ा गया था । मूलभूत कर्तव्य को संविधान में जोड़ना भी इसी हास्यास्पद नक़ल की एक कड़ी थी। यह सच है कि 1936 में पारित सोवियत संघ के संविधान में मूलभूत कर्तव्यों के प्रावधान मौजूद थे। परन्तु उस संविधान में उससे पहले जनता को काम करने के अधिकार, आराम करने के अधिकार, बुजुर्गों की बेहतर ज़िन्दगी का अधिकार, सार्वभैमिक और समान शिक्षा का अधिकार, स्त्रियों और पुरुषों की बराबरी का अधिकार आदि जैसे बुनियादी अधिकारों के प्रावधान भी संविधान में मौजूद थे। न सिर्फ़ सविधान में, बल्कि व्यवहार में भी सोवियत संघ की समाजवादी सत्ता ने महज़ तीन दशकों के भीतर ही ग़रीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी, वेश्यावृत्ति आदि जैसी समस्याओं का समाधान करके दिखाया। सोवियत सत्ता ने यह सिद्ध कर दिया था कि उत्पादन और शासन-प्रशासन के हरेक स्तर पर मेहनतकशों की प्रत्यक्ष भूमिका से सरकार चलायी जा सकती है। ऐसा राज्य जो नागरिकों की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की गारण्टी लेती हो, जो जनता से दूर उस पर हुकूमत करने की बजाय उसकी प्रत्यक्ष भागीदारी से शासन-प्रशासन की गतिविधियाँ चलाता हो, यदि नागरिकों से मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने का आग्रह करता है तो यह बिल्कुल स्वाभाविक है। परन्तु एक ऐसे राज्य को नागरिकों से उनके मूलभूत कर्तव्यों का पालन करने की अपेक्षा करने का कोई नैतिक अधिकार नहीं है जो स्वयं जनता की बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने की ज़िम्मेदारी से मुक़र जाये और लोगों के श्रम के शोषण और उनके उत्पीड़न को रोकने की बजाय उल्टे उसको बढ़वा दे रहा हो।

आइये अब हम एक नज़र भारतीय संविधान में मौजूद मूलभूत अधिकारों पर दौड़ायें। ये कर्तव्य बेहद सामान्य प्रकुति के हैं जिनका कोई ठोस ‘ऑपरेटिव पार्ट’ भी नहीं निकलता। अनु. 51क(क) में नागरिकों को यह हिदायत दी गई है कि वे संविधान का पालन करें और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्र ध्वज और राष्ट्र गान का आदर करें। अनु. 51क(ख) के अनुसार नागरिकों को स्वतन्त्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजाए रखना चाहिए और उनका पालन करना चाहिए। कोई यह सवाल कर सकता है कि यदि कोई व्यक्ति संविधान की प्रस्तावना में मौजूद आदर्शो और स्वतन्त्रता संग्राम को प्रेरित करने वाले आदर्शों को उनके वास्तविक अर्थों में लेकर एक ऐसा समाज बनाने के लिए मौजूदा व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्षरत है जिसमें वे आदर्श वास्तव में ज़मीनी हक़ीकत बन सकें तो क्या वह अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(ग) के अनुसार प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह भारत की प्रभुता, एकता और अखण्डता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे। इसमें सवाल यह उठता है कि यदि कोई नागरिक जम्मू व कश्मीर और पूर्वोत्तर के राज्यों की जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार का समर्थन करता है और इन राज्यों में भारतीय सेना की ज़्यादतियों का मुखर विरोध करता है तो वह उपरोक्त मूलभूत कर्तव्य का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(घ) के अनुसार नागरिकों को देश की रक्षा करनी चाहिए और आह्वान किये जाने पर राष्ट्र की सेवा करे। यदि कोई दूसरा देश हमारे देश पर हमला करे तब तो यह बात समझ में आती है कि नागरिकों को जी जान से देश की रक्षा करनी चाहिए। परन्तु यदि हमारे देश का शासक वर्ग अपनी विस्तारवादी महत्वकांक्षाओं की तृप्ति के लिए और जनता का ध्यान अन्य बुनियादी मुद्दों से हटाने के लिए युद्धोन्माद फ़ैलाता है और ऐसे में यदि कोई नागरिक शासक वर्ग के अन्धराष्ट्रवाद का विरोध करता है तो क्या वह अपने मूलभूत कर्तव्यों का पालन कर रहा है अथवा नहीं?

अनु. 51क(घ) के अनुसार सभी नागरिकों का यह कर्तव्य है कि वे भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभाव से परे हो और वे ऐसी प्रथाओं का त्याग करें जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हो। देश की चुनावी राजनीति से वाक़िफ़ कोई भी व्यक्ति यह बखूबी जानता है कि धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित भेदभाव करने वालों में सबसे शीर्ष स्थान शासक वर्ग की नुमाइंदगी करने वाली तमाम चुनावी पार्टियों के नेता करते हैं। अब यह बात किसी से छिपी नहीं है कि समाज में साम्प्रदायिक और जातीय नफ़रत और भेदभाव फ़ैलाने के लिए सर्वोपरि रूप से भारतीय राज्य के विभिन्न अंग – चुनावी पार्टियाँ, पुलिस, नौकरशाही – ज़िम्मेदार हैं। ऐसा राज्य जब नागरिकों से सामाजिक समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करने की बात करता है तो यह बेशर्मी ही कही जायेगी।

अनु. 51क(च) में नागरिकों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे समृद्ध विरासत की गौरवशाली परम्परा का महत्व समझे और उनकी रक्षा करें। इस प्रावधान को कई बार पढ़ने के बाद भी यह पता लगाना मुश्किल है कि इसका मतलब क्या है और नागरिकों को इस कर्तव्य को पूरा करने के लिए क्या करना चाहिए।

अनु. 51क(छ) में प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अन्तर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करने और उसका संवर्धन करने तथा प्राणि मात्र के प्रति दयाभाव रखने के लिए कहा गया है। पिछले छह दशकों के विकास में पर्यावरण की रक्षा करने में भारतीय राज्य नितान्त विफल रहा है। मुनाफे की अन्धी होड़ में जंगल, नदियां, पर्वत, आबोहवा सबकुछ प्रदूषित हो रहे हैं और अब तो बात यहाँ तक आ पहुँची है कि 'ग्लोबल वार्मिंग' जैसी परिघटनाओं की वजह से धरती पर मानव सहित अन्य जीवों की उपस्थिति पर ही खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसे में पर्यावरण की रक्षा करने की ज़िम्मेदारी नागरिकों पर थोपना दरअसल अपनी विफ़लता पर पर्दा डालने का ही प्रयास जान पड़ता है।

अनु. 51क(ज) के अनुसार नागरिकों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करना चाहिए। स्पष्ट रूप से ऐसे दृष्टिकोण और भावना के विकास की ज़िम्मेदारी राज्य की होनी चाहिए। परन्तु संविधान में कहीं भी राज्य को यह ज़िम्मेदारी नहीं सौंपी गयी है। ऐसे में यह अपनी ज़िम्मेदारी से पल्ला झाड़कर जनता के ऊपर समाज में मौजूद

अन्धविश्वासों और अमानवनीयता के लिए जनता को ही ज़िम्मेदार ठहराने की क़वायद ही जान पड़ती है।

अनु. 51क(झ) जनता को यह सलाह देता है कि वह सार्वजनिक सम्पत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे। इस प्रावधान को मूलभूत कर्तव्य के अध्याय में डालने के पीछे जनान्दलानों को निशाना बनाने की मंशा साफ़ तौर पर नज़र आती है। यह बात राज्य की हिंसा और सामाजिक संरचनात्मक हिंसा पर संविधान की चुप्पी से और स्पष्ट हो जाती है।

अनु. 51क(ञ) के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों में के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू ले। यह प्रावधान एक बड़बोले व्यक्ति की नसीहत जैसा लगता है और इस पर ज़्यादा बात करना समय की फिजूलखर्ची होगी।

वर्ष 2002 में संविधान के 86 वें संशोधन के द्वारा शिक्षा के मूलभूत अधिकार के साथ ही साथ एक नया मूलभूत कर्तव्य भी जोड़ा गया जिसके अनुसार 6-14 वर्ष के बीच की आयु के हर बच्चे के माता-पिता की यह ज़िम्मेदारी होगी कि वह अपने बच्चे को पढ़ने का अवसर प्रदान करे। यह प्रावधान भी छह दशकों में राज्य की सार्वजनिक शिक्षा मुहैया कराने की विफ़लता की ज़िम्मेदारी ख़ासकर ग़रीब जनता के मत्थे डालने के लिए डाला गया जान पड़ता है।

पूँजीवादी शासक वर्ग तमाम हथकण्डों से जनता को अपने शासन के प्रति निष्ठावान और समर्पित बनाने की कोशिश करता आया है और भारतीय संविधान में मौजूद मूलभूत कर्तव्य भी इसी की एक कड़ी है। परन्तु एक मेहनतकश इन्सान का सर्वोपरि दायित्व यह है कि वह उत्पादन और शासन-प्रशासन की एक ऐसी व्यवस्था बनाने के लिए जी जान से जुट जाये जो एक इन्सान द्वारा दूसरे इन्सान के शोषण और उत्पीड़न से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करे।

भारतीय संघात्मक ढाँचे के ढोल की पोल

भारतीय संविधान और लोकतन्त्र के उत्साही समर्थक भारत के संघात्मक ढाँचे के विशिष्ट स्वरूप पर बलाइयाँ लेते नहीं अघाते। उनके अनुसार भारतीय गणतन्त्र की यह ख़ूबी है कि वह आम तौर पर तो संघात्मक रहता है, परन्तु विघटनकारी तत्वों से निपटने के लिए ज़रूरत पड़ने पर इसको एकात्मक ढाँचे में भी तब्दील किया जा सकता है। जबकि सच्चाई तो यह है कि अर्न्तवस्तु के रूप में भारतीय संविधान एक एकात्मक ढाँचे की आधारशिला रखता है जिसकी असलियत बाहरी रंगरोगन के द्वारा छिपायी गयी है। एक बहुराष्ट्रीय देश (कई राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं-उपराष्ट्रीयताओं वाला देश) होने के बावजूद भारतीय गणराज्य की स्थापना एक ऐसी पद्धति द्वारा नहीं हुई जिसमें विभिन्न राष्ट्रीयताओं ने अपने अधिकांश अधिकार अपने पास रखकर अपने कुछ अधिकार स्वैच्छिक रूप से भारतीय गणराज्य को देने का फैसला किया हो। यहाँ हुआ यह कि औपनिवेशिक सत्ता की वापसी के फैसले के साथ ही भारत की केन्द्रीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने तमाम राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं को अपने नवनिर्मित संघात्मक गणराज्य (न कि गणराज्यों का संघ) के ढाँचे में शामिल कर लिया। उनमें से कुछ तो स्वेच्छा से (हलाँकि उनमें भी केन्द्रीय दबाव के प्रतिकार और वर्चस्व की भावना मौजूद थी) इस गणराज्य में शामिल हुए, परन्तु कई मामलों में मुखर या परोक्ष रूप में बलप्रयोग तथा विश्वासघात (वायदों से मुकरने के रूप में) का पहलू मौजूद था। रियासतो-रजवाड़ों की मौजूदगी ने भी कांग्रेसी सरकार द्वारा दबाव के प्रयोग के लिए औचित्य-प्रतिपादन का काम किया था क्योंकि जनता इन राजे रजवाड़ों से त्रस्त थी और इनसे किसी भी हाल में छुटकारा पाना चाहती थी।

भारतीय उपमहाद्वीप के इतिहास पर एक नज़र डालने से हम पाते हैं कि कमोबेश समूचे भारतीय उपमहाद्वीप को एक केन्द्रीय राज्यसत्ता के मातहत लाने का काम ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने मुकम्मिल किया। भारतीय राष्ट्रवाद का जन्म उपनिवेशवाद विरोध की भावना और विचार के रूप में हुआ और उपनिवेशवाद की गर्भ से जन्मा भारतीय बुर्जुआ वर्ग राष्ट्रीय आन्दोलन में नेतृत्वकारी वर्ग के रूप में उभरा और समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति अपनाते हुए जनता की संगठित शक्ति का इस्तेमाल कर एक ओर उसने औपनिवेशिक सत्ता से अपने लिये रियायतें माँगकर अपने आप को मजबूत किया और वहीं दूसरी ओर जनता के आन्दोलनों को एक हद से ज़्यादा उग्र नहीं होने दिया। औपनिवेशिक काल में, भारतीय उपमहाद्वीप के अलग-अलग भाषाओं-संस्कृतियों वाले इलाकों की ठोस परिस्थितियों के हिसाब से बुर्जुआ और निम्नबुर्जुआ वर्ग का राष्ट्रीय मानस शुरू से ही द्विस्तरीय या द्वैधतापूर्ण रूप में विकसित हुआ। एक ओर अलग-अलग विकसित हुए राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं (जैसे बंगला, तेलगू, मराठी, तमिल आदि) की ज़मीन पर विकसित हुई राष्ट्रीय भावना थी, दूसरी ओर उपनिवेशवाद-विरोध की साझा जमीन पर विकसित हुई सर्वभारतीय राष्ट्रवाद (पैन-इण्डियन नेशनलिज़्म) की भावना थी। इन दोनों के बीच अतिच्छादन(ओवरलैपिंग) की स्थिति भी बनती थी और संघात की भी। उत्तर औपनिवेशिक भारत(और पाकिस्तान) कई राष्ट्रों, राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं के एक संजटिल समुच्चय के रूप में अस्तित्व में आया।

औपनिवेशिक सत्ता से आज़ादी की लड़ाई के दौरान कांग्रेसी नेतृत्व ने एकाधिक बार देश की जनता से यह वायदा किया था कि आज़ादी मिलने के बाद भारत गणराज्यों का एक ऐसा स्वैच्छिक संघ होगा ज़िसमें विभिन्न इकाइयों के पास अधिकतम स्वायत्तता होगी और केवल कुछ ही न्यूनतम

साझा मामले केन्द्र के पास होंगे। यहाँ तक कि अवशिष्ट अधिकार (residuary powers) राज्यों को देने का वायदा किया गया था। परन्तु आज़ादी मिलने की आहट सुनते ही कांग्रेसी नेतृत्व ने निहायत ही बेशर्मी से अपने वायदों से मुकरते हुए एक मज़बूत केन्द्र की रट लगानी शुरू कर दी। 1946 के कैबिनेट मिशन की योजना में एक अविभाजित भारत का प्रस्ताव था जिसमें बंगाल और पंजाब का विभाजन किये बगैर एक ढीले ढाले संघात्मक ढाँचे की बात कही गई थी जिसमें केन्द्र के पास सीमित अधिकारों का प्रावधान था। परन्तु नेहरू और पटेल के नेतृत्व में कांग्रेस ने इस योजना को इस तर्ज़ पर अस्वीकार कर दिया कि इससे देश में अपकेन्द्री ताकतों (centrifugal forces) को बढ़ावा मिलेगा। ग़ौरतलब है कि कैबिनेट मिशन की इस योजना पर मुस्लिम लीग की सहमति थी। भारत में आम तौर पर विभाजन की पूरी ज़िम्मेदारी मुस्लिम लीग और जिन्ना के मत्थे मढ़ दी जाती है, परन्तु कैबिनेट मिशन के प्रस्ताव पर नेहरू और पटेल सहित कांग्रेसी शीर्ष नेतृत्व के रुख से स्पष्ट है कि वो भी विभाजन की विभीषिका की ज़िम्मेदारी से अपना पल्ला नहीं झाड़ सकते। एक मज़बूत केन्द्र की सनक भरी ख़्वाहिश में उन्होंने विभाजन जैसी त्रासदी को स्वीकार कर लिया और अन्ततः माउण्टबेटन एवार्ड को हाथों हाथ लिया क्योंकि इसमें सत्ता को कांग्रेस के नेतृत्व में एक मज़बूत केन्द्र को सत्ता हस्तांतरण का प्रस्ताव था।

सत्ता हस्तांतरण के बाद संविधान सभा ने भारतीय संविधान के निर्माण का काम पूरा किया। संघात्मक ढाँचे के वायदे को ताक पर रख कर इस संविधान में भारत को राज्यों के 'यूनियन' के रूप में परिभाषित किया गया न कि राज्यों के 'फ़ेडरेशन' के रूप में (अनु. 1)। भारतीय संविधान में केन्द्र की अविभाज्यता को प्रश्नों से परे बता कर विभिन्न राष्ट्रीयताओं के आत्मनिर्णय के अधिकार और उनके संघ से अलग होने के अधिकार को असंवैधानिक क़रार दिया गया है। जबकि भारत की संसद के पास यह अधिकार है कि वह राज्यों को विभाजित कर सकती है, उनके क्षेत्रों, सीमाओं और यहाँ तक नामों में फ़ेरबदल कर सकती है (अनु. 3)।

भारतीय संविधान में केन्द्र व राज्य के सम्बन्धों से जुड़े जितने भी प्रावधान हैं वे संघात्मक ढाँचे के सिद्धान्त की खिल्ली उड़ाते नज़र आते हैं। संविधान की सातवीं अनुसूची में केन्द्र और राज्यों के बीच अधिकार क्षेत्रों को विभाजित करती हुई तीन सूचियाँ – संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची मौजूद हैं। इनमें क्रमशः 97, 66 और 47 अधिकार क्षेत्र उल्लिखित हैं। यानी संघ की सूची में कहीं ज़्यादा अधिकार हैं। यही नहीं महत्व की दृष्टि से भी संघ की सूची में उल्लिखित अधिकार ज़्यादा महत्वपूर्ण हैं और राज्य की सूची में प्रशासनिक किस्म के कुछ अधिकार दिये गये हैं। यहाँ तक कि समवर्ती सूची में भी केन्द्र को वरीयता दी गयी है। अवशिष्ट अधिकार (residuary powers) राज्य के पास न होकर केन्द्र के पास हैं। संसद में राज्य सभा को यह अधिकार है यदि उसके दो तिहाई या उससे ज़्यादा सदस्य रज़ामन्द हों तो वह राज्यों के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलों पर भी कानून बना सकती है।

अनु. 257 केन्द्र सरकार को यह अधिकार देता है किसी भी राज्य को निर्देश दे सकती है कि उसके कार्यकारी अधिकार केन्द्र के अधिकारों के आड़े न आयें। किसी राज्य का राज्यपाल उस राज्य की जनता द्वारा नहीं चुना जाता बल्कि केन्द्र द्वारा मनोनीत किया जाता है। राज्यपाल को कई विशेषाधिकार मिले हैं। वह राज्य की विधायिका द्वारा पारित किसी भी बिल को राष्ट्रपति के विचाराधीन रख सकता है। पिछले छह दशकों में राज्यपालों के आचरण से यह स्पष्ट हो गया है कि राज्यपाल राज्य में केन्द्र सरकार के एजेण्ट की भूमिका निभाते हैं। राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर राष्ट्रपति राज्य की असेम्बली को भंग कर सकता है, मंत्रिमण्डल को निरस्त कर सकता

है और राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है (अनु. 356)। पिछले छह दशकों में 100 से भी ज़्यादा बार अलग-अलग समयों पर लगभग हर राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू हो चुका है जो संघीय ढाँचे को एक मज़ाक बनाकर रख देता है। यही नहीं आपातकाल लागू होने की स्थिति में केन्द्र सभी राज्यों के विधायी और कार्यकारी अधिकार अपने पास रख सकता है (अनु. 353)। सामान्य परिस्थितियों में भी आई ए एस और आई पी एस जैसी ऑल इण्डिया सर्विसेज़ के ज़रिये राज्यों के प्रशासन तन्त्र पर अपनी पकड़ क़ायम रखता है। ये सर्विसेज़ अपने आप में संघीय व्यवस्था का माखौल उड़ाती हैं। संविधान में केन्द्र और राज्यों के बीच राजस्व के बँटवारे सम्बन्धी प्रावधानों में भी केन्द्र को ज़्यादा अहम राजस्व के स्रोत दिये गये हैं जिसके फलस्वरूप राज्य केन्द्र पर निर्भर रहते हैं। मुद्रा के मुद्रण का अधिकार सिर्फ़ केन्द्र के पास है।

भारतीय संविधान द्वारा प्रदत्त भारतीय राज्य की एकात्मक अन्तर्वस्तु के चलते ही पिछले छह दशकों में केन्द्रीय बुर्जुआ राज्य सत्ता ने उत्पीड़ित राष्ट्रीयताओं की जनाकांक्षाओं का दमन करने के लिए संविधान का उल्लंघन करने की ज़रूरत ही नहीं हुई। अनु. 370 के माध्यम से कश्मीर को केन्द्र ने वहाँ की जनता की स्वायत्तता और आज़ादी की आकांक्षाओं को कुचलते हुए भारतीय संघ में मिला लिया। उत्तर-पूर्व की राष्ट्रीयताओं के साथ भी भारतीय राज्य की दग़ाबाज़ी का एक लम्बा इतिहास है। उत्तर-पूर्व में 1958 से और कश्मीर में 1990 से घनघोर दमनकारी सैन्य बल विशेष अधिकार कानून (Armed Forces Special Powers Act) लगा है जिसकी वजह से इन राज्यों में वस्तुतः सैनिक शासन की स्थिति है। इसके अतिरिक्त 1975 में भारतीय राज्य ने शातिराना ढंग से सिक्किम को बिना जनमतसंग्रह कराये भारतीय संघ में मिला लिया। ग़ौरतलब है कि ये सभी जनवाद विरोधी क़दम संविधानसम्मत हैं जो भारतीय संविधान की गैरजनवादी अन्तर्वस्तु का जीता जागता उदाहरण है। इस श्रृंखला के अगले अंक में हम विस्तार से चर्चा करेंगे कि किस प्रकार भारतीय राज्य ने कश्मीर और उत्तर पूर्वी राज्यों की राष्ट्रीयताओं के साथ ऐतिहासिक विश्वासघात किया।

पिछले छह दशकों के पूँजीवादी विकास ने क्षेत्रीय असमानता को पहले से कई गुना बढ़ाया है। जैसा कि हर पूँजीवादी देश में होता है, भारतीय संघात्मक ढाँचा भी कई परिधियों वाले केन्द्र-परिधि सम्मिश्र (सेण्टर-पेरिफ़ेरी कॉम्प्लेक्स) के साँचे में ढलकर सामने आया। इस क्षेत्रीय आर्थिक असमानता का अतिच्छादन जहाँ भी ऐतिहासिक रूप से, सांस्कृतिक-भाषिक रूप से सापेक्षतः पिछड़े क्षेत्र के साथ होता है, वहीं राष्ट्रीयताओं के बीच असमानता और राष्ट्रीय उत्पीड़न की ज़मीन तैयार हो जाती है। परन्तु भारत की स्थिति ज़ारकालीन रूस जैसी नहीं जहाँ रूसी राष्ट्र की स्थिति उत्पीड़क की बनती थी। यहाँ कोई एक राष्ट्र नहीं, बल्कि केन्द्र की भूमिका देश के विभिन्न राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के लिए अलग-अलग रूपों एवं परिणामों में उत्पीड़नकारी की बनती है। इसका कारण यह है कि कई राज्यों में बँटी हिन्दी पट्टी एक राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं है, हालाँकि इसमें राष्ट्र के तत्व किसी हद तक मौजूद भी हैं। इसके भीतर तमाम लोकभाषाओं-क्षेत्रीय उपभाषओं-बोलियों के क्षेत्र हैं और एक हद तक सांस्कृतिक भिन्नताएँ हैं। समानता और विभिन्नता के द्वन्द्व-युग्म में, दोनों पक्षों के सन्तुलन के अलग-अलग मामले में अलग-अलग स्थिति है। ऐसा भी नहीं कि किसी एक राष्ट्र का पूँजीपति हावी-प्रभावी हो। पर चूँकि सत्ता का केन्द्र (दिल्ली) हिन्दी भाषी क्षेत्र में है और हिन्दी क्षेत्र के बुद्धिजीवी नौकरशाही, मीडिया व संस्कृति के राष्ट्रीय परिदृश्य पर अपनी स्पष्ट बढ़त बनाये हुए हैं और बीच-बीच में हिन्दी का राष्ट्रभाषा के रूप में ऊपर से लादने के पक्ष में भी हिन्दी बुद्धिजीवी और राजनेता आवाज़ उठाते हैं, इसलिए न केवल दक्षिण

भारत में राष्ट्रीयताएँ बल्कि बंगाली और पंजाबी राष्ट्रीयताएँ भी (जिनमें से ज़्यादातर आर्थिक दृष्टि से हिन्दी प्रदेशों से उन्नत हैं) सांस्कृतिक अलगाव और उत्पीड़न महसूस करती हैं। यह एक वास्तविक स्थिति है, पर उत्पीड़क की स्थिति में कोई ''हिन्दी राष्ट्र '' (यह मिथ्याभासी चेतना है) नहीं, बल्कि केन्द्र की बुर्जुआ सत्ता है।

पूँजीवादी विकास के फ़लस्वरूप अलग-अलग राज्यों और राष्ट्रीयताओं में क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग भी पैदा हुआ है। इस क्षेत्रीय बुर्जुआजी की परिपक्वता के साथ ही साथ केन्द्रीय बुर्जुआजी से इसके अन्तरविरोध भी बढ़े हैं। इनमें से अधिकांश इसी व्यवस्था के दायरे में अन्तरविरोधों को हल करने के पक्षधर हैं। पिछले दो दशकों से केन्द्र में मिली-जुली सरकारों का अस्तित्व इसी की निशानी है और यह दर्शाता है कि केन्द्रीय बुर्जुआजी से मोल-तोल में भी क्षेत्रीय बुर्जुआजी की ताकत बढ़ी है। क्षेत्रीय बुर्जुआजी विभिन्न राष्ट्रीयताओं की जनता को असली मुद्दों से दूर करके अन्य राज्यों के प्रवासी मज़दूरों को वापस भेजने, नये राज्य बनाने अथवा नदियों के जल के बँटवारे जैसे मुद्दे उछालकर क्षेत्रीय अन्धराष्ट्रवादी भावनायें फैलाती है और लोगों की वर्ग-चेतना को भोथरा कर इस व्यवस्था की उम्र लम्बी करने में अपनी भूमिका अदा करती है। इस प्रकार यह क्षेत्रीय बुर्जुआ वर्ग जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने की बजाय उसे आपस में बाँटने का ही काम करता है।

एक अतिकेन्द्रित राज्य सत्ता की निगरानी में हुए पूँजीवादी विकास से अपरिहार्य रूप से जो क्षेत्रीय असन्तुलन और जनअसंतोष उत्पन्न हुआ उस पर काबू पाने के मक़सद से 1980 के दशक से ही भारतीय बुर्जुआ वर्ग की सबसे भरोसेमन्द पार्टी कांग्रेस ने पंचायती राज का शिगूफ़ा उछालकर सत्ता के विकेन्द्रीकरण का स्वांग रचना शुरू किया। 1992 में संविधान का 73 वाँ और 74 वाँ संशोधन संसद द्वारा पारित हुआ। इन संशोधनों द्वारा क्रमशः गाँवों में पंचायतों तथा शहरों में म्यूनिसिपैलिटी को संवैधानिक दर्ज़ा देते हुए भारतीय संघ में तीसरे संस्तर के निर्माण की ढींगे हाँकी गयीं और जोर-शोर से यह प्रचारित किया गया कि इस 'क्रान्तिकारी कदम' से सत्ता जनता के क़रीब पहुँचेगी। परन्तु इन संशोधनों के पारित होने के दो दशकों बाद आलम यह है कि सत्ता तो जनता तक नहीं पहुँची बल्कि गाँवों और शहरों के स्थानीय कुलीनों को लूट का एक हिस्सा देकर भारतीय राज्य सत्ता ने अपने सामाजिक अवलंबों का अवश्य विस्तार किया। मनरेगा जैसी स्कीमों में व्याप्त जबर्दस्त भ्रष्टाचार इसी सच्चाई को दिखाता है। इन संशोधनों के बाद भी भारतीय राज्य का केन्द्रीयकृत स्वरूप बरकरार है और केन्द्र ने बड़ी ही चालाकी से राज्यों के कुछ अधिकारों को स्थानीय निकायों में हस्तांतरण कर स्थानीय कुलीनों को संतुष्ट कर अपने एकात्मक ढाँचे को कुल मिलाकर अक्षुण्ण ही रखा है। इस तथाकथित सत्ता के विकेन्द्रीकरण से जनता को तो कुछ लाभ नहीं हुआ, हाँ केन्द्रीय ढाँचे की कुल लूट का एक हिस्सा स्थानीय स्तर के लुटेरों तक अवश्य पहुँचा है जिसका प्रमाण ग्राम प्रधानों और पार्षदों की बढ़ती हुई धन-सम्पदा के रूप में सामने आ रहा है।

उत्तर-पूर्व और कश्मीर की जनता के साथ भारतीय राज्य का ऐतिहासिक विश्वासघात

अब तक हमने देखा कि भारत में राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं की विलक्षण विविधता के बावज़ूद भारतीय संविधान एक अतिकेन्द्रीकृत संघीय ढाँचे की आधारशिला रखता है। यही नहीं संविधान में मौजूद प्रावधानों का इस्तेमाल करके केन्द्र राज्यों की औपचारिक स्वायत्तता को भी छीन सकता है। वैसे तो पिछले छह दशकों में केन्द्र ने लगभग सभी राज्यों की स्वायत्तता पर हमले किये हैं, परन्तु उत्तर-पूर्व के राज्यों और जम्मू-कश्मीर की जनता की स्वायत्तता और आज़ादी की आकांक्षाओं पर इन हमलों ने विशेष बर्बर रूप अख्तियार किया है। उत्तर-पूर्व में 1958 से और कश्मीर में 1990 से ही कुख्यात सुरक्षा बल विशेष अधिकार अधिनियम (आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट) लागू है जिसकी वजह से चुनावों की रस्म अदायगी होने के बावज़ूद वहाँ व्यवहारतः सैनिक शासन की स्थिति है क्योंकि सुरक्षा बलों को असीमित अधिकार प्राप्त हैं। इसी काले क़ानून का लाभ उठाकर भारतीय सेना और अर्धसैनिक बलों ने उत्तर-पूर्व में पिछले पाँच दशकों से और कश्मीर घाटी में पिछले दो दशकों से आतंक का नंगा नाच मचाया है और इन राज्यों की आम जनता के मानवाधिकारों का बेधड़क हनन किया है। ग़ौरतलब है कि मानवाधिकारों का मख़ौल उड़ाता यह क़ानून पूरी तरह से संविधानसम्मत है। इस अंक में हम उत्तर-पूर्व के इतिहास पर नज़र डालकर यह देखेंगे कि किस प्रकार भारतीय राज्य ने संघात्मक ढाँचे के तमाम दावों को धता बताते हुए वहाँ की अनेक नृजातीय (एथनिक) राष्ट्रीयताओं की भावनाओं और आकांक्षाओं को निर्ममता से कुचला।

उत्तर-पूर्वी राज्यों की जनता के साथ भारतीय राज्य के छल-कपट की त्रासद दास्तान

वैसे तो भौगोलिक दृष्टि से हर देश का एक उत्तर-पूर्वी क्षेत्र होता है परन्तु भारत के सन्दर्भ में जब उत्तर-पूर्व की बात होती है तो इसका तात्पर्य महज़ भौगोलिक दिशासूचक नाम नहीं होता है। यह सम्बोधन केन्द्र से एक ऐसे क्षेत्र की भौगोलिक दिशा की ओर इंगित करता है जिसकी संस्कृति एवं इतिहास देश के अन्य क्षेत्रों से बिल्कुल जुदा है। साथ ही साथ यह राज्यसत्ता से समस्यापूर्ण सम्बन्ध रखने वाले क्षेत्र की ओर भी इशारा करता है। साथ ही यह भी ध्यान देना ज़रूरी है कि हालाँकि इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों की संस्कृति और इतिहास में समानता और समरूपता के कुछ तत्व हैं, लेकिन उनमें आश्चर्यजनक विविधताएँ भी हैं। कुल आठ राज्यों (असम, सिक्किम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, त्रिपुरा, मणिपुर, मिज़ोरम, नगालैण्ड) में विभाजित उत्तर-पूर्व का क्षेत्रफल देश के कुल क्षेत्रफल का 9 फ़ीसदी और इसकी आबादी देश की कुल आबादी का 3.6 फ़ीसदी है। इस विरल आबादी वाले क्षेत्र में 70 नृजातीय समूह और उपसमूह रहते हैं और यहाँ लगभग 400 भाषाएँ और बोलियाँ बोली जाती हैं। यहाँ के सभी नृजातीय समूह आर्य या द्रविड़ मूल के नहीं बल्कि मंगोल मूल के हैं। यहाँ की अधिकांश भाषाएँ तिब्बती-बर्मी और तिब्बती-चीनी भाषा परिवारों की हैं। ग़ौरतलब है कि ब्रह्मपुत्र नदी का पूर्वी हिस्सा भूराजनीतिक रूप से पहली बार भारत के उपनिवेशीकरण के बाद ही शेष भारत से जुड़ा। इसके पहले कभी भी यह क्षेत्र किसी भी भारतीय साम्राज्य का हिस्सा नहीं था। इस क्षेत्र का कोई एक राजा कभी नहीं था। अंग्रेज़ इस क्षेत्र के भूराजनीतिक और सामरिक महत्व को देखते हुए इसे भारत और चीन के बीच एक 'बफ़र

रीजन' बनाना चाहते थे जो सम्भावित चीनी विस्तार के लिए कुशन का काम करता और उनके व्यापारिक हितों के अनुकूल रहता। लेकिन मैदानी क्षेत्रों की जनता के विद्रोहों से अलग-थलग करने के लिए अंग्रेज़ों ने बड़ी ही चालाकी से उत्तर-पूर्व की आबादी की शेष भारत की आबादी से पारस्परिक अन्तरक्रिया नहीं होने दी। इसकी वज़ह से भूराजनीतिक दृष्टि से शेष भारत से जुड़ने के बावजूद इस क्षेत्र की जनता का सांस्कृतिक अलगाव नहीं कम हुआ। आज़ादी के बाद भारतीय राज्य द्वारा इस क्षेत्र की खनिज और वन्य सम्पदा का दोहन करने से आर्थिक शोषण का भी पहलू जुड़ गया जिसने इस अलगाव को और बढ़ाया।

औपनिवेशिक शासन के अन्तिम दौर में और आज़ादी के बाद सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण ने उत्तर-पूर्व की विभिन्न जनजातियों में प्रतिरोध की चेतना एक ख़ास क़िस्म के नृजातीय राष्ट्रवाद के रूप में पनपी। केन्द्रीय सत्ता द्वारा किये गये बर्बर दमन ने इस प्रतिरोध की चेतना को और भी विकसित किया। नगा जैसी कुछ जनजातियाँ अपने कई उपसमूहों को मिलाकर एक राष्ट्र के रूप में विकसित हुईं तो कुछ राष्ट्रीयताओं और उपराष्ट्रीयताओं के रूप में। इन राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के प्रतिरोध का साझा बिन्दु दिल्ली की केन्द्रीय सत्ता का विरोध था। परन्तु इनमें आपसी अन्तरविरोधों का भी एक लम्बा इतिहास रहा है। मसलन नगा-कुकी विवाद, नगा-मेइती विवाद, नगा-जोमी विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि।

ब्रिटिश उपनिवेशवाद से आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने उत्तर-पूर्व के राज्यों का पुनर्गठन किया। इस पुनर्गठन का आधार महज़ प्रशासकीय सहूलियतें थीं जिसकी वजह से कई मामलों में एक ही जनजाति कई राज्यों में बँट गयी और जनजातियों की राष्ट्रीय आकांक्षाएँ कुचल दी गयीं। इस क़िस्म के पुनर्गठन से नये विवाद भी उभरे, मसलन ग्रेटर नगालैण्ड विवाद, नगा-मणिपुर विवाद, असमी-बोडो विवाद आदि।

यदि भारतीय संघात्मक ढाँचा वास्तव में आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देने के बाद अस्तित्व में आता तो उत्तर-पूर्व भारतीय संघ के भीतर अपने आपमें कई नृजातीय राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं का संघ होता और इन राष्ट्रों-राष्ट्रीयताओं के भीतर भी कई उपराष्ट्रीयताओं और भाषिक समुदायों के अपने स्वायत्तशासी क्षेत्र होते। परन्तु ऐसा न होकर अतिकेन्द्रीयकृत भारतीय संघात्मक ढाँचा ऊपर से थोप दिया गया। इस वजह से उत्तर-पूर्व की जनता दिल्ली की सत्ता को औपनिवेशिक काल की निरन्तरता में ही देखती रही।

उत्तर-पूर्व के विभिन्न राज्यों के इतिहास पर निगाह डालने से भारतीय राज्यसत्ता का ऐतिहासिक विश्वासघात स्पष्ट रूप से सामने आता है। मणिपुर में औपनिवेशिक काल में ही हिजाम इराबोट के करिश्माई नेतृत्व में सामन्तवाद और उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ एक शक्तिशाली जनवादी आन्दोलन उभरा जिसकी वजह से अंग्रेज़ों के जाने के बाद 'मणिपुर संविधान क़ानून 1947' पास हुआ जिसके परिणामस्वरूप मणिपुर राज्य आधुनिक ढंग-ढर्रे पर एक संवैधानिक राजतन्त्र के रूप में सामने आया। नये संविधान के तहत मणिपुर में चुनाव भी हुए और विधानसभा भी गठित हुई। परन्तु 1947 में ही भारत सरकार के प्रतिनिधि वी.पी. मेनन ने राज्य में गिरती क़ानून-व्यवस्था पर विचार-विमर्श के लिए राजा को शिलांग बुलाया और वहाँ कुटिलता से उससे भारत में विलय के समझौते पर हस्ताक्षर करा लिया। भारत सरकार ने इतनी भी ज़हमत उठाना ज़रूरी नहीं समझा कि इस समझौते की अभिपुष्टि नवनिर्वाचित मणिपुर विधानसभा द्वारा करा ली जाये। उल्टे विधानसभा को भंग कर दिया गया और मणिपुर को चीफ़ कमिश्नर के मातहत कर दिया गया और

प्रलोभन और दमन की नीति अपनाकर प्रतिरोध को दबाने का सिलसिला शुरू हो गया और इसी के समान्तर सशस्त्र संघर्षों का भी सिलसिला शुरू हो गया। आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट की आड़ में भारतीय सेना द्वारा की गयी बर्बरता ने प्रतिरोध को और धार दी। 2004 में भारतीय सैनिकों द्वारा एक मणिपुरी महिला मनोरमा के बलात्कार और हत्या के विरोध में वहाँ की महिलाओं ने निर्वस्त्र होकर सेना मुख्यालय के सामने विरोध प्रदर्शन किया जो किसी भी लोकतान्त्रिक राज्य के लिए एक शर्मनाक घटना होती। परन्तु भारतीय राज्य शर्मसार नहीं हुआ और उत्तर-पूर्व में आर्म्ड फोर्सेज़ स्पेशल पावर्स एक्ट आज तक लागू है।

नगा राष्ट्रवाद का इतिहास इससे भी पुराना है। बीसवीं सदी की शुरुआत में भारत-बर्मा सीमा पर स्थित नगा पहाड़ियों के निवासी नगा नेशनल कौंसिल (एन.एन.सी.) के बैनर तले एकजुट होकर एक साझा मातृभूमि और स्वशासन की आकांक्षा प्रकट करने लगे थे। गाँधी ने एकाधिक बार नगा लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार दिलाने का वायदा भी किया था। ब्रिटिश प्रशासन और एन.एन.सी. के बीच हैदरी समझौते के तहत नगालैण्ड को दस वर्षों के लिए संरक्षित दर्जा प्रदान किया गया था और उसके बाद नगाओं को तय करना था कि वे संघ में शामिल हों अथवा नहीं। लेकिन अंग्रेज़ों के जाने के बाद भारतीय राज्य ने एकतरफ़ा तरीक़े से नगा भूभाग को भारतीय गणराज्य का हिस्सा घोषित कर दिया। बदले में एन.एन.सी. ने नगालैण्ड की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। नगा नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया और तब से ही नगालैण्ड में एक लम्बे सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत हुई। इसी संघर्ष का सामना करने के लिए 1958 में 'आर्म्ड फोर्सेज स्पेशल पावर्स एक्ट' बना जो आज तक समूचे उत्तर-पूर्व में लागू है। 1975 में एन.एन.सी. के शीर्ष नेतृत्व ने भारत सरकार के साथ वार्ता करके शिलांग समझौता किया और भारतीय गणराज्य में शामिल होना स्वीकार किया। जिन नगा नेताओं ने इस समझौते को स्वीकार नहीं किया उन्होंने 'नेशनल सोशलिस्ट कौंसिल ऑफ नगालैण्ड' (एन.एस.सी.एन.) का गठन करके संघर्ष जारी रखा। अब यह संगठन मुइवा और खापलांग के दो गुटों में विभाजित है, जिनका आधार नगा जनजातीय समूह की अलग-अलग उपजातियों में है। पिछलें कुछ वर्षों से इन दोनों संगठनों के साथ भारत सरकार का युद्धविराम और वार्ताओं का सिलसिला जारी है।

मिज़ो सशस्त्र विद्रोह की कहानी साठ के दशक से शुरू होती है। साठ के दशक के प्रारम्भ में असम की लुशाई पहाड़ियों में भीषण अकाल पड़ा। एक स्थानीय राहत टीम बनी जिसने भारत सरकार से राहत की गुहार लगाई, पर भारत सरकार ने राहत की रस्म-अदायगी से अधिक कुछ भी नहीं किया। इसके बाद राहत टीम ने स्वयं को मिज़ो नेशनल फ्रण्ट (एम.एन.एफ.) के रूप में संगठित किया और 'भारतीय उपनिवेशवाद से मिज़ोरम की मुक्ति' के लिए सशस्त्र संघर्ष का आह्वान किया। फरवरी 1966 में सशस्त्र दस्तों ने ऐज़ल शहर क़ब्ज़ा कर लिया। शहर को फिर से क़ब्ज़ा करने में भारतीय सेना ने पहली बार अपनी नागरिक आबादी पर धुआँधार बमबारी की। हज़ारों परिवारों को उनके घरों से निकाल कर सड़कों के किनारे नये गाँव बसाये गये ताकि सेना उन्हें आसानी से नियन्त्रित कर सके। इससे काफ़ी हद तक मिज़ो समाज की संरचना तबाह हो गई। 1986 में एम.एन.एफ. और भारत सरकार के बीच समझौता हुआ जिसके बाद एम.एन.एफ. हिंसा छोड़कर भारतीय संविधान के अन्तर्गत काम करने पर राज़ी हो गया। पर इससे मिज़ोरम के नृजातीय समूहों का अलगाव ज़रा भी कम नहीं हुआ। आज भी वहाँ अलग-अलग नृजातीय समूहों के अपने-अपने सशस्त्र विद्रोही दस्ते हैं।

राज्यों के पुनर्गठन की प्रक्रिया में नगालैण्ड को राज्य का दर्ज़ा 1963 में मिला। पर नगा ग्रुपों के कई राजनीतिक-प्रशासकीय इकाइयों में बँटे होने के कारण उनका असन्तोष बना रहा। 1972 में असम से खासी, गारो और जयन्तिया को मिलाकर अलग मेघालय राज्य बना तथा त्रिपुरा और मणिपुर को पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। मिज़ो पहाड़ियों (अब मिज़ोरम) और 'नार्थ-ईस्टर्न फ्रण्टियर एजेन्सी' (अब अरुणाचल प्रदेश) को असम से अलग केन्द्र शासित राज्य का दर्जा दिया गया फिर 1987 में इन्हें पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। असम के बाल्कनीकरण की इस प्रक्रिया ने केन्द्र और शेष भारत से उत्तर-पूर्व के पर्वतीय अंचलों के अलगाव और स्वतन्त्रता की आकांक्षा को तो समाप्त नहीं किया, उल्टे अन्य स्थानीय नृजातीय समूहों में भी स्वशासन या स्वतन्त्रता की आकांक्षा पैदा हुई और भूभागों पर दावों को लेकर आपस में उग्र टकरावों की शुरुआत हो गई। मिसाल के लिए बोडो आन्दोलन और गोरखा आन्दोलन। 2005 में बोडो जनजाति के उग्र आन्दोलन को नियन्त्रित करने के लिए असम के बोडो बहुल्य चार राज्यों को एक स्वायत्तशासी बोडोलैण्ड क्षेत्र का दर्जा दिया गया। सांस्कृतिक अलगाव और आर्थिक शोषण के अतिरिक्त देश के भीतर से होने वाले आप्रवासन और बांग्लादेश, नेपाल, भूटान, तिब्बत और बर्मा से होने वाले आप्रवासन के चलते पैदा हुए जनसांख्यिकीय असन्तुलन ने भी इस भूभाग की जनता में भय और असुरक्षा का मनोविज्ञान पैदा किया जिसकी परिणति अनेक हिंसात्मक घटनाओं में हुई। अभी पिछले वर्ष बोडोलैण्ड में हुई हिंसा इसी परिघटना की एक मिसाल है जिसमें असम की विभिन्न जनजातियाँ अपनी दरिद्रता का कारण आप्रवासियों के रूप में देखती हैं।

इसी कड़ी में सिक्किम के इतिहास पर नज़र दौड़ाना भी मौजूँ होगा। सिक्किम का दर्जा 1947 से भारत के संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टोरेट) का था। वह भारतीय संघ का हिस्सा नहीं था। 1975 में बिना सिक्किम की जनता की राय लिये भारतीय संविधान में मौजूद प्रावधान के तहत उसे भारत में मिला लिया गया और पूर्ण राज्य का दर्जा दे दिया गया। इसके बाद सिक्किम भी उत्तर-पूर्व का हिस्सा माना जाने लगा।

आज़ादी के बाद शुरुआती दशकों में तो भारत सरकार ने उत्तर-पूर्व के महत्व को केवल रणनीतिक दृष्टि से ही देखा था। परन्तु पूँजीवादी विकास के साथ ही प्राकृतिक सम्पदा और सस्ती श्रम शक्ति के दोहन की भी शुरुआत हुई। साथ ही यह क्षेत्र विकास की मुख्य धारा से कटा ही रहा। असम दुनिया का सबसे बड़ा चाय-उत्पादक भूभाग है। चाय बागानों में देशी-विदेशी पूँजी लगी हुई है, पर इससे आम आबादी की ग़रीबी पर कोई असर नहीं पड़ा है। देश के कुल पेट्रोलियम उत्पादन का 64 प्रतिशत अकेले असम करता है, पर उसका शोधन अन्य राज्यों में होने की वजह से उसे राजस्व का कोई लाभ नहीं मिल पाता। चाय और तेल के अतिरिक्त पूरा उत्तर-पूर्व चूना, पत्थर, कोयला, बाँस सहित प्रचुर खनिज और अन्य प्राकृतिक संसाधनों से भरपूर है जिसका सार्वजनिक और निजी पूँजी द्वारा दोहन लगातार बढ़ता जा रहा है। लेकिन उत्तर-पूर्व के राज्य आर्थिक दृष्टि से मध्य और उत्तर भारत के ग़रीब राज्यों के निकट हैं जबकि शिक्षा के स्तर और अन्य मानव-विकास सूचकांकों के हिसाब से विकसित दक्षिण भारतीय राज्यों के निकट हैं।

भारत की शक्तिशाली केन्द्रीय राज्यसत्ता से टकराकर उत्तर-पूर्व की छोटी-छोटी राज्य राष्ट्रीयताएँ भले ही अपनी मुक्ति न प्राप्त कर पायें, परन्तु वे हारेंगी भी नहीं। उनका संघर्ष तब तक चलता रहेगा जब तक उनके अलगाव और उपेक्षा की स्थिति बनी रहेगी। किसी काल्पनिक एकाश्मी राष्ट्रवाद में उनकी राष्ट्रीय भावनाओं का विलयन पूँजीवाद की चौहद्दी में सम्भव भी नहीं लगता। इसलिए उनके संघर्ष भी विसर्जित नहीं होंगे। नेतृत्व की कोई एक धारा जब समर्पण करेगी तो

दूसरी धारा उभरकर सामने आयेगी और संघर्ष को ज़ारी रखेगी। इस समस्या का समाधान केवल और केवल एक समाजवादी राज्य के तहत ही सम्भव है जो सही मायने में विभिन्न राष्ट्रों और राष्ट्रीयताओं के आत्म-निर्णय के अधिकार और अलग होने के अधिकार के आधार पर एक संघात्मक ढाँचा विकसित करेगा।

कश्मीर की जनता के साथ भारतीय राज्य की दग़ाबाज़ी की दास्तान

उत्तर-पूर्वी राज्यों में रहने वाली विभिन्न राष्ट्रीयताओं के साथ भारतीय राज्य के ऐतिहासिक विश्वासघात की विस्तृत चर्चा हम इस धारावाहिक लेख की पिछली किस्त में कर चुके हैं। उत्तर-पूर्व के समान ही जम्मू एवं कश्मीर की जनता के साथ भारतीय राज्य अपने जन्म से ही छल और कपट करता आया है जिसका दुष्परिणाम वहाँ की जनता को आज तक झेलना पड़ रहा है। भारत का खाता-पीता मध्य वर्ग जब राष्ट्रभक्ति की भावना से ओतप्रोत होकर कश्मीर को भारत का ताज़ कहता है तो उसे यह आभास भी नहीं होता कि यह ताज़ कश्मीरियों की कई पीढ़ियों की भावनाओं और आकांक्षाओं को बेरहमी से कुचल कर बना है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि कश्मीर में आतंकवाद की हरक़तों को बढ़ावा देने में पाकिस्तान का भी हाथ है परन्तु यह सच्चाई आमतौर पर दृष्टि ओझल कर दी जाती है कि कश्मीर में आतंकवाद के पनपने की मुख्य वजह भारतीय राज्य की वायदाख़िलाफ़ी और कश्मीरी जनता के न्यायोचित संघर्षों के बर्बर दमन और उससे बढ़ते असंतोष एवं अलगाव की भावना रही है। वर्ष 1990 से ही जम्मू एवं कश्मीर में सैन्य बल विशेष सुरक्षा अधिनियम (ए.एफ.एस.पी.ए.) लागू है और समूची कश्मीर घाटी सैन्य छावनी में तब्दील है। कश्मीर की मौजूदा नौजवान पीढ़ी बूटों की आवाज़ों के बीच और बन्दूकों के साये में पली-बढ़ी है। कश्मीर का पिछले दो दशकों का इतिहास नृशंस हत्याओं, बलात्कारों, अपहरणों और मानसिक यातनाओं का इतिहास रहा है। परन्तु यह समस्या पिछले दो दशकों में ही नहीं उठ खड़ी हुई है, बल्कि भारतीय राज्यसत्ता द्वारा कश्मीरी जनता के साथ की गई वायदाख़िलाफ़ी और दमन के लम्बे इतिहास की तार्किक परिणति के रूप में हमारे सामने है। भारतीय लोकतन्त्र की सदाशयता का आवरण उठाने के लिए भारतीय राज्य की इस ऐतिहासिक वायदाख़िलाफ़ी का कच्चा चिट्ठा खोलना बेहद ज़रूरी है।

औपनिवेशिक काल में ब्रिटिश राज्य के मातहत तमाम रियासतों में कश्मीर भी एक था। परन्तु कश्मीर की स्थिति इस मामले में बाकी रियासतों से अलग थी कि वहाँ की आबादी का बहुलांश मुस्लिम था, जबकि वहाँ का राजा हरी सिंह हिन्दू था। अन्य राजाओं की तरह हरी सिंह भी निरंकुश और जनविरोधी था और जनता के बीच उसकी कोई लोकप्रियता नहीं थी। जनता के बीच नेशनल कांफ्रेन्स के तत्कालीन नेता शेख अब्दुल्ला खासे लोकप्रिय थे। शेख अब्दुल्ला का दृष्टिकोण धर्मनिरपेक्ष था और यही वजह थी कि विभाजन के समय वह न तो कश्मीर को पाकिस्तान में शामिल करने के पक्षधर थे और न ही इस्लाम पर आधारित राज्य बनाने में। लेकिन साथ ही साथ वह भारत में अन्य राज्यों की भाँति शामिल होने को लेकर भी सशंकित थे। समय और परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने भी अपनी अवस्थिति को कई बार बदला। शुरुआत में तो वो कश्मीर को एक स्वतन्त्र संघ, पूर्व के स्विटज़रलैण्ड के रूप में देखना चाहते थे। नेशनल कांफ्रेन्स ने सत्ता हस्तांतरण के लिए आये ब्रिटिश कैबिनेट मिशन के सम्मुख भी एक ज्ञापन दिया था जिसमें उसने यह माँग रखी थी कि जम्मू कश्मीर का शासन लोगों के हाथ में होना चाहिए। इस ज्ञापन में

कुख़्यात अमृतसर सन्धि पर भी सवाल उठाये गये थे जिसमें हरी सिंह के पूर्वज गुलाब सिंह ने मात्र 75 लाख रुपयों में कश्मीर को अंग्रेजों के हवाले कर दिया था। शेख अब्दुल्ला के गरम तेवरों को देखते हुए हरी सिंह ने उनको जेल में डाल दिया।

हरी सिंह भी विभाजन की सूरत में भारत या पाकिस्तान किसी भी देश में कश्मीर को शामिल नहीं करना चाहता था। वह एक स्वतन्त्र राज्य का महाराजा बनने का ख़्वाब देख रहा था। परन्तु पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित कबायली हमले की वजह से उसके ख़्वाब मिट्टी में मिल गये। इस हमले का सामना करने में अपनी सेना को अक्षम देख हरी सिंह को मज़बूरी में भारतीय सेना से मदद की गुहार लगानी पड़ी। मौके का भरपूर फ़ायदा उठाते हुए भारतीय राज्य ने 26 अक्टूबर 1947 को मदद के बदले में हरी सिंह से विलय के दस्तावेज़ (इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ एक्सेशन) पर दस्तख़त करा लिये। इस दस्तावेज़ में जम्मू एवं कश्मीर के भारत मेंं विलय की बात कही गयी थी, परन्तु उल्लेखनीय है कि इसमें मात्र तीन विषयों यानी रक्षा, विदेश नीति और संचार के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर जम्मू एवं कश्मीर राज्य की स्वायत्तता का प्रावधान था। इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि विलय के दस्तावेज़ में यह स्पष्ट प्रावधान था कि जम्मू एवं कश्मीर का भारत में विलय आरज़ी था तथा अन्तिम फैसला वहाँ की जनता की स्वतन्त्र अभिव्यक्ति पर निर्भर करेगा। उस वक़्त भारत सरकार ने वायदा किया था कि यह विलय तभी पूर्ण माना जायेगा जब राज्य में कानून और व्यवस्था सामान्य होगी और जम्मू एवं कश्मीर की जनता इसके पक्ष में होगी। उसके बाद अनेक अवसरों पर नेहरू ने यह वायदा दुहराया था। पाकिस्तान समर्थित कबायली हमले के विरोध में भारत सरकार द्वारा संयुक्त राष्ट्र को भेजी शिकायत में भी यह लिखा था कि ‘‘राज्य (जम्मू एवं कश्मीर) में सामान्य स्थिति बहाल होने के बाद राज्य के लोग स्वतन्त्र रूप से अपने भविष्य का फैसला करेंगे और यह फैसला जनमतसंग्रह के सर्वमान्य तरीक़े से होगा।’’

तमाम आश्वासनों के बावज़ूद एक बार जम्मू एवं कश्मीर का भारत में विलय होने के बाद वहाँ की जनता के आत्मनिर्णय का अधिकार आज तक उन्हें नहीं मिल पाया है जो कि इस समस्या की जड़ है। विलय के दस्तावेज़ को संवैधानिक जामा पहनाने के मक़सद से संविधान में अनु. 370 डाला गया जो जम्मू एवं कश्मीर को विशेष दर्जा देता है। परन्तु ग़ौर करने वाली बात है कि अनु. 370 में यह कहीं नहीं लिखा है कि जम्मू एवं कश्मीर का भारत में विलय आरज़ी है और इस विलय पर अन्तिम फैसला राज्य की जनता करेगी। यानी अनु. 370 स्वयं विलय के दस्तावेज़ की मूल भावना और जम्मू एवं कश्मीर की जनता की आकांक्षाओं के ख़िलाफ़ जाता है। आरम्भ में इस अनु. में जम्मू एवं कश्मीर को स्वात्यत्त राज्य का दर्ज़ा देने वाले अनेक प्रावधान थे, मिसाल के तौर पर वहाँ के मुख्यमंत्री को सदर-ए-रियासत (प्रधानमंत्री) कहा जायेगा, वहाँ की विधायिका को संसद कहा जायेगा, वह राज्य भारत के उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र से मुक्त होगा आदि। परन्तु समय बीतने के साथ भारत सरकार ने संवैधानिक संशोधन के ज़रिये अनु. 370 में दी गई स्वायत्तता का अधिकांश हिस्सा जम्मू एवं कश्मीर की जनता से छीन लिया।

संविधान लागू होने के समय से ही भारत की हिन्दू साम्प्रदायिक ताकतें जम्मू एवं कश्मीर की रही सही स्वायत्तता का विरोध करती आयी हैं और वे शुरुआत से ही जनता की मर्ज़ी के बगैर ही इस राज्य को जबरन भारत में मिला लेने की पक्षधर रही हैं। संविधान लागू होने के तुरन्त बाद 1950 के दशक की शुरुआत में भारतीय जनसंघ (भाजपा का पूर्वज संगठन) और जम्मू प्रजा परिषद नामक साम्प्रदायिक संगठन ने अनु. 370 हटाने और जम्मू एवं कश्मीर को किसी भी प्रकार का विशेष दर्ज़ा देने के ख़िलाफ़ आन्दोलन छेड़ दिया। नेहरू सरकार ने भी इन साम्प्रदायिक ताकतों

से सख़्ती से निपटने की बजाय उनके प्रति नरम रुख़ अख़्तियार किया। जब शेख़ अब्दुल्ला को यकीन हो चला कि नेहरू भी साम्प्रदायिक ताकतों के आगे घुटने टेक रहे हैं तो उन्होंने खुले आम घोषणा कर दी कि कश्मीर भारत से आज़ाद होना चाहिए। नतीजतन वे गिरफ़्तार कर लिए गये। उनकी चुनी हुई सरकार बर्ख़ास्त कर दी गई और जम्मू एवं कश्मीर में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। कुछ समय बाद वहाँ गुलाम बख़्शी मुहम्मद शेख को मुख्यमंत्री बनवाया गया जो जम्मू एवं कश्मीर में भारतीय राज्य की कठपुतली से अधिक कुछ भी न था। जेल में रहने के दौरान शेख अब्दुल्ला थोड़ा नरम हुए। कुछ समय बाद उन्हें जेल से रिहा भी किया गया। परन्तु जनमत संग्रह को लेकर उनकी सापेक्षतः नरम अवस्थिति भी अब नेहरू को स्वीकार्य न थी। अतः उन्हें फिर से गिरफ़्तार कर लिया गया। नेहरू की मृत्यु के बाद शेख अब्दुल्ला जेल से रिहा हुए, परन्तु तब तक वे समझौतापरस्त हो चुके थे।

1980 के दशक में कश्मीर की घाटी हिंसा की लपटों में झुलस उठी। 1987 में राज्य के चुनावों में भारी धाँधली के बाद लोगों का असंतोष और बढ़ गया। यही वह माहौल था जब कश्मीर के युवाओं ने हिंसा की राह पकड़ी। निश्चित रूप से इस आग को भड़काने में पाकिस्तान की भी अपनी भूमिका रही थी और हिंसा का रास्ता चुनने वालों में तमाम ऐसे भी थे जो कश्मीर का विलय पाकिस्तान में करना चाहते थे। परन्तु उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो आज़ाद कश्मीर की बात करते थे यानी ऐसा कश्मीर जो भारत और पाकिस्तान दोनों से आज़ाद हो। जम्मू कश्मीर लिबरेशन फ्रण्ट ऐसा ही एक संगठन था। भारतीय सेना ने सभी किस्म के संगठनों को आतंकवादी करार कर उनका बर्बर दमन करने की ठानी। राज्य में सैन्य बल विशेष अधिकार अधिनियम लगा दिया गया। देखते ही देखते समूची कश्मीर घाटी सैन्य छावनी में तब्दील हो गई। यही नहीं भारतीय सेना ने मानवाधिकारों के उल्लंघन के पुराने कीर्तिमान ध्वस्त कर दिये। 1990 के पूर्वार्द्ध तक कश्मीर में नृशंस हत्यायें, बलात्कार, अपहरण, यातनायें आम बात हो गयीं। यह तथ्य कई मानवाधिकार संगठनों की रिपोर्टों में भी सामने आया है।

हालाँकि कश्मीरी समाज परम्परागत रूप से धार्मिक कट्टरपन्थ से मुक्त रहा है, परन्तु 1980 के दशक में पैदा हुई परिस्थितियों ने वहाँ इस्लामिक कट्टरपंथियों को अपना आधार फैलाने के लिए ज़मीन तैयार की। इसी की परिणति घाटी के अल्पसंख्यक कश्मीरी पंडितों के नरसंहार और घाटी से उनके पलायन के रूप में हुई। आज भी वहाँ की जनता की भावनाओं और आकांक्षाओं की अभिव्यक्ति देने में समर्थ राजनीतिक शक्ति के अभाव में तहरीक़-ए-हुर्रियत जैसे संगठन कट्टरपंथी इस्लाम की जड़ें मज़बूत कर रहे हैं।

हालाँकि 1990 के दशक के अन्त तक भारतीय सेना ने पाकिस्तान समर्थित आतंकवादियों सहित सभी क़िस्म के चरमपंथियों को 'न्यूट्रलाइज़' कर दिया था, लेकिन वर्ष 2009 से कश्मीरी जनता के प्रतिरोध ने एक नई दिशा में क़दम आगे बढ़ाये जिसे इन्तिफ़ादा (जनविद्रोह) कहा जा रहा है। इस नये चरण में भारतीय सेना का सामना ए के 47 या हैंड ग्रेनेड लिए दुर्दान्त आतंकवादियों से नहीं बल्कि हाथों में गिट्टी व पत्थर आम छात्रों और युवाओं से हो रहा है। 2009 में अमरनाथ यात्रा विवाद, उसी साल शोपियाँ में सशस्त्र बलों द्वारा दो महिलाओं के बलात्कार और हत्या, माछिल फ़र्ज़ी मुठभेड़ में कश्मीरी युवकों की हत्या और जुलाई 2010 में तुफ़ैल मट्टू नामक छात्र की सेना की गोलीबारी में मौत के बाद जनता का गुस्सा इसी नये प्रकार के प्रतिरोध के रूप में सड़कों पर दिखायी दिया जिसका सामना करने में भारतीय सेना को दाँतों तले चने चबाने पड़े। हाल ही में

अफ़ज़ल गुरू को फाँसी दिये जाने के बाद कश्मीर के हालात एक फिर तनावपूर्ण हो गये थे। कई दिनों तक कर्फ़्यू लगाने के बाद ही हालात को काबू में किया जा सका।

कश्मीर के इस संक्षिप्त इतिहास से स्पष्ट है कि कश्मीर समस्या के लिए मुख्य रूप से भारतीय राज्य की वायदाख़िलाफ़ी और उसके द्वारा कश्मीरी जनता पर किया गया बर्बर दमन है। इस समस्या के समाधान के लिए कश्मीरी जनता के आत्मनिर्णय के अधिकार को केन्द्र में रखना होगा। परन्तु भारतीय पूँजीवादी राज्य से ऐसी उम्मीद पालना ख़ामख़्याली है। ऐसा वायदा तो सिर्फ़ एक समाजवादी राज्य ही निभा सकता है।

भारतीय राज्यसत्ता: पूँजीपति वर्ग की तानाशाही को मूर्त रूप देता एक दमनकारी तन्त्र

भारतीय संविधान के जिन प्रावधानों की हम इस धारावाहिक लेख में विवेचना कर चुके हैं उनके अतिरिक्त संविधान में एक बहुत बड़ा हिस्सा भारतीय राज्यसत्ता और उसके विभिन्न अंगों – कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका – पर केन्द्रित है। लोकतन्त्र का मायाजाल बिछाने के लिए संविधान में ऐसे तमाम गौढ़ प्रावधानों पर भी खूब स्याही ख़र्च की गयी है जिन्हें दरअसल संविधान में रखने की ज़रूरत ही नहीं थी क्योंकि उनके लिए विशेष विधेयक बनाने से ही काम चल जाता। मिसाल के लिए राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और मंत्रिमंडल का निर्वाचन कैसे होगा, राष्ट्रपति पद, उप-राष्ट्रपति और संसद सदस्य के उम्मीदवार के लिए पात्रता और शर्तें क्या होंगी, राष्ट्रपति, उप-राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डल क्या शपथ लेंगे, संसद का गठन कैसे होगा, संसद के सत्र कितने होंगे, हर साल संसद के पहले सत्र में राष्ट्रपति का भाषण होगा, संसद का एक सचिवालय होगा, उच्चतम न्यायालय के न्यायधीशों को वेतन कैसे मिलेगा, उच्चतम न्यायालय के अधिकारी और सेवक का व्यय आदि-आदि। यही वजह है कि भारतीय संविधान इतना मोटा हो गया है कि इसे दुनिया का सबसे लम्बा संविधान कहा जाता है। लेकिन संविधान के पोथे के मोटेपन से भ्रमित होने की बजाय जब हम इसके द्वारा स्थापित राज्यसत्ता के चरित्र के बारे में गहराई से पड़ताल करते हैं तो पाते हैं कि यह समाज में मौजूद वर्गों से ऊपर कोई स्वायत्त और तटस्थ तन्त्र न होकर वास्तव में पूँजीपति शासक वर्गों के हितों की नुमाइंदगी करने वाली एक दमनकारी दैत्याकार मशीनरी है जो आम मेहनतकश जनता के हितों के ख़िलाफ़ है और उसके ऊपर बलपूर्वक स्थापित है। इस लेख की पिछली किश्तों में हम देख चुके हैं कि यह राज्यसत्ता जनता की बेहद बुनियादी ज़रूरतों – भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, स्वास्थ्य – को भी पूरा करने की भी गारण्टी नहीं देती। यानी कि क्लासिकीय बुर्जुआ जनवाद के पैमाने से भी भारतीय राज्यसत्ता को जनवादी नहीं कहा जा सकता है।

शासन के कार्यभारों को विधायिका (कानून बनाना) और कार्यपालिका (कानून लागू करना) में बाँटने के पीछे तर्क यह दिया जाता है कि इससे संसद के माध्यम से सरकार पर जनता का नियन्त्रण रहेगा। परन्तु संसदीय लोकतन्त्र का हास्यास्पद पहलू यह है कि चूँकि संसद में बहुमत प्राप्त करने वाली पार्टी या पार्टियों का गठबन्धन ही सरकार बनाता है इसलिए सरकार जिस तरह का कानून चाहे वैसा कानून पास करा सकती है। यही नहीं पिछले कुछ दशकों से इस तथाकथित लोकतन्त्र में एक नयी परम्परा पनपी है जिसमें कि सरकार अहम नीतिगत निर्णयों में भी संसद की मंजूरी लेने की औपचारिकता भी निभाने की जहमत नहीं उठाती, बल्कि कार्यकारी आदेशों से ही ये निर्णय ले लिये जाते हैं। मिसाल के लिए देश के नागरिकों के निजता के जनवादी अधिकार का हनन करने का प्रावधान करने वाली आधार योजना को बिना संसद की मंजूरी लिये लागू कर दिया गया है। ऐसे में सरकार पर संसद के नियन्त्रण का कोई ख़ास मायने नहीं रह जाता। वैसे भी भारतीय संसद (और राज्यों की विधान सभाओं) ने पिछले छह दशकों में निर्विवाद रूप से यह सिद्ध कर दिया है कि यह बहसबाजी, सिरफुड़ौव्वल, गुण्डागर्दी और अभद्रता के अड्डे से ज़्यादा कुछ नहीं है। संसद और विधान सभाओं के अधिकांश सदस्य करोड़पति होते हैं और उनमें से अच्छी खासी संख्या हत्या, बलात्कार और डकैती जैसे जघन्य अपराधों में लिप्त हिस्ट्रीशीटरों की होती है। मौजूदा लोकसभा में किसी भी दल को स्पष्ट बहुमत नहीं है, परन्तु एक ऐसा समूह है जो

निर्विवाद रूप से बहुमत में है और वो है करोड़पतियों का समूह! जी हॉ! मौजूदा लोकसभा के सदस्यों की घोषित सम्पत्ति के अनुसार 545 सदस्यों में से 306 करोड़पति हैं। पिछली लोकसभा की तुलना में करोड़पतियों की संख्या में सौ फ़ीसदी से भी ज़्यादा का इज़ाफ़ा हुआ है। यह एक खुला रहस्य है कि इन महानुभावों की घोषित आय इनकी वास्तविक आय का एक छोटा सा हिस्सा भर होती है। एक ऐसे देश में जिसकी तीन चौथाई से भी ज़्यादा आबादी 20 रुपये प्रतिदिन से भी कम आय में अपना गुजर बसर करती है, ऐसे धनपशुओं को जनप्रतिनिधि कहना जनता का अपमान करना है।

इन धन्नासेठों और अपराधियों की तू-तू-मैं-मैं और नूराकुश्ती के लिए संसद के सत्र के दौरान प्रतिदिन करोड़ो रुपये खर्च होते हैं जो देश की जनता के खून-पसीने की कमाई से ही सम्भव होता है। उसमें भी सत्र के ज़्यादातर दिन तो किसी न किसी मुद्दे को लेकर संसद में कार्यस्थगन हो जाता है और फिर जनता के लुटेरों को अय्याशी के लिए और वक़्त मिल जाता है। आम जनता की ज़िन्दगी से कोसों दूर ये लुटेरे आलीशान बंगलों में रहते हैं, सरकारी ख़र्च से हवाई जहाज और महँगी गाड़ियों से सफर करते हैं और विदेशों और हिल स्टेशनों पर छुट्टियाँ मनाते हैं। एक ऐसे देश में जहाँ बहुसंख्यक जनता को दस-दस बारह-बारह घण्टे खटने के बाद भी दो जून की रोटी के लाले पड़े रहते हैं, जनता के तथाकथित प्रतिनिधियों की विलासिता भरी ज़िन्दगी अपने आप में लोकतन्त्र के लम्बे-चौड़े दावों को एक भद्दा मज़ाक बना देती है।

ई पी डब्ल्यू पत्रिका में छपे एक लेख के मुताबिक वर्ष 2009 के लोकसभा चुनावों के दौरान प्रति निर्वाचन क्षेत्र में बड़ी पार्टियों के उम्मीदवारों ने औसतन 30 करोड़ रुपये खर्च किये और छोटी पार्टियों के उम्मीदवारों ने औसतन 9 करोड़ रुपये खर्च किये। ग़ौरतलब है कि यह औसत खर्च है यानी कि जो महानुभाव इन चुनावों में जीत हासिल कर संसद में विराजमान हैं उन्होंने इससे भी ज़्यादा ख़र्च किये हैं। अब तो इसकी ताईद विभिन्न दलों के नेता खुद ही कर रहे हैं। अभी हाल ही में महाराष्ट्र के पूर्व उपमुख्यमन्त्री भाजपा के गोपीनाथ मुण्डे मीडिया के सामने रौ में आकर ये कह गये कि पिछले लोकसभा चुनावों में उन्होंने 8 करोड़ रुपये ख़र्च किये। इसी प्रकार कांग्रेस के राज्यसभा सांसद चौधरी बीरेन्द्र सिंह के मुँह से बरबस ही यह सच्चाई निकल गयी जब उन्होंने कहा कि राज्य सभा की टिकट पाने के लिए 100 करोड़ रुपये ख़र्च करने पड़ते हैं। अब इस सवाल का ज़वाब देने में कोई ईनाम नहीं है कि ये करोड़ों रुपये आते कहाँ से हैं! जी हाँ ! यह काला धन इस देश के नामी गिरामी उद्योगपतियों, व्यापारियों और सटोरियों की तिजोरी से आता है जो वे आम मेहनतकश जनता का हाड़-माँस गलाकर इकट्ठा करते हैं। ज़ाहिर है कि ये उद्योगपति, व्यापारी और सटोरिये धर्मार्थ में इतना धन नहीं फूँकते हैं, वे इसका 'रिटर्न' भी चाहते हैं। इसलिए संसद सदस्य और मन्त्रिमण्डल के सदस्य अपने पूँजीपति आकाओं के हित में नीतियाँ और कानून बनाकर अपना कर्ज़ अदा करते हैं। पूँजीपतियों में जो दूरंदेश और शातिर होते हैं वे किसी एक पार्टी को चन्दा देने की बजाय कई पार्टियों का चन्दा देते है ताकि सत्ता में चाहे जो भी पार्टी आये वह उनके ही हितों को साधे! यही नहीं, इनमें से कई पूँजीपति तो सत्ता में प्रत्यक्ष दख़ल देने के मक़सद से राज्य सभा के चोर रास्ते से संसद में भी पहुँच जाते हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय बुर्जुआ लोकतन्त्र मार्क्स एवं एंगल्स द्वारा लिखे गये कम्युनिस्ट घोषणापत्र की उन पंक्तियों का जीता जागता उदाहरण है जिसमें उन्होंने कहा था कि बुर्जआ सरकारें समूचे पूँजीपति वर्ग के साझा हितों को साधने वाली मैनेजिंग कमेटी के रूप में काम करती हैं।

शासक वर्ग के टुकड़ों पर पलने वाले बुर्जुआ कलमघसीट और भाड़े के पत्रकार यह बताते नहीं थकते कि भारत में बहुदलीय संसदीय लोकतान्त्रिक व्यवस्था होने की वजह से जनता को पर्याप्त विकल्प मिल जाते हैं और यदि एक पार्टी सत्ता में आने के बाद अच्छा प्रदर्शन नहीं करती तो जनता को यह अधिकार है कि वह अगले चुनावों में उस पार्टी को हटाकर सत्ता की बागडोर दूसरी पार्टी को सौंपे दे। लेकिन इन लफ़्फ़ाजियों पर यकीन करने की बजाय जब हम इस तथाकथित लोकतन्त्र की ज़मीनी हक़ीक़त पर ग़ौर करते हैं तो यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो जाता है कि विकल्प के रूप में जो तमाम रंग बिरंगी पार्टियाँ मौजूद हैं वो सभी लुटेरे पूँजीपति वर्ग के ही विभिन्न धड़ों का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनके दिखावी मतभेद महज़ जनता को भ्रमित करने के मक़सद से उभारे जाते हैं। जनता की मेहनत की लूट और पूँजीपतियों के मुनाफ़े को बढ़ाने वाली आर्थिक नीतियों के सवाल पर कमोबेश सभी पार्टियों में आम सहमति है। इस प्रकार इस लोकतन्त्र के प्रपंच में होने वाले चुनाव जनता को महज़ इतना अधिकार देते हैं कि वो अपने ही लुटेरों के विभिन्न गिरोहों में से किसी एक को चुन ले! राष्ट्रीय और क्षेत्रीय स्तर पर होने वाले चुनावों में हिस्सा लेने वाली अधिकांश पार्टियाँ किसी विचारधारा पर नहीं बल्कि एक राजनीतिक परिवार के प्रति वफ़ादारी और चाटुकारिता के आधार पर संगठित होती हैं। जो पार्टियाँ विचारधारा के आधार पर संगठित होने का दंभ भरती हैं वे या तो जनता को धर्म या जाति के नाम पर बाँटकर अपना वोटबैंक सुनिश्चित करती हैं या फिर वे मेहनतकश जनता के हितों की नुमाइंदगी के नाम पर गरमागरम बातें करने वाली मज़दूर आन्दोलन की गद्दार पार्टियाँ हैं। इन तमाम रंग-बिरंगी पार्टियों में एक और चीज़ साझा है और वह यह कि इन सभी में अन्तरपार्टी जनवाद जैसी कोई चीज़ नहीं होती क्योंकि सारे अहम फैसले हाई कमाण्ड की ओर से लिये जाते हैं। वित्त के मामले में भी ये सभी पार्टियाँ निहायत ही गैर-पारदर्शी तरीके से काम करती हैं, इनके द्वारा उगाहे जाने वाले धन का कोई भी ब्योरा जनता के सामने नहीं आता और न ही उनकी कोई ऑडिट होती है। अभी हाल ही में जब मुख्य सूचना अधिकारी ने इन पार्टियों को सूचना के अधिकार के दायरे में लाने की बात की तो अपने तमाम दिखावी मतभेदों को किनारे कर इन सभी पार्टियों ने एक सुर में इसका विरोध कर अपनी असलियत जनता के सामने खुद ही उघाड़ कर रख दी।

जनता की मेहनत से अर्जित धन को पानी की तरह बहा कर और पुलिस और पैरामिलिटरी बलों की भारी मौजूदगी में होने वाली चुनावों की नौटंकी के बाद जब यह तय हो जाता है कि अगले पाँच साल सत्ता चलाने का ठेका लुटेरों के किस गिरोह को मिला है, तो फिर मन्त्रिमण्डल बनाने के लिए जोड़तोड़ शुरू हो जाती है। पिछले दो दशकों से चूँकि किसी एक पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिलता इसलिए कई पार्टियों का गठबन्धन सरकार चलाता है। मिलीजुली सरकारों के इस दौर में क्षेत्रीय पार्टियों की भूमिका बढ़ने की वजह से देश की विभिन्न राज्यों की क्षेत्रीय बुर्जुआजी की राजनीतिक ताकत बढ़ी है। नीरा राडिया टेप काण्ड में यह सच्चाई साफ़ उभर कर आयी कि मन्त्रिमण्डल बनाने की जोड़तोड़ में राष्ट्रीय और क्षेत्रीय पूँजीपतियों के विभिन्न गुट मोलतोल कर यह तक तय करते हैं कि अमुक मन्त्रालय में कौन मन्त्री बनेगा। ज़ाहिर है कि पूँजीपतियों के विभिन्न गुटों के मोलतोल से बनी सरकार पूँजीपतियों के ही हित में काम करेगी। ऐसी सरकार से यह अपेक्षा कोई अनाड़ी ही कर सकता है कि वह जनहित में काम करे।

भारतीय संविधान में कार्यपालिका की संरचना को लेकर एक पूरा अध्याय लिखा गया है। यह संरचना भी ब्रिटेन की संसदीय प्रणाली से उधार ली गयी है और इसको देशी दिखाने के लिए

महज़ नामों में कुछ शाब्दिक बदलाव कर दिये गये हैं। यह संरचना अपने आप में संविधान निर्माताओं की बौद्धिक गुलामी का ही एक नमूना है। ब्रिटेन में सरकार की नीतियों को लागू करने की ज़िम्मेदारी कैबिनेट की होती है और सारे फैसले महारानी के नाम पर लिये जाते हैं। इसी तर्ज़ पर भारत में भी मन्त्रिमण्डल का सारा कामकाज राष्ट्रपति के नाम किया जाता है। ये महामहिम आम तौर पर राजनीति से रिटायर हुए नेता होते हैं जो आलीशान महलनुमा राष्ट्रपति भवन में रहते हैं जिसकी देखरेख, रखरखाव में और बुज़ुर्ग राष्ट्रपति महोदय की सुरक्षा के तामझाम में प्रतिदिन जनता की गाढ़ी कमायी से अर्जित लाखों रुपये खर्च होते हैं। राष्ट्रपति महोदय का काम महज़ इतना होता है कि वे संसद द्वारा पास किये गये बिलों और मन्त्रिमण्डल द्वारा लिये गये फैसलों पर दस्तख़त करें, भारतीय राज्यसत्ता के प्रधान के तौर पर विदेशों का भ्रमण करें और सरकार द्वारा तय किये भाषण का पाठ करें। साफ है राष्ट्रपति का पद एक रबर स्टैम्प से ज़्यादा कुछ नहीं है। ऐसे देश में जहाँ 20 करोड़ से भी ज़्यादा लोग झुग्गी झोपड़ियों में रहते हैं और उससे भी ज़्यादा लोग फुटपाथ पर सोते हैं, एक रबर स्टैंप का काम करने वाले महामहिम राष्ट्रपति महोदय के लिए जनता के ख़ून पसीने की कमायी से अर्जित रोज़ाना लाखों रुपये ख़र्च एक निर्लज्ज स्तर की विलासिता है! लेकिन यह विलासिता पिछले 63 सालों से बदस्तूर ज़ारी है।

शासन प्रशासन के फैसले लेने और उनको अमल में लाने की ज़िम्मेदारी मन्त्रिमण्डल की होती है जिसका नेतृत्व प्रधानमन्त्री करता है। लेकिन सरकारें तो आती जाती रहती हैं, शासन प्रशासन चलाने का असली काम तो सचिवालय से लेकर ब्लॉक तक फैले विराट नौकरशाही तन्त्र करता है जिसको स्थायी कार्यपालिका कहते हैं। ग़ौरतलब है कि नौकरशाही के इस विराट तन्त्र की नींव भी औपनिवेशिक ब्रिटिश सत्ता के जमाने में ही रखी गयी थी और आज़ादी मिलने की छह दशकों बाद भी नौकरशाही की संरचना, उसके काम करने का तौर-तरीके और नौकरशाहों की मानसिकता में औपनिवेशिक अतीत की प्रेतछाया मौजूद है। अपने चरित्र से यह नौकरशाही उतनी ही जनविरोधी है जितनी औपनिवेशिक जमाने में!

कार्यपालिका

ऊपर हमने भारतीय राज्यसत्ता के एक स्तम्भ विधायिका की विस्तृत चर्चा की है। अब हम इसके दूसरे प्रमुख स्तम्भ कार्यपालिका के स्वरूप की चर्चा करेंगे। लोकसभा चुनाव (राज्यों में विधानसभा चुनाव) के बाद जब यह तय हो जाता है कि लुटेरों के किस गिरोह को अगले पाँच साल के लिए जनता को लूटने का ठेका मिला है, तो फ़िर मीडिया में अगली सरकार, अगले मन्त्रिमण्डल और अगले प्रधानमन्त्री के बारे में कयास लगने शुरू हो जाते हैं। नीरा राडिया टेपकाण्ड के बाद अब यह दिन के उजाले की तरह साफ़ हो गया है कि मन्त्रिमण्डल बनाने की समूची प्रक्रिया में टाटा और अम्बानी से लेकर क्षेत्रीय पूँजीपतियों तक का सक्रिय हस्तक्षेप रहता है। पूँजीपतियों के तमाम गुटों के बीच खींच-तान और मोल-तोल के बाद ही मन्त्रिमण्डल का अन्तिम स्वरूप तय हो पाता है। इस मामले में भारतीय कार्यपालिका मार्क्स और एंगेल्स की इस प्रस्थापना को शब्दशः लागू करती प्रतीत होती है कि पूँजीवादी लोकतन्त्र में सरकार पूँजीपतियों की मैनेजिंग कमेटी का काम करती है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि सरकार किसी एक पूँजीपति के हित में नहीं बल्कि समूचे पूँजीपति वर्ग के हित में काम करती है। पूँजीपति वर्ग को सरकार की ज़रूरत इसलिए पड़ती है क्योंकि अपनी स्वतःस्फूर्त गति से आपसी गलाकाटू

प्रतिस्पर्धा में अंधे होकर जब पूँजीपति एक दूसरे के विनाश की हद तक जा पहुँचें तो ऐसे में सरकार उनके दूरगामी हित को ध्यान में रखते हुए इस प्रतिस्पर्धा का विनियमन करे और इस समूचे लूट तन्त्र के ख़िलाफ़ नियमित रूप से उभरने वाले जनता के प्रतिरोध का दमन करे।

सरकार का नेतृत्व प्रधानमन्त्री (राज्यों में मुख्यमन्त्री) करता है। आम तौर पर प्रधानमन्त्री ऐसे व्यक्ति को बनाया जाता है जिसकी जनता के बीच बेदाग़ और ईमानदार नेता जैसी छवि हो ताकि उसकी छवि की आड़ में समूची व्यवस्था के लूट-तन्त्र पर पर्दा डाला जा सके। मिसाल के तौर पर संयुक्त प्रगतिशील गठबन्धन की मौजूदा सरकार को ही लें। इस सरकार का नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति के हाथों में हैं जिसकी आम जनता के बीच एक सभ्य, सुसंस्कृत और ईमानदार व्यक्ति की छवि है। परन्तु इस सरकार की गिनती निर्विवाद रूप से आज़ादी के बाद की सबसे भ्रष्ट और लुटेरी सरकारों में की जायेगी। यह बात दीगर है कि तमाम घोटालों में नाम आने की वजह से 'ईमानदार' और 'बेदाग़' प्रधानमन्त्री महोदय की छवि को भी बट्टा लग गया है। हालाँकि अभी भी इस व्यवस्था की मुख्य लूट यानी कि श्रम की लूट को बढ़ावा देने में इन महोदय के योगदान के बारे में आम जनता कम ही जानती है क्योंकि अभी भी ये महानुभाव एक बड़े अर्थशास्त्री के रूप में प्रसिद्ध हैं। ऐसे महानुभावों के शीर्ष पर होने से इस व्यवस्था के पैरोकारों के लिए जनता के बीच यह भ्रम फैलाना आसान हो जाता है कि इस व्यवस्था में प्रतिभा की कद्र होती है और अगर ऐसे 'प्रतिभावान' लोगों की संख्या बढ़ेगी तो इस व्यवस्था की कमियाँ खुद-ब-खुद दूर हो जायेंगी।

आधिकारिक तौर पर इस व्यवस्था में कार्यपालिका का कार्यभार मन्त्रिमण्डल के ज़िम्मे होता है। परन्तु असलियत में शासन-प्रशासन की समूची व्यवस्था का संचालन केन्द्रीय सचिवालय से लेकर राज्यों के सचिवालयों से होता हुआ ज़िलों तक और गाँवों की तहसीलों और ब्लॉकों तक फैला नौकरशाही का विराट तन्त्र करता है जिसको स्थायी कार्यपालिका भी कहते हैं क्योंकि सरकारें तो आती-जाती रहती हैं, परन्तु नौकरशाही स्थायी रूप से शासन-प्रशासन की बागडोर सँभालती है। यह नौकरशाही ही है जो वास्तव में राज्यसत्ता की आँख, कान और नाक का काम करती है। रोज़मर्रा की ज़िन्दगी में आम जनता इसी नौकरशाही के ज़रिये राज्यसत्ता के सम्पर्क में आती है। लेकिन यह महज़ नाम के लिए नौकरशाही है, यदि जनता के प्रति इसके आचरण को नामकरण का आधार बनाया जाये तो वास्तव में इसका नाम मालिकशाही होना चाहिए क्योंकि इस विराट तन्त्र पर इसके औपनिवेशिक अतीत की प्रेतछाया आज तक मौजूद है। इसका समूचा ढाँचा, इसके काम करने का तौर-तरीका और सबसे महत्वपूर्ण रूप से इसका जनता के प्रति रुख हमें आज भी औपनिवेशिक ग़ुलामी की याद दिलाता है।

नौकरशाही के शीर्ष पर आईएएस और आईपीएस जैसी ऑल इण्डिया सर्विसेज़ के अधिकारी विराजमान रहते हैं जिनकी ख़ासियत यह होती है कि वे केन्द्र और राज्य दोनों सरकारों के तहत काम करते हैं। सरकारों के नीतिगत फैसले लेने और उनको लागू करवाने में इनकी प्रमुख भूमिका होती है। कुलीन अधिकारियों की ये ऑल इण्डिया सर्विसेज़ भी औपनिवेशिक अतीत की काली विरासत है जिसको अंग्रेजों के शासन का 'स्टील फ्रेम' कहा जाता था क्योंकि समूची औपनिवेशिक सत्ता इन्हीं के बूते क़ायम थी। आज भी ये कुलीन सर्विसेज़ पूँजीवादी सत्ता के आधार-स्तम्भ का काम करती हैं। इन सर्विसेज़ से आने वाले अधिकारी कहने को तो जनता के सेवक माने जाते हैं परन्तु वास्तव में ये जनता की ज़िन्दगी से कटे हुए होते हैं और शासक वर्गों जैसी विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताते हैं। जनता के प्रति आज भी ये 'माई-बाप' जैसा बर्ताव करते

हैं। इन कुलीन अधिकारियों को तमाम विशेषाधिकार मिले रहते हैं और शायद दुनिया में यह अकेली ऐसी सर्विसेज़ होंगी जिसको संवैधानिक संरक्षण भी प्राप्त है।

कुछ वर्षों पहले सिविल सर्विसेज़ में सुधार लाने के लिए गठित वाई.के. अलग कमेटी ने अपनी रिपोर्ट में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया था कि सिविल सर्विसेज़ के अधिकारी औपनिवेशिक और शासक मानसिकता से ग्रस्त होते हैं न कि जनता के प्रति सेवाभाव की मानसिकता से। यदि वाई.के. अलग महोदय इन सर्विसेज़ की किताबी परिभाषा की बजाय इनके वास्तविक चरित्र और इनके इतिहास पर ग़ौर फ़रमाते तो शायद इनके अधिकारियों की मानसिकता को लेकर इतने व्यथित और अचम्भित नहीं होते। इन सर्विसेज़ का जन्म ही शासक वर्गों की शोषणकारी सत्ता को चाक-चौबन्द करने के लिए हुआ है। ऐसे में यदि लुटेरे वर्गों की ख़िदमत करने वाले अधिकारीगण भी जनता के प्रति शासकों जैसा व्यवहार करें तो भला इसमें इतने आश्चर्य की क्या बात है!

नौकरशाही को नियन्त्रित करने वाले तमाम क़ायदे-कानून – सिविल प्रोसीज़र कोड, क्रिमिनल प्रोसीज़र कोड, इन्डियन एविडेंस एक्ट, जेल मैनुअल आदि औपनिवेशिक जमाने में बनाये गये हैं और ये सत्ता को सुचारु रूप से चलाने में इतने क़ारगर साबित हुए कि आज भी महज़ चन्द बदलावों के साथ ये लागू हैं। कहने को तो आज़ादी के बाद कानून और व्यवस्था बनाये रखने के बजाय नौकरशाही की मुख्य ज़िम्मेदारी विकास और कल्याणकारी प्रशासन की हो गयी है, परन्तु इस विकास और कल्याणकारी प्रशासन का हास्यास्पद पहलू यह है कि इसमें जनता की कोई भागीदारी नहीं होती है और वास्तव में यह जनता पर हुकूमत गाँठने का ही एक दूसरा नाम है। इन दिनों जनता की भागीदारी के नाम पर कुछ स्वयं सेवी गैर सरकारी संस्थाओं (एन.जी.ओ.) के ज़रिये कुछ कल्याणकारी स्कीमें लागू की जाती हैं और उनसे सोशल ऑडिट आदि कराने का अनुष्ठान कराया जाता है। इस एन.जी.ओ. राजनीति का साम्राज्यवादी और जनविरोधी चरित्र अब जगजाहिर हो चुका है।

राज्यसत्ता का असली स्वरूप तब सामने आता है जब जनता अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करती है और कोई आन्दोलन संगठित होता है। ऐसे में विकास प्रशासन और कल्याणकारी प्रशासन का लबादा खूँटी पर टाँग दिया जाता है और दमन का चाबुक हाथ में लेकर राज्यसत्ता अपने असली खूनी पंजे और दाँत यानी पुलिस, अर्द्ध-सुरक्षा बल और फ़ौज सहित जनता पर टूट पड़ती है। पुलिस से तो वैसे भी जनता का सामना रोज़-मर्रे की जिन्दगी में होता रहता है। पुलिस रक्षक कम और भक्षक ज़्यादा नज़र आती है। आज़ादी के छह दशक बीतने के बाद भी आलम यह है कि ग़रीबों और अनपढ़ों की तो बात दूर, पढ़े लिखे और जागरूक लोग भी पुलिस का नाम सुनकर ही ख़ौफ़ खाते हैं। ग़रीबों के प्रति तो पुलिस का पशुवत रवैया गली-मुहल्लों और नुक्कड़-चौराहों पर हर रोज़ ही देखा जा सकता है। भारतीय पुलिस टॉर्चर, फ़र्जी मुठभेड़, हिरासत में मौत, हिरासत में बलात्कार आदि जैसे मानवाधिकारों के हनन के मामले में पूरी दुनिया में कुख्यात है। महिलाओं के प्रति भी पुलिस का दृष्टिकोण मर्दवादी और संवेदनहीन ही होता है जिसकी बानगी आये दिन होने वाली बलात्कार की घटनाओं पर आला पुलिस अधिकारियों की टिप्पणियों में ही दिख जाती है जो इन घटनाओं के लिए महिलाओं को ही ज़िम्मेदार ठहराते हैं। भारतीय पुलिस के चरित्र को लेकर कुछ वर्षों पहले इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश जस्टिस आनन्द नारायण मुल्ला ने एक बेहद सटीक टिप्पणी की थी कि भारतीय पुलिस जैसा संगठित अपराधियों का गिरोह देश में दूसरा कोई नहीं है।

जब पुलिस के डण्डे से राज्यसत्ता जनता को क़ाबू में नहीं कर पाती तो उसका अगला अगला मोहरा होता है आरए एफ, सीआरपीएफ, बीएसएफ जैसे अर्द्ध-सुरक्षा बल जो अत्याधुनिक हथियारों से लैस होते हैं और लोगों का बर्बर दमन करने के लिए विशेष रूप से प्रशिक्षण प्राप्त होते है। आज़ादी के बाद भारतीय बुर्जुआ राज्यसत्ता ने अपनी ताकत सुदृढ़ करने के लिए कई नए अर्द्ध-सुरक्षा बलों की स्थापना की और इनमें जवानों की संख्या में बेतहाशा बढ़ोत्तरी की है। इनकी उपस्थिति मात्र से एक दहशत भरा माहौल पैदा हो जाता है। इस दहशत भरे माहौल का इस्तेमाल राज्यसत्ता जनान्दोलनों को डराने-धमकाने के लिए बखूबी इस्तेमाल करती है। किसी भी जन-प्रदर्शन और जुलूस के दौरान ये अर्द्ध-सुरक्षा बल अपनी लाठियों और हथियारों सहित इसीलिए तैनात किये जाते हैं कि जनता एक सीमा से आगे अपने अधिकारों का सवाल उठाने के पहले ही दहशत में आ जाये। इसके अतिरिक्त इन अर्द्ध-सुरक्षा बलों का इस्तेमाल अलगाववादी आन्दोलनों और जनविद्रोहों को भी बर्बरता से कुचलने में किया जाता है।

भारतीय राज्यसत्ता की हिफ़ाजत में तैनात सुरक्षा बलों के शीर्ष पर फ़ौज होती है जो न सिर्फ़ बाहरी आक्रमण का मुकाबला करने के लिए प्रशिक्षित होती है बल्कि देश के भीतर भी जन-बग़ावतों पर क़ाबू पाने के लिए भी विशेष रूप से प्रशिक्षित प्राप्त होती है। जम्मू-कश्मीर और उत्तर-पूर्व जैसे इलाकों में, जहाँ जनता अपने आत्मनिर्णय के अधिकार को लेकर आन्दोलित है, फौज का दबदबा इतना ज़्यादा है कि यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि वहाँ सैनिक शासन जैसी स्थिति है। इन इलाकों में कुख़्यात सुरक्षा बल विशेषाधिकार कानून (ए.एफ.एस.पी.ए;) लागू है जो वस्तुतः सेना को किसी भी प्रकार की जवाबदेही से मुक्त करता है। पिछले कुछ वर्षों से नक्सलवाद से प्रभावित इलाकों में भी सेना को भेजने की बातें चल रही हैं।

हालाँकि पिछले कई दशकों से भारत का किसी भी देश के साथ प्रत्यक्ष युद्ध नहीं हुआ है, फिर भी भारतीय सेना की गिनती दुनिया की सबसे भारी भरकम सेनाओं में होती है। आज़ादी के बाद से ही साल-दर-साल भारतीय राज्यसत्ता अपनी सेना को चुस्त-दुरुस्त और अत्याधुनिक हथियारों से लैस करती आयी है। हथियारों के आयात के मामले में भारत आज विश्व में अव्वल नम्बर पर है। जिस देश में दुनिया के सबसे अधिक बच्चे भूख और कुपोषण के शिकार हों और दुनिया की सबसे ज़्यादा महिलायें एनीमिया की शिकार हों, वह देश अगर दुनिया का सबसे बड़ा हथियारों का आयातक है तो इसी से इस राज्यसत्ता का बर्बर जनविरोधी चरित्र उजागर हो जाता है। जब सरकार को भूख, कुपोषण और ग़रीबी से निज़ात दिलाने की उसकी ज़िम्मेदारी के प्रति आगाह किया जाता है तो उसके नुमाइंदे और शासक वर्गों के टुकड़ों पर पलने वाले तमाम बुद्धिजीवी सब्सिडी का अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले बुरे असर के बारे में अख़बारों के पन्ने भर डालते हैं और टीवी स्टूडियों में लम्बी-लम्बी बहसें करते हैं, परन्तु इनमें से कोई भी यह सवाल नहीं उठाता कि भला ऐसा क्यों है कि इस ‘शान्तिप्रिय’ देश में हथियारों की प्राथमिकता भोजन और दवाओं से ज़्यादा है! भारत में श्रम की अनुत्पादकता पर हाय-तौबा मचाने वाले ये कलमघसीट सेना के रूप में इतनी विराट अनुत्पादक संस्था की मौजूदगी पर कभी कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगाते। सच्चाई तो यह है कि भारत का शासक वर्ग अपनी शान्तिप्रियता का चोंगा कब का उतार कर फेंक चुका है। आज भारतीय सेना दुनिया की साम्राज्यवादी सेनाओं के साथ कंधे से कंधा मिला कर युद्धाभ्यास करती है और यहाँ का शासक वर्ग खुद के साम्राज्य के बारे में ख़्वाब देखता है, भले ही यहाँ पर भूख, कुपोषण और बीमारी से दम तोड़ने वालों की संख्या में लगातार वृद्धि होती जा रही है।

इस लोकतन्त्र के तीसरे और चौथे खम्भे यानी न्यायपालिका और मीडिया की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता की असलियत

भारतीय लोकतन्त्र के दो प्रमुख स्तम्भों विधायिका और कार्यपालिका के जनविरोधी चरित्र का तो बहुत पहले ही पर्दाफ़ाश हो चुका था, परन्तु इसके तीसरे स्तम्भ – न्यायपालिका और तथाकथित चौथे स्तम्भ – मीडिया के चरित्र के बारे में अभी भी तमाम लोग गफ़लत में हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि न्यायपालिका और मीडिया के बारे में लोगों के दिलो-दिमाग़ में यह बात बैठा दी गयी है कि ये संस्थाएँ स्वतन्त्र और निष्पक्ष हैं और इनकी मौजूदगी से सरकार और संसद की ज़्यादतियों पर नियन्त्रण रहता है। हालाँकि पिछले कुछ वर्षों में तमाम ऐसे काण्ड और घपले-घोटाले सामने आये हैं जिनके बाद भारतीय राज्यसत्ता की इन दो संस्थाओं की साख़ पर भी बट्टा लगा है, परन्तु साथ ही साथ इन दो संस्थाओं द्वारा अपनी साख को पुर्नस्थापित करने की क़वायद भी जारी है। ऐसे समय में जब न्यायपालिका के नीचे से लेकर शीर्ष तक भ्रष्टाचार में डूबे होने की बातें सामने आने से लोगों का विश्वास डगमगा रहा था, न्यायपालिका ने हाल में कुछ प्रगतिशील दिखने वाले फैसले दिये हैं (मसलन दागी नेताओं से सम्बन्धित फैसला और 'राइट-टू-रिजेक्ट' यानी ख़ारिज करने के अधिकार से सम्बन्धित फैसला) जिनके बाद से जनता के अच्छे-खासे हिस्से में एक बार फिर इस तथाकथित लोकतन्त्र के प्रति खोयी हुई उम्मीद जाग गयी है। इसी तरह राडिया टेपकाण्ड, जी न्यूज़ प्रकरण और पेड न्यूज़ परिघटना के सामने आने के बाद मीडिया भी अपनी आत्मालोचना का ढोंग रचकर और तमाम नकली जनान्दोलनों की कवरेज करके अपने दामन पर लगे गहरे धब्बों को साफ़ करने में जुट गया है। ऐसे में इस सच्चाई को सामने लाना बेहद ज़रूरी है कि स्वतन्त्रता और निष्पक्षता का ढोंग करने वाली ये संस्थाएँ भी किस तरह से शोषण और उत्पीड़न पर टिकी मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था को और गहराई से स्थापित करने का काम करती है और इसलिए अपने चरित्र से ये जनविरोधी हैं।

भारतीय संविधान में न्यायपालिका को संविधान का संरक्षक बताया गया है। यानी न्यायपालिका एक ऐसे संविधान की संरक्षक है जो निजी सम्पत्ति की इंच-इंच हिफ़ाज़त करने के लिए प्रतिबद्ध है। यही वजह है कि पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में न्यायपालिका के अधिकांश फैसले पूँजी के पक्ष में होते हैं। न्यायपालिका प्राकृतिक न्याय पर टिके होने का कितना भी दम भरे, सच्चाई तो यह है कि यह बुर्जुआ न्याय पर टिकी होती है जिसके अनुसार मुट्ठीभर पूँजीपतियों द्वारा मेहनत-मज़दूरी करने वाली देश की बहुसंख्यक आबादी की मेहनत की लूट, शोषण और उत्पीड़न न्यायसंगत है। कोई भी न्यायशील इंसान अपने सहजबोध से इसी नतीजे पर पहुँचेगा कि किसी समाज में परजीवियों की एक छोटी सी जमात द्वारा मेहनत की लूट से विलासिता भरी ज़िन्दगी बिताना और मेहनतकशों का दरिद्रता भरा जीवन एक घोर अन्याय है। परन्तु बुर्जुआ न्यायप्रणाली के तहत इसमें कुछ भी ग़लत नहीं है। न्यायपालिका का काम महज़ इतना है कि मेहनत की जो लूट इस पूँजीवादी व्यवस्था में हो रही है, वह क़ानून के दायरे में हो। यहाँ तक कि इस लूट के परिमाण को और ज़्यादा भी बढ़ाना हो तो न्यायपालिका को उससे कोई गुरेज़ नहीं है, बशर्ते उसके लिए क़ानून में ज़रूरी संशोधन किये जायें।

भारतीय संविधान में जो थोड़े-बहुत अधिकार जनता को दिये गये हैं उनकी हिफ़ाज़त करने में भी भारतीय न्यायपालिका निहायत ही अक्षम साबित हुई है। ज्ञात हो कि भारतीय पूँजीवादी राज्य को

एक नग्न फासिस्ट तानाशाही में तब्दील करने वाले आपातकाल को न्यायपालिका ने न्यायसंगत ठहराया था। इस धारावाहिक लेख में हम पहले ही यह चर्चा कर चुके हैं कि किस तरह संवैधानिक उपचार जनता की पहुँच से बाहर हैं। समाज के अन्य क्षेत्रों की तरह न्यायपालिका में भी पैसे वालों की तूती बोलती है। अगर आपके पास पैसा है तो जघन्य से जघन्यतम अपराध करने के बावजूद क़ानून की आँखों में धूल झोंककर बाइज़्ज़त बरी हो सकते हैं क्योंकि तब आप राम जेठमलानी, कपिल सिब्बल, अरुण जेटली और हरीश साल्वे सरीखे वकीलों की सेवाएँ ख़रीद सकते हैं जिन्हें पहले से ही धनिकों के पक्ष में झुके बुर्जुआ क़ानून को पूरी तरह उनके पक्ष में करने में महारत हासिल है। इसकी एक ज़िन्दा मिसाल हाल ही में बिहार के लक्ष्मणपुर बाथे मामले में देखने में आयी जिसमें पटना उच्च न्यायालय ने 27 महिलाओं और 15 बच्चों सहित 58 निर्दोष दलितों के बर्बर नरसंहार के मुकदमे में सभी 26 अभियुक्तों को बरी कर दिया। इसी तरह भोपाल गैस त्रासदी, 1984 के सिख विरोधी दंगे, 2002 के गुजरात दंगों को अंजाम देने वाले मुख्य अपराधियों का न्यायपालिका कुछ भी न बिगाड़ पायी। इसी तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि इस देश में न्याय प्रक्रिया के सुस्त और लचर होने और ग़रीबी की वजह से लाखों निर्दोष अण्डरट्रायल के रूप में जेलों में सड़ रहे हैं। इस देश की विभिन्न अदालतों में लगभग 3 करोड़ मुकदमे लम्बित हैं। एक आकलन के मुताबिक यदि भारतीय न्याय व्यवस्था इसी रफ़्तार से फैसले देती रहे तो उसे कुल लम्बित मामलों का निपटारा करने में 320 साल लग जायेंगे।

राज्य के नीति निर्देशक सिद्धान्तों की चर्चा के दौरान हम यह देख चुके हैं कि किस प्रकार भारतीय राज्य नव-उदारवादी नीतियों के तहत एक-एक करके अपने वायदों से मुकरता जा रहा है और किस प्रकार इन सिद्धान्तों की धज्जियाँ ख़ुद इस व्यवस्था के पैरोकार ही उड़ाते हैं। इसके बावजूद संविधान की संरक्षक न्यायपालिका न सिर्फ़ चुप्पी साधे रही बल्कि कई मामलों में तो उसने इन नीतियों के पक्ष में अपने फैसले दिये। इस दौर में मुनाफ़े की अन्धी हवस की ख़ातिर श्रम क़ानूनों को ज़्यादा से ज़्यादा लचीला और लचर बनाने की साज़िश के ख़िलाफ़ भी न्यायपालिका ने चूँ तक नहीं की। यह बात सर्वविदित है कि इस देश में मौजूदा श्रम क़ानून भी देश के किसी भी हिस्से में नहीं लागू होते। परन्तु न्यायपालिका को श्रम क़ानूनों को लागू करने के मामले में क़ानून के संरक्षक की भूमिका याद नहीं रहती जिससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि दरअसल यह शासक वर्गों के हितों का संरक्षण करती है। यही वजह है कि न्यायपालिका के फ़ैसले अमूमन मज़दूरों के ख़िलाफ़ ही जाते हैं। मारुति मज़दूरों के हालिया आन्दोलन में गिरफ़्तार मज़दूरों की जमानत ठुकराते हुए न्यायधीश महोदय ने यह तर्क दिया कि मज़दूरों को ज़मानत पर रिहा करने से देश के भावी निवेशकों को एक गलत सन्देश जायेगा। साफ़ है कि इस देश में न्यायपालिका अब खुलेआम पूँजी के हित में काम कर रही है।

कुछ दशकों पहले तक न्यायपालिका की छवि एक बेदाग़ संस्था के रूप में थी जो समाज की रोम-रोम में फ़ैले भ्रष्टाचार से सापेक्षतः मुक्त थी। लेकिन कुछ वर्षों पहले सर्वोच्च न्यायालय के ही तत्कालीन मुख्य न्यायधीश एस. पी. भरूचा ने यह माना था कि सर्वोच्च न्यायालय के लगभग बीस फ़ीसदी न्यायधीश भ्रष्ट हैं। लेकिन तब से अब तक भ्रष्टाचार की गटरगंगा में काफी पानी बह चुका है। अब तो सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीशों तक की भ्रष्टाचार में संलिप्तता की बातें सामने आ रही हैं। अभी हाल ही में पूर्व क़ानून मन्त्री शान्ति भूषण ने यह खुलासा किया था कि सर्वोच्च न्यायालय के पिछले 16 मुख्य न्यायधीशों में से 8 भ्रष्ट कारवाइयों में लिप्त थे।

आइये अब भारतीय लोकतन्त्र का चौथा स्तम्भ माने जाने वाले मीडिया की असलियत जानते हैं। मीड़िया को आमतौर पर राज्यसत्ता से स्वतन्त्र एक निष्पक्ष संस्था के रूप में प्रचारित किया जाता है और हमें यह बताया जाता है कि लोकतन्त्र में जनता की आवाज़ उठाने में मीडिया एक सशक्त भूमिका अदा करता है। लेकिन इस शोरगुल में अक्सर यह बात दबा दी जाती है कि मीडिया के इस लगातार बढ़ते ताने-बाने पर मालिकाना हक़ किसके पास है। सच्चाई तो यह है कि इस देश के तमाम अख़बार और टी.वी. चैनलों में बड़े कॉरपोरेट घरानों की पूँजी लगी है। ज़ाहिर है कि ये घराने अपनी पूँजी जनता की आवाज़ उठाने के लिए नहीं लगाते। इनका मक़सद अकूत मुनाफ़ा कमाना तो होता ही है, लेकिन आज के दौर में मीडिया उससे भी ज़्यादा ख़तरनाक काम यह करता है कि वह समाज में शासक वर्गों के पक्ष में जनमत तैयार करता है। भिन्न-भिन्न तरीकों से मीडिया लोगों को यह बताता है कि तमाम कमियों के बावजूद पूँजीवाद का कोई विकल्प नहीं है और इसलिए जनता को इसके विकल्प के बारे में सोचना छोड़कर इसे चुपचाप स्वीकार कर लेना चाहिए। मीडिया में मौजूद तमाम विश्लेषक कुल मिलाकर इस व्यवस्था के दायरे में कुछ सुधारों की पैरोकारी करते हैं ताकि इसके अमानवीय चेहरे को किसी तरह से ढका जा सके।

इस प्रकार मीडिया समाज में शासक वर्गों के वैचारिक और सांस्कृतिक वर्चस्व को गहराई से स्थापित करने का काम बखूबी अंजाम देता है। वह तमाम मुद्दों का विश्लेषण करने के लिए एक व्याख्यात्मक ढाँचा प्रस्तुत करता है, एक ऐसा व्याख्यात्मक ढाँचा जो देखने में तो रैडिकल लगे परन्तु वह समस्याओं की जड़ यानी पूँजीवादी व्यवस्था पर एक भी सवाल नहीं करता। मीडिया आमजन को शासक वर्ग के नज़रिये से चीजों को देखने की आदत डालता है। अपने दामन पर लगे धब्बों को साफ़ करने और अपने को निष्पक्ष साबित करने के लिए मीडिया आजकल आत्मालोचना का ढोंग भी रचता है।

मीडिया में अभिव्यक्ति की आज़ादी को लेकर लम्बी-चौड़ी बहसें आयोजित की जाती हैं। परन्तु इन बहसों में शामिल होने वाले पत्रकार हमें यह नहीं बताते कि वे सरकार से अपनी अभिव्यक्ति की आज़ादी की लड़ाई भले ही जीत लें पर मीडिया के कॉरपोरेटीकरण के इस युग में वे पूँजी की ग़ुलामी से आज़ाद नहीं हो सकते। क्या इस सच्चाई से मुँह मोड़ा जा सकता है कि कॉरपोरेट मीडिया में काम करने वाले पत्रकार एक उजरती बौद्धिक मज़दूर हैं और सम्पादक का काम वही होता है जो कारख़ानों में सुपरवाइज़र का। कारख़ानों की तर्ज़ पर अब सूचना का उत्पादन करने वाले मीडिया घरानों में काम करने वाले पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को भी दस-दस बारह-बारह घण्टे खटना पड़ता है और उसके बावजूद उनकी नौकरी की सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं रहती। हाल ही में मुकेश अम्बानी के मालिकाने वाले टीवी चैनल सीएनएन-आईबीएन से लगभग 350 पत्रकारों और मीडियाकर्मियों को बिना किसी पूर्व सूचना के निकाल दिया गया। इससे पहले महुवा टीवी चैनल, सारदा समूह और दैनिक भास्कर समूह से भी बड़े पैमाने पर छँटनी की ख़बरें सामने आयीं। ऐसे में यह अपेक्षा करना बेमानी है कि मीडिया जनता के हित में काम करेगा।

एक दौर था जब पत्रकारिता को एक उदात्त पेशा और सामाजिक बदलाव का अस्त्र माना जाता था। परन्तु मीडिया-तन्त्र पर पूँजी का शिकंजा कसने के साथ ही पत्रकारिता क्रमशः दलाली में तब्दील होती गयी। नीरा राडिया टेप काण्ड में यह साफ़ उभरकर आया कि किस तरह मीडिया जगत के नामी-गिरामी पत्रकार उद्योगपतियों और नेताओं के बीच बिचौलिये का काम करते हैं। ज़ी न्यूज़ प्रकरण के बाद यह सच्चाई उजागर हो चुकी है कि पत्रकार और सम्पादक किसी ख़बर को दिखाने या न दिखाने के लिए पूँजीपतियों से मोटी रकम वसूलते हैं। पेड न्यूज़ की पूरी

परिघटना यह दिखाती है कि किस तरह पूँजीवादी मीडिया में ख़बरें भी साबुन, तेल, मंजन की तरह एक बिकाऊ माल बन चुकी हैं। ऐसे में यह भरोसा करना मुश्किल है कि जो ख़बरें हमें परोसी जा रही हैं वे पूँजीपति वर्ग के इस या उस खेमे द्वारा प्रायोजित नहीं हैं। ज़ाहिर है, पूँजी की ताक़त के बूते खड़ा मुख्य धारा का मीडिया पूँजी और श्रम के बीच जारी संघर्ष में श्रम का पक्ष ले ही नहीं सकता। श्रम का पक्ष तो ऐसा ही मीडिया ले सकता है जो मेहनतकशों के खून-पसीने की कमाई के दम पर टिका हो।

उपसंहार

भारतीय संविधान और भारतीय लोकतन्त्र के चरित्र को बयान करने वाले लेखों की इस श्रृंखला में हमने देखा कि भारतीय संविधान के बनने की प्रक्रिया और इसको पारित करने का तरीका दोनों ही गैर-जनवादी थे। हमने यह भी देखा कि संविधान में लफ़्फ़ाजियाँ तो बहुत हैं, परन्तु यह आम जनता के बेहद बुनियादी जनवादी अधिकारों की भी कोई गारण्टी नहीं देता। इस संविधान में मौजूद प्रावधान निजी सम्पत्ति की इंच-इंच तक हिफ़ाजत करते हैं। अतः इन तथ्यों की रोशनी में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान एक बुर्जुआ संविधान है जो एक बुर्जुआ जनवादी राज्य की आधारशिला रखता है और इस प्रकार पूँजीपति वर्ग के हितों का पोषण करता है। तमाम बुर्जुआ बुद्धिजीवी और संशोधनवादी इसे बिना कोई विश्लेषण का उपयोग किये जनवादी संविधान और लोकतान्त्रिक व्यवस्था कह कर महिमामण्डित करते हैं। ऐसे ही एक संशोधनवादी और सर्वहारा क्रान्ति के गद्दार काउत्स्की को करारा जवाब देते हुए लेनिन ने कहा था कि ''विशुद्ध जनवाद एक ऐसा उदारतावादी झूठ से भरा फ़िकरा है जो मज़दूरों को बेवकूफ बनाना चाहता है। इतिहास उस बुर्जुआ जनवाद से परिचित है जो सामन्तवाद का स्थान लेता है और उस सर्वहारा जनवाद से परिचित है जो बुर्जुआ जनवाद का स्थान लेता है।''

लेनिन आगे कहते हैं, ''यद्यपि बुर्जुआ जनवाद मध्ययुगीनता की तुलना में महान ऐतिहासिक प्रगति है, पर वह हमेशा सीमित, क्षत-विक्षत, झूठ-मक्कारी भरा होता है, वह धनवानों के लिए स्वर्ग और शोषितों के लिए, ग़रीबों के लिए एक जाल और एक धोखा होता है, और पूँजीवादी व्यवस्था में वह इसके अतिरिक्त कुछ हो भी नहीं सकता।'' भारतीय संविधान और भारतीय लोकतन्त्र की जो विवेचना इस श्रृंखला में प्रस्तुत की गयी है उसके आधार पर यह बेहिचक कहा जा सकता है कि लेनिन की यह प्रस्थापना भारत के सन्दर्भ में भी हूबहू लागू होती है। उपनिवेशवाद की गर्भ से जन्मे और पुनर्जागरण एवं प्रबोधन की वैचारिक सम्पदा से रहित भारत के विकृत और कमज़ोर बुर्जुआ वर्ग से इससे ज़्यादा उम्मीद की भी नहीं जा सकती है।

पूँजीवादी जनवाद के पूरे इतिहास पर एक सरसरी निगाह दौड़ाने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के प्रबोधनकालीन आदर्श तो उन देशों में भी नहीं लागू हुए जहाँ पर सत्ता की बागडोर क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग के हाथों में आयी। ब्रिटेन में सत्रहवीं सदी के मध्य की क्रामवेल की क्रान्ति ने हालाँकि सामन्ती वर्ग की सत्ता को समाप्त किया, परन्तु इसके बावजूद संसद में सम्पत्तिवानों का ही कब्ज़ा बना रहा क्योंकि सत्ता पर अब बुर्जुआ वर्ग काबिज़ हो चुका था। ब्रिटिश गृह युद्ध में हिस्सा लेने वाले कई समूहों में से 'लेवेलर्स' और 'डिगर्स' जैसे सापेक्षतः रैडिकल समूह जो आम मेहनतकशों के हितों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे, कुचल दिये गये। हालाँकि राजशाही की राजनीतिक ताकत छीन ली गई, परन्तु उसका ख़ात्मा नहीं किया गया और आज तक यह संस्था ब्रिटिश पूँजीवाद के दामन पर एक काले धब्बे के समान मौजूद है। क्रॉमवेल की क्रान्ति के कई दशकों बाद तक भी मतदान और चुनाव लड़ने का आधार सम्पत्ति बनी रही।

यहाँ तक कि क्लासिकीय बुर्जुआ क्रान्तियाँ यानि अमेरिकी क्रान्ति और फ्रांसीसी क्रान्ति भी ऐतिहासिक रूप से प्रगतिशील होते हुए भी अन्ततः बुजुआ वर्ग के अधिनायकत्व में तब्दील हो

गयीं। स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के आदर्श महज़ खोखले शब्द बनकर रह गये और उनका अमली रूप बहुसंख्यक मेहनतकश आबादी पर मुट्ठी भर पूँजीपतियों की तानाशाही बनकर रह गयी। 4 जुलाई 1776 को जैफ़रसन द्वारा तैयार किये गये 'स्वतन्त्रता के अधिकार की घोषणा' निश्चित रूप से इतिहास में आगे बढ़ा हुआ एक प्रगतिशील कदम था। परन्तु दास स्वामियों द्वारा इस घोषणा का तत्क्षण विरोध किया गया और इसमें से दास प्रथा के उन्मूलन के प्रावधान को निकलवा दिया गया। अमेरिकी क्रान्ति के बाद भी कई दशकों तक दासों के विद्रोहों को बर्बरता से कुचलने की प्रक्रिया बदस्तूर ज़ारी रही। 1786 में डेनियल शेज़ के नेतृत्व में ग़रीबों और कर्ज़दारों की रिहाई के लिए उठे प्रसिद्ध विद्रोह को निर्ममता से कुचल दिया गया। 1787 के प्रसिद्ध फिलाडेल्फिया कनवेंशन, जिसमें अमेरिकी संविधान की नींव रखी गयी थी, में भी दास प्रथा के उन्मूलन पर आम सहमति नहीं बन सकी। वास्तव में इस कन्वेंशन में भाग लेने वाले लोग आम मेहनतकश जनता के नहीं बल्कि धनिकों, दास स्वामियों और पूँजीपतियों के प्रतिनिधि थे। इस कन्वेंशन में भाग लेने वाले 55 सदस्यों में से 25 दासस्वामी थे। दासों की संख्या पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका की आबादी का पाँचवाँ हिस्सा थी। न्यू इंग्लैण्ड को छोड़कर सभी राज्यों में दास प्रथा प्रचलन में थी। दक्षिणी राज्यों में तो हर तीन में से एक परिवार में दास रखे जाते थे। दक्षिणी राज्यों की समूची कृषि अर्थव्यवस्था दास श्रम पर टिकी थी। इस कन्वेशन के चरित्र का पता इसी बात से चल जाता है कि इसमें बहसतलब मुद्दों में एक मुद्दा यह भी था कि राज्यों का प्रतिनिधित्व तय करने की प्रक्रिया में दासों को जनसंख्या में गिना जाय अथवा उन्हें सम्पत्ति के रूप में देखा जाये। दक्षिणी राज्य अपना प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए दासों को जनसंख्या में गिनने के लिए दबाव बना रहे थे, जबकि उत्तरी राज्य केवल स्वतन्त्र व्यक्तियों को जनसंख्या में गिनना चाहते थे और दासों को सम्पत्ति के रूप में गिनना चाहते थे। अन्ततः कन्वेंशन में इस मुद्दे पर सहमति बनी कि दासों की कुल संख्या का 3/5 वाँ हिस्सा ही जनसंख्या में गिना जायेगा।

1791 में अमेरिकी संविधान में 10 संशोधन पारित किये गये जिन्हें 'बिल ऑफ राइट्स' के नाम से जाना जाता है। इसमें धर्म की स्वतन्त्रता का अधिकार, अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार, सभा करने का अधिकार, प्रेस का अधिकार, अस्त्र रखने का अधिकार शामिल हैं। परन्तु स्वतन्त्रता की तमाम घोषणाओं के बावजूद सच्चाई यह थी कि दास प्रथा अभी भी कई राज्यों में प्रचलित थी और अश्वेतों की स्थिति में कोई विचारणीय सुधार नहीं हुआ था। हलाँकि 1804 तक उत्तरी राज्यों में दास प्रथा के उन्मूलन की घोषणा की जा चुकी थी, परन्तु इन राज्यों में भी जहाजरानी, बैंकिंग और मैन्युफैक्चरिंग के विस्तार की वजह से दास प्रथा के साथ उनके मजबूत आर्थिक सम्बन्ध बरकरार रहे। औद्योगिक क्रान्ति के बाद कॉटन की बढ़ती माँग ने दक्षिणी राज्यों में दास-प्रथा को और भी विस्तार देने के लिए प्रेरणास्रोत का काम किया। 1861 से 1865 तक अमेरिका में चले गृहयुद्ध के बाद हालाँकि आधिकारिक रूप से सभी राज्यों में दास-प्रथा का उन्मूलन करने के दावे किये गये, परन्तु इसके बावजूद समूची उन्नीसवीं शताब्दी में अश्वेतों की दयनीय स्थिति बरकरार रही। इसके अतिरिक्त श्वेतों में भी ग़रीब मेहनतकश जनता की स्थिति पूँजीवाद के दौर में बद से बदतर होती गयी। दुनिया को स्वतन्त्रता की नसीहत देने वाले इस देश में भी मज़दूरों के आन्दोलनों को निर्ममतापूर्वक कुचला गया। मई 1886 में शिकागो के प्रसिद्ध मज़दूर आन्दोलन का बर्बर दमन इस बात की बानगी भर है।

दुनिया का सबसे पुराना लोकतन्त्र कहा जाने वाले इस देश के विस्तारवादी मंसूबे 19 वीं शताब्दी में दिखने लगे थे जब मुनरो डॉक्ट्रिन के तहत लैटिन अमेरिकी देशों को अमेरिकी उपनिवेश में

तब्दील करने की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। बीसवीं शताब्दी में और खासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हिरोशिमा-नागासाकी पर परमाणु बम गिराने के बाद अमेरिका दुनिया के साम्राज्यवादी देशों का सरगना बन चुका था। बीसवीं शताब्दी में कोरिया, वियतनाम, निकारागुआ, चिली आदि में स्वतन्त्रता के नाम पर अराजकता फैलाने के बाद 21 वीं सदी में ये साम्राज्यवादी प्रयोग अफ़गानिस्तान इराक़, पाकिस्तान, लीबिया, सीरिया आदि पर किये जा रहे हैं। यही नहीं अपने अत्याधुनिक इलेक्ट्रानिक सर्विलांस की टेक्नालोजी की मदद से अब दुनिया भर के लोगों की निजी सूचनायें अब माउस का एक बटन दबाते ही अमेरिका के पास पहुँच रही हैं। तो ये रही व्यक्तित्व की आज़ादी को अनुलंघनीय मानने की कसमें खाने वाली बुर्जुआ अमेरिकी क्रान्ति की परिणति।

अब आइये देखते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति की परिणति क्या हुई। जहाँ तक सामन्तवाद को निर्णायक चोट पहुँचाने का प्रश्न है तो निश्चित रूप से इस क्रान्ति की इतिहास में प्रगतिशील भूमिका थी। यही वजह थी कि मार्क्स ने इसे भव्यतम बुर्जुआ क्रान्ति की संज्ञा दी थी। 1789 की जुलाई में बास्तील किले की जेल के ध्वंस के बाद 26 अगस्त को राष्ट्रीय संविधान सभा ने पुरुष और नागरिक अधिकार घोषणापत्र के नाम से एक महत्वपूर्ण दस्तावेज़ पारित किया जो ऊपरी तौर से देखने पर प्रबोधनकालीन आदर्शों से प्रेरित दिखायी पड़ता है। इस घोषणा में कुछ अधिकारों को नैसर्गिक, अनुलंघनीय और पवित्र बताया गया था, मसलन लोगों के जन्मना समान होने का अधिकार, अभिव्यक्ति की आज़ादी, प्रेस की आज़ादी और सभा करने की आज़ादी, उत्पीड़न के सभी रूपों का ख़ात्मा, मनमाने ढंग से गिरफ़्तारी की परंपरा का ख़ात्मा। निश्चित रूप से ये अधिकार यह दिखाते हैं कि फ्रांसीसी क्रान्ति मानव इतिहास में एक आगे बढ़ा हुआ क़दम थी। लेकिन ग़ौर करने की बात यह है कि इस घोषणा में मौजूद तमाम प्रावधानों में से एक यह भी था कि निजी सम्पत्ति का अधिकार पवित्र और अनुलंघनीय था। जहाँ तक सामन्तों द्वारा आम जन की ज़मीन हड़पने की बात थी, वहाँ तो इस अधिकार की एक प्रगतिशील भूमिका थी, परन्तु इसका एक प्रतिगामी पहलू यह था कि इसने हर प्रकार के पूँजीवादी लुटेरों और अनुत्पादक परजीवी जमातों और की निजी सम्पत्ति की अधिकार भी सुरक्षित कर दिया।

फ्रांस की नेशनल असेंबली ने 1791 में संविधान का प्रारूप पूरा किया। यह संविधान सभी नागरिकों को मतदान का अधिकार नहीं देता था। 25 वर्ष से अधिक उम्र वाले केवल ऐसे पुरुषों को ही मतदान देने का अधिकार प्राप्त था जो कम-से-कम तीन दिन की मज़दूरी के बराबर कर चुकाते थे। असेंबली का सदस्य होने के लिए लोगों को करदाताओं की उच्चतम श्रेणी में होना ज़रूरी था। 1792 में जैकोबिनों के सत्ता में आने के बाद 21 वर्ष से अधिक उम्र वाले सभी पुरुषों – चाहे उनके पास सम्पत्ति हो या नहीं – को मतदान का अधिकार दिया गया। 21 सितंबर 1792 को नवनिर्वाचित असेंबली ने राजतंत्र का अन्त कर दिया और फ्रांस को एक गणतन्त्र घोषित किया। रोबेस्पयेर के नेतृत्व वाली जैकोबिन पार्टी तृतीय एस्टेट के आम मेहनकश आबादी – जूता बनाने वाले, पेस्ट्री बनाने वाले, घड़ीसाज, छपाई करने वाले और नौकर व दिहाड़ी मज़दूरों – के हितों का प्रतिनिधित्व करती थी। इस पार्टी के नेतृत्व में 1793 में जो संविधान बनाया गया उसे अब तक के बुर्जुआ संविधानों में से सर्वाधिक जनवादी कहा जाता है। फ्रांसीसी उपनिवेशों में दास-प्रथा का उन्मूलन करने का रैडिकल फैसला भी जैकोबिनों ने ही लिया (जिसे बाद में नेपोलियन ने फिर से शुरू कर दिया)। परन्तु यह पार्टी बहुत दिनों तक सत्ता में न रह सकी क्योंकि इतना ज़्यादा जनवाद बुर्जुआ वर्ग के गले से नहीं उतर रहा था । 27 जुलाई 1794 को एक प्रतिक्रियावादी तख़्तापलट के द्वारा जैकोबिनों का शासन समाप्त कर दिया गया और रोबेस्पयेर को गिलोटिन पर

चढ़ा दिया गया। नये डायरेक्ट्री शासन ने जैकोबिनों द्वारा लिए गये रैडिकल फैसलों को उलट दिया। डिरेक्ट्री के भ्रष्ट शासन के बाद नेपोलियन ने 1804 में सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया और स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के झण्डे को धूल में फेंक दिया।

प्रबोधनकालीन फ्रांसीसी दार्शनिकों के आदर्शों को फ्रांसीसी क्रान्ति के बाद सत्ता में आये नवोदित बुर्जुआ वर्ग द्वारा तिलांजलि देने के बारे में एंगल्स ने 'ड्यूरिंग मत-खण्डन' में सटीकता से बयान करते हुए लिखा है, ''....अठारहवीं शताब्दी के फ्रांसीसी दार्शनिक, जो क्रान्ति के अग्रदूत थे, उस सबसे, जो विद्यमान है, एकमात्र निर्णयकर्ता के रूप में तर्कबुद्धि का आश्रय लेते थे। उन्होंने एक तर्कबुद्धिसंगत राज्य तथा तर्कबुद्धिसंगत समाज की स्थापना की माँग की, उस सबको, जो शाश्वत तर्कबुद्धिसंगत के विरुद्ध था, निर्ममतापूर्वक मिटा देने की माँग की। हमने यह भी देखा कि यह शाश्वत तर्कबुद्धि वस्तुतः औसत दर्ज़े के बर्गर की, जो बुर्जुआ वर्ग में अभी-अभी विकसित हो रहा था, आदर्शीकृत समझ के अलावा और कुछ भी नहीं थी। परन्तु जब फ्रांसीसी क्रान्ति ने इस तर्कबुद्धिसंगत समाज तथा इस तर्कबुद्धिसंगत राज्य को मूर्त रूप दिया, तो नयी संस्थायें पूर्ववर्ती संस्थाओं की तुलना में अपनी सारी तर्कबुद्धिसंगतता के बावजूद पूर्ण तर्कबुद्धिसंगत कदापि नहीं सिद्ध हुईं। तर्कबुद्धिसंगत राज्य पूरी तरह ढह गया। रूसो की सामाजिक संविदा ने आतंक के शासन के दौरान मूर्त रूप प्राप्त कर लिया, जिससे घबराकर अपनी राजनीतिक क्षमता में विश्वास खो बैठे बुर्जुआ वर्ग ने पहले डायरेक्टरेट की भ्रष्टता की शरण ली और फिर नेपोलियनी निरंकुशता की छत्र-छाया में पहुँच गया। जिस शाश्वत शान्ति का वचन दिया गया था, वह अन्तहीन कब्ज़ाकारी युद्धों में बदल गयी। तर्कबुद्धि पर आधारित समाज का हाल इससे बेहतर नहीं रहा। अमीर तथा ग़रीब के बीच अन्तरविरोध आम समृद्धि में विलय होने के बजाय शिल्पसंघों के तथा अन्य विशेषाधिकारों के, जिन्होंने इन अन्तरविरोधों पर मानो सेतुबन्ध का काम कर दिया था, हटाये जाने से तथा चर्च की दानशील संस्थाओं के ख़त्म किये जाने से और भी तीक्ष्ण हो गये। (सामन्ती बेड़ियों से ''सम्पत्ति की स्वतन्त्रता'' जो अब वस्तुतः सम्पन्न हो चुकी थी, छोटे बुर्जुआ तथा किसान के लिए, जिन्हें बड़ी पूँजी तथा बड़े भू-स्वामित्व की ओर से प्रचण्ड प्रतियोगिता ने कुचल दिया था, ठीक इन्हीं महाप्रभुओं को अपनी छोटी सम्पत्ति बेचने की स्वतन्त्रता सिद्ध हुई; यह ''स्वतन्त्रता'' इस प्रकार छोटे बुर्जुआ और किसान के लिए सम्पत्ति से स्वतन्त्रता में बदल गयी)। पूँजीवादी आधार पर उद्योग के तीव्र विकास ने मेहनतकश जनसाधारण की ग़रीबी और कष्टों को समाज के अस्तित्व की आवश्यक शर्त बना दिया। (नक़द भुगतान, कार्लाइल के शब्दों में अधिकाधिक मात्रा में इस समाज का एकमात्र सम्बन्ध-सूत्र बनता चला गया।) अपराधों की संख्या वर्ष प्रति वर्ष बढ़ती चली गयी। पहले सामन्ती दुराचार दिन-दहाड़े होता था; अब वह एकदम समाप्त तो नहीं हो गया था, पर कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर चला गया था। उसके स्थान पर बुर्जुआ अनाचार, जो इसके पहले पर्दे के पीछे हुआ करता था, अब प्रचुर रूप में बढ़ने लगा था। व्यापार अधिकाधिक धोखाधड़ी बनता चला गया। क्रान्तिकारी आदर्श-सूत्र के ''बन्धुत्व'' ने होड़ के संघर्ष की ठगी तथा प्रतिस्पर्धा में मूर्त रूप प्राप्त किया। बल द्वारा उत्पीड़न का स्थान भ्रष्टाचार ने ले लिया। सामाजिक सत्ता का उत्तोलक तलवार के स्थान पर सोना बन गया। नववधुओं के साथ पहली रात सोने का अधिकार सामन्ती प्रभुओं से पूँजीवादी कारख़ानेदारों के पास पहुँच गया। वेश्यावृत्ति में इतनी अधिक वृद्धि हो गयी, जो पहले कभी सुनी तक नहीं गयी थी। स्वयं विवाह-प्रथा पहले की तरह अब भी वेश्यावृत्ति का क़ानूनी मान्यताप्राप्त रूप तथा उसकी सरकारी आड़ बनी हुई थी, और इसके अलावा व्यापक परस्त्रीगमन उसके अनुपूरक का काम कर रहा था। संक्षेप में,

दार्शनिकों ने जो सुन्दर वचन दिये थे, उनकी तुलना में ''तर्कबुद्धि की विजय'' से उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें घोर निराशाजनक व्यंग्यचित्र प्रतीत होती थीं।''

जब क्रान्तिकारी बुर्जुआ वर्ग द्वारा सम्पन्न बुर्जुआ क्रान्तियों के बाद अस्तित्व में आये समाज की ये दशा हुई तो इसमें आश्चर्य की बात नहीं कि भारत जैसे उत्तर-औपनिवेशिक देशों में जो बुर्जुआ जनवाद अस्तित्व में आया वह निहायत ही अधूरा और विकृत है। भारत में तो बुर्जुआ वर्ग ने औपनिवेशिक सत्ता के ख़िलाफ़ जुझारू संघर्षों की बजाय समझौता-दबाव-समझौता की रणनीति से सत्ता हासिल की, परन्तु जिन उत्तर-औपनिवेशिक देशों में बुजुआ वर्ग क्रान्तिकारी संघर्षों के ज़रिये सत्तासीन हुआ वहाँ की जनता को भी पश्चिमी देशों जितने जनवादी अधिकार नहीं मिले। अगले अंक में हम देखेंगे किस प्रकार प्रबोधनकालीन आदर्शों को यदि किसी राज्य ने वास्तव में अमल किया तो वे रूसी क्रान्ति और चीनी क्रान्ति के बाद अस्तित्व में आयी समाजवादी सत्तायें थी जिन्होंने मानव सभ्यता के इतिहास में एक लम्बी छलाँग लगाते हुए यह सिद्ध किया कि एक समाजवादी समाज में ही स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के नारे को अमली जामा पहनाया जा सकता है।

*

पीछे हमने देखा कि स्वतंत्रता, समानता और भ्रातृत्व के जिन उदात्त प्रबोधनकालीन आदर्शों के नाम पर यूरोपीय और अमेरिकी बुर्जुआ वर्ग ने वहाँ की मेहनतकश जनता को सामन्तवाद के खिलाफ विद्रोह के लिए प्रेरित किया था, सत्ता में आने के बाद इस शोषक वर्ग ने किस प्रकार उन आदर्शों के परचम को धूल में फेंक दिया। अब हम देखेंगे कि किस प्रकार जिन उदात्त आदर्शों से बुर्जुआ वर्ग ने कन्नी काट ली थी, उन्हें वास्तव में पूरा करने की ज़िम्मेदारी सर्वहारा वर्ग ने अपने कन्धों पर उठा ली और 1917 में रूस में सम्पन्न हुई महान अक्टूबर क्रान्ति के बाद मानव सभ्यता के इतिहास में पहली बार इन आदर्शों को पूरा करने के लिए ठोस सार्थक प्रयास किये गये।

यूरोप में पूँजीवाद के विकास के साथ ही सर्वहारा वर्ग एक वर्ग के रूप में सुदृढ़ होता गया और उसमें यह चेतना विकसित होती गई कि अपने अधिकारों के लिए उन्हें एकजुट होकर संघर्ष करना होगा और जनान्दोलन संगठित करने होंगे। उन्नीसवीं सदी के मध्य तक यह चेतना एक क्रान्तिकारी और वैज्ञानिक चेतना में तब्दील हो चुकी थी जब मार्क्स और एंगेल्स ने वैज्ञानिक समाजवाद का सिद्धान्त प्रस्तुत किया जिसके अनुसार सर्वहारा की मुक्ति तभी सम्भव है जब वह जनक्रान्ति के माध्यम से राज्यसत्ता पर कब्ज़ा करे और सर्वहारा की तानाशाही के रास्ते से होते हुए एक वर्गविहीन कम्युनिस्ट समाज की ओर बढ़े। मार्क्स एवं एंगेल्स के जीवनकाल में हालाँकि पेरिस के मज़दूरों ने अटूट पराक्रम और शौर्य का परिचय देते हुए 1871 में बुर्जुआ वर्ग को क़रारी शिकस्त देते हुए सत्ता पर कब्ज़ा किया, परन्तु पेरिस कम्यून का यह अभूतपूर्व प्रयोग मात्र 72 दिन ही चल सका और बुर्जुआ वर्ग एक बार फिर सत्ता पर काबिज़ हो गया। मज़दूर वर्ग की मुक्ति के संघर्ष में अगला मील का पत्थर 1917 की महान रूसी क्रान्ति साबित हुई जो बोल्शेविक पार्टी के नेतृत्व में सम्पन्न हुई थी। इस क्रान्ति ने यह साबित कर दिया कि यह मज़दूर वर्ग न सिर्फ़ सत्ता चलाने में सक्षम है बल्कि उसके शासन में उत्पादन के साधनों के सामूहिक स्वामित्व के ज़रिये ही वास्तव में स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के प्रबोधनकालीन आदर्शों को ज़मीनी हक़ीकत बनाया जा सकता है।

अक्टूबर क्रान्ति के कुछ ही दिनों के भीतर नवनिर्मित सोवियत सरकार ने रूस की जनता की बुनियादी माँगों को पूरा करने के मद्देनज़र कुछ अहम आज्ञप्तियाँ जारी कीं। क्रान्ति के अगले ही दिन यानी 26 अक्टूबर (नये कैलेण्डर के अनुसार 8 नवंबर) सोवियतों की दूसरी अखिल रूसी कांग्रेस ने ऐतिहासिक महत्व की शान्ति आज्ञप्ति अंगीकार की जिसमें सोवियत सरकार ने प्रथम विश्वयुद्ध में शामिल सभी देशों और उनकी सरकारों के सामने प्रस्ताव रखा कि न्यायसंगत और जनवादी शान्ति के लिए तुरन्त वार्तायें आरम्भ की जायें। उसी दिन कांग्रेस ने भूमि आज्ञप्ति भी जारी की, जिसके अनुसार सभी जमींदारों, मठों और गिरजों की भूमि और उससे संलग्न चल व अचल सम्पत्ति को बिना मुआवजा ज़ब्त कर लिया गया। किसानों को 15 करोड़ हेक्टेयर भूमि मुफ़्त में आवंटित की। अपनी स्थापना के चौथे दिन सोवियत सरकार ने एक आज्ञप्ति जारी करके 8 घण्टे का कार्य-दिवस निर्धारित कर दिया (जिसको कुछ वर्षों बाद 7 घण्टे कर दिया गया)। इसके बाद मज़दूरों और कर्मचारियों के लिए निःशुल्क राज्य बेरोज़गारी तथा स्वास्थ्य बीमा प्रणाली भी लागू की गयी।

जुलाई 1918 में सोवियतों की पांचवीं अखिल रूसी कांग्रेस ने पहला सोवियत संविधान अंगीकार किया, जिसका मसविदा लेनिन और अखिल रूसी केन्द्रीय कार्यकारिणी के अध्यक्ष स्वेर्दलोव के निदेशन में तैयार किया गया था। इस संविधान ने समाजवादी क्रान्ति के पहले आठ महीनों की ऐतिहासिक उपलब्धियों को विधिक रूप दिया, जैसे सोवियत राज्य की स्थापना, संघात्मक राज्य प्रणाली का अंगीकरण, जनवादी स्वतन्त्रतायें और इन स्वतन्त्रताओं को व्यवहार में चरितार्थ करने के लिए आवश्यक परिस्थितियाँ। उसमें कहा गया था कि श्रम करना गणराज्य के सभी नागरिकों का दायित्व है और ‘‘जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं’’। जाति, नस्ल, लिंग, शिक्षास्तर और धार्मिक विश्वासों का लिहाज़ किये बिना सभी वयस्क नागरिकों को सोवियतों के सदस्य चुनने और स्वयं भी चुने जाने का अधिकार दिया गया। यदि कोई प्रतिनिधि मतदाताओं के विश्वास को झुठला दे, तो मतदाताओं को उसे वापस बुलाने, यानी उसका प्रतिनिधि का अधिकार छीन लेने का हक़ था। शोषकों और शत्रु तत्वों को, जिनकी संख्या लगभग नगण्य थी, संविधान ने मताधिकार से वंचित कर दिया। इस प्रकार समाजवादी सत्ता ने इस बात पर कोई पर्दा नहीं डाला की यह सर्वहारा वर्ग की पूँजीपति वर्ग पर तानाशाही थी। देश की बहुसंख्यक आम मेहनतकश जनता के लिए यह अधिकतम संभव जनवाद था।

राष्ट्रीयताओं के मसले पर भी सोवियत सरकार ने मानव सभ्यता के इतिहास में पहली बार उत्पीड़न रहित संघ बनाने की दिशा में ठोस क़दम उठाये। ज़ारशाही के दौर में समूचे रूसी साम्राज्य को राष्ट्रीयताओं का जेलखाना कहा जाता था। नये कैलेंडर के अनुसार 15 नवंबर 1917 को सोवियत सरकार ने ‘‘रूस की जनता के अधिकारों का घोषणापत्र’’ प्रकाशित किया, जिसमें जातीय उत्पीड़न का अन्त, रूस की सभी जातियों की समानता, सर्वमत्ता, अलग होने के अधिकार समेत आत्मनिर्णय के अधिकार, स्थापित करने का अधिकार भी शामिल था, और सभी जातीय व धार्मिक विशेषाधिकारों व प्रतिबंधों के उन्मूलन की उद्घोषणा की गयी थी। इस घोषणापत्र पर अमल करते हुए दिसंबर 1917 में सोवियत सरकार ने फिनलैण्ड की स्वतन्त्रता को मान्यता दे दी, जो अब तक रूस का हिस्सा था। इसी तरह उक्रइना की स्वाधीनता, आर्मीनियों के आत्मनिर्णय के अधिकार, आदि को भी मान्यता दी गयी। इसके फलस्वरूप उक्रइनी, बेलोरूसी, एस्तोनियाई, लातवियाई, लिथुआनियाई, आज़रबैजानी, आरमीनियाई और जार्जियाई जनों ने अपने को स्वतन्त्र सोवियत गणराज्य घोषित किया जिन्हें रूसी सोवियत सरकार ने तुरन्त मान्यता प्रदान की।

जनवरी, 1918 में रूसी गणराज्य ने अपने आप को संघात्मक गणराज्य घोषित कर दिया, जिसके अस्तित्व के आरम्भिक वर्षों में उसके अन्तर्गत अनेक स्वायत्त गणराज्य और प्रदेश पैदा हुए, जैसे तातार, बश्कीर, तुर्कीस्तान आदि।

गृहयुद्ध के बाद कतिपय पार्टी और सरकारी कार्यकर्ताओं का सुझाव था कि सभी स्वतन्त्र सोवियत गणराज्यों को स्वायत्त गणराज्यों का दर्ज़ा देकर रूसी संघ में शामिल कर लिया जाना चाहिए। परन्तु लेनिन ने इस सुझाव की आलोचना करते हुए पूर्ण समानता पर आधारित नया संघ राज्य बनाने की अपील की। उसमें शामिल होनेवाले गणराज्यों को अपने कुछ संप्रभु अधिकार, जैसे विदेशी मामलों, राष्ट्रीय सुरक्षा, वित्त और राष्ट्रीय आर्थिक आयोजना के क्षेत्रों में, संघ राज्य को हस्तांतरित कर देने थे। शिक्षा, स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, घरेलू मामलों आदि के क्षेत्रों में उनकी पूर्ण और समान संप्रभुता बनी रहनी थी। संपूर्ण संघ को संबन्धित कार्यों का संचालन अखिल संघीय विधायी तथा कार्यकारी निकायों द्वारा किया जाना था। संघ का सदस्य बननेवाले हर गणराज्य का अलग होने का अधिकार यथावत बना रहना था। लेनिन के प्रस्ताव का सभी राष्ट्रीयताओं के मेहनतकशों ने सोत्साह स्वागत किया। कई महीने तक सोवियतों की कांग्रेसों, पार्टी कांग्रेसों और मेहनतकशों की सभाओं में इस प्रश्न पर बहस चलती रही। अंततः एक विशेष आयोग ने, जिसमें सभी जनतंत्रों के प्रतिनिधि थे, सभी सोवियत जनतंत्रों के एक संघ – सोवियत समाजवादी जनतंत्र संघ – में सहबद्ध होने से सम्बन्धित घोषणापत्र तथा संधि के मसविदे तैयार किये। 30 दिसंबर 1922 को मास्को में सोवियतों की एक कांग्रेस ने सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ के निर्माण का ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया और सम्बन्धित घोषणापत्र व सन्धि की सम्पुष्टि की। इन्हीं दस्तावेज़ों के आधार पर आगे चलकर विशेष आयोग ने सोवियत संघ का संविधान बनाया। सभी गणराज्यों में उस पर ध्यानपूर्वक विचार किया गया और अन्ततः जनवरी 1924 में सोवियत संघ की सोवियतों की दूसरी कांग्रेस में उसे अंगीकार कर लिया गया। जब हम सोवियत संघ में राष्ट्रीयताओं के सम्मिलन की इस बेहद जनवादी प्रक्रिया की तुलना भारतीय राज्य द्वारा स्वतन्त्रता के बाद उत्तर-पूर्व और जम्मू कश्मीर के विलय से करते हैं तो भारतीय संघ के खोखले दावों की कलई खुल जाती है।

सोवियत यूनियन में जनवाद की विकास यात्रा का अगला अहम पड़ाव 1936 में आया जब 5 दिसंबर, 1936 को सोवियत संघ की सोवियतों की आठवीं (असाधारण) कांग्रेस ने नवनिर्मित संविधान को अंगीकार किया। इस नये संविधान ने समाजवाद की विजय और समाजवाद के बुनियादी सिद्धान्तों को विधिक रूप प्रदान किया। इसमें संघीय सर्वोच्च सोवियत से लेकर स्थानीय सोवियतों तक मेहनकश प्रतिनिधियों की विभिन्न सोवियतों को सोवियत संघ का राजनीतिक आधार और समाजवादी अर्थप्रणाली, उत्पादन साधनों के सार्वजनिक स्वामित्व तथा आर्थिक नियोजन को आर्थिक आधार बनाया गया। मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को वर्जित ठहराया गया।

1936 के सोवियत संविधान ने इस सिद्धान्त के अनुसार कि ‘‘जो काम नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं’’ श्रम को प्रत्येक श्रम-सक्षम सोवियत नागरिक के लिए कर्तव्य और प्रतिष्ठा की बात घोषित किया और ‘‘प्रत्येक से योग्यतानुसार, प्रत्येक को कार्यानुसार’’ के समाजवादी सिद्धान्त को बल प्रदान किया। उसमें देश के सभी नागरिकों को श्रम, शिक्षा, विश्राम और वृद्धावस्था, बीमारी तथा अपाहिजावस्था में भरण-पोषण के सर्वोच्च अधिकार प्रदान किये गये थे। सोवियत संघ के सभी नागरिकों की, चाहे वे किसी भी जाति या नस्ल के क्यों न हों, समानता को अपरिवर्तनीय, अमिट कानून करार दिया गया था। सभी नागरिकों को उनके व्यक्तित्व व आवास की अनुल्लंघनीयता,

पत्राचार की गोपनीयता और जनवादी स्वतन्त्रताओं – भाषण, प्रेस, सभा, प्रदर्शन, जुलूस तथा सार्वजनिक संगठनों में सम्मिलन की स्वतन्त्रताओं – की गारंटी दी गयी थी। साथ ही संविधान ने नागरिकों को संविधान, कानूनों तथा श्रम अनुशासन के पालन, सामाजिक दायित्व की निष्ठापूर्वक पूर्ति, समाजवादी समाज के नियमों के सम्मान और समाजवादी सम्पत्ति की रक्षा तथा अभिवृद्धि के लिए उत्तरदायी भी बनाया। इस संविधान में यह भी कहा गया था कि नगर और ग्राम सोवियत से लेकर सर्वोच्च सोवियत तक मेहनकश प्रतिनिधियों की सभी सोवियतों के सदस्यों का चुनाव सार्विक, समान तथा प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर और गुप्त मतदान द्वारा होगा। प्रत्येक सोवियत सदस्य का कर्तव्य था कि वह मतदाताओं को सोवियत में अपने काम की रिपोर्ट दे और मतदाताओं को अधिकार था कि यदि वह उनका विश्वासभाजन नहीं रह जाये, तो किसी भी समय उसको वापस बुला लें। संविधान ने गैर-मेहनतकश नागरिकों के मताधिकार पर लगी सभी पाबंदियों को हटा दिया और नगरी मतदाताओं को ग्रामीण मतदाताओं के मुक़ाबले जो विशेषाधिकार प्राप्त थे, उन्हें भी रद्द कर दिया।

12 दिसंबर, 1937 को सोवियत जनता ने पहली बार नयी निर्वाचन प्रणाली के अनुसार सोवियत संघ की सर्वोच्च सोवियत चुनी। कम्युनिस्टों और निर्दलीय लोगों ने संयुक्त चुनाव मोर्चा बनाया और उम्मीदवार भी संयुक्त रूप से नामजद किये। 97 प्रतिशत मतदाताओं ने मतदान में भाग लिया। कम्युनिस्टों और निर्दलीयों के संयुक्त मोर्चे के उम्मीदवारों को 98.69 प्रतिशत मत मिले। संघीय और स्वायत्त गणतन्त्रों की सर्वोच्च सोवियतों के चुनाव 1938 में और स्थानीय सोवियतों के चुनाव 1936 में हुए।

इस प्रकार सोवियत संघ के संविधान बनने की प्रक्रिया के संक्षिप्त इतिहास से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि एक समाजवादी सरकार ही लोकतन्त्र को उसके असली मायने में लागू कर सकती है। परन्तु समाजवादी देशों में संविधान महज़ शब्दों का मायाजाल नहीं होता, बल्कि सबसे महत्वपूर्ण बात होती है आदर्शों को वास्तव में हकीकत में बदलना। यदि हम क्रान्ति के बाद के कुछ दशकों में सोवियत संघ में आये हुए आर्थिक बदलावों पर एक नज़र दौड़ायें तो यह साफ़ हो जाता है कि समाजवादी क्रान्ति किस प्रकार किसी समाज का कायाकल्प कर देती है। एक बेहद छोटे कालखण्ड में सोवियत समाज ने प्रगति की ओर ऐसी अभूतपूर्व छलांग लगायी कि देखते ही देखते वह एक पिछड़े देश से एक विकसित औद्योगिक शक्ति बन गया। 1937 तक सोवियत संघ यूरोप की पहली और विश्व की दूसरी – संयुक्त राज्य अमेरिका के बाद – सबसे बड़ी औद्योगिक शक्ति बन गया। 1940 तक आते-आते बड़े उद्योगों का सकल उत्पादन 1913 की अपेक्षा 13 गुना हो गया। एक कृषि प्रधान देश में देखते ही देखते उद्योग ने कुल राष्ट्रीय उत्पादन में प्रभुत्वशाली स्थिति प्राप्त कर ली। मशीन निर्माण उद्योग का उत्पादन 1940 में 1913 की अपेक्षा 35 गुना ज़्यादा था। इस उद्योग की विस्मयकारी प्रगति की बदौलत अर्थव्यवस्था की सभी शाखाओं का तकनीकी दृष्टि से आधुनिकीकरण किया जा सकता था। एक शक्तिशाली ऊर्जा का आधार भी बनाया जा चुका था। 1913 के मुक़ाबले 1940 में बिजली उत्पादन में 24 गुना बढ़ोत्तरी हो चुकी थी। तीव्र औद्योगिक विकास के साथ ही साथ इस बात का भी विशेष ध्यान रखा गया कि पूँजीवादी विकास की तरह औद्योगिकीकरण क्षेत्रीय असन्तुलन न पैदा कर दें। क्रान्तिपूर्व रूस में धातुकर्म उद्योग का एक ही केन्द्र था – उक्रेन। आरंभिक पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत एक और विशाल धातुकर्म केन्द्र पूर्व में स्थापित किया गया। क्रान्ति से पहले कोयले का केवल एक ही क्षेत्र था – दोनेत्स क्षेत्र। चौथे दशक के अन्त तक दोनेत्स, कुज़्नेत्स्क, क़रागंदा और मास्को क्षेत्र के कोयला

क्षेत्रों समेत आठ स्रोत देश को कोयला सप्लाई करने लगे थे। वोल्गा और उराल के बीच एक नया तेल उत्पादन केन्द्र विकसित किया गया जो ‘दूसरा बाकू’ कहलाने लगा। देश के पूर्वी भागों में ऊर्जा, मशीन-निर्माण तथा अन्य उद्योगों के महत्वपूर्ण केन्द्र बनाये गये। मध्य रूस से पूरे कल-कारखानों, छापाखानों आदि को मध्य एशिया और पार-काकेशिया के इलाकों में स्थानान्तरित किया गया। तीसरे दशक के उत्तरार्ध में उज़्बेकिस्तान, कज़ाखस्तान और अन्य जनतन्त्रों में विराट पैमाने पर औद्योगिक प्रतिष्ठानों का निर्माण शुरू किया गया।

सुविकसित औद्योगिक आधार ने सोवियत संघ को तकनीकी और आर्थिक दृष्टि से पूर्णतः आत्मनिर्भर बना दिया था। रेल इंजनों, मोटरगाड़ियों, ट्रैक्टरों, कृषि मशीनों, धमन भट्ठी उपकरणों, टर्बाइनों, बिजली भट्ठियो, मापन यन्त्रों आदि का आयात पहली पंचवर्षीय योजना के अंत तक आते आते बन्द कर दिया गया था। 1936 में सोवियत संघ के सभी बिजलीघरों में स्वदेशी टर्बाइनें ही लगी थीं। वह ट्रैक्टरों , कृषि मशीनों, मोटरगाड़ियों, सिलाई मशीनों और बहुत से दूसरे मालों का निर्यात भी करने लगा था।

कृषि क्षेत्र में भी सामूहिकीकरण की वजह से ट्रैक्टर, हारवेस्टर कंबाइन व अन्य आधुनिक कृषि मशीनों का इस्तेमाल करना संभव हो चुका था जिसकी वजह से कृषि की उत्पादकता में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। दूसरी पंचवर्षीय योजना पूरी होते-होते सोवियत संघ बड़े पैमाने की कृषि वाला देश बन चुका था।

समाजवाद की वजह से सोवियत संघ की मेहनतकश जनता के जीवन-स्तर में बहुत ही कम समय में गुणात्मक बदलाव दिखने को आया। क्रान्ति के चौथे ही रोज़ आठ घंटे के काम के दिन, 18 वर्ष से कम आयु के युवाओं के लिए छह घण्टे काम के दिन, सवेतन वार्षिक अवकाश और राज्य अथवा मालिक के ख़र्च पर बीमारी और बेरोज़गारी भत्ते की व्यवस्था कर दी गई। 16 वर्ष से कम आयु के किशोरों से मज़दूरी करवाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया और पुरुषों तथा नारियों को समान पारिश्रमिक देने का कानून बनाया गया। क्रान्ति से पहले जो लाखों मज़दूर परिवार झुग्गी-झोपड़ियों, तहखानों, चालों आदि में रहते थे, उन्हें बुर्जुआ लोगों से छीने गये सुविधासम्पन्न घरों में बसाया गया। सोवियत सरकार ने चिकित्सालयों, औषधालयों, सेहतगाहों, आदि का राष्ट्रीयकरण करके समस्त जनता के लिए निःशुल्क, समुचित चिकित्सा की व्यवस्था की। 1931 तक सोवियत संघ से बेराज़गारी का ख़ात्मा हो चुका था, यानी हर हाथ को काम मिल चुका 1940 तक आते-आते सोवियत संघ की राष्ट्रीय आय 1913 की अपेक्षा छह गुना ज़्यादा थी। इस राष्ट्रीय आय की तीन-चौथाई मेहनतकशों को उनके मेहनताने के रूप में दी जाती थी और एक-चौथाई सामाजिक कोष में जाती थी, यानी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के विकास, सांस्कृतिक आवश्यकताओं, सार्वजनिक स्वास्थ्य सेवा, सामाजिक बीमा, आवास निर्माण, प्रतिरक्षा आदि पर ख़र्च की जाती थी। शिक्षा के क्षेत्र में भी सोवियत संघ में बहुत ही कम समय में ज़बर्दस्त बदलाव आया। गृहयुद्ध के कठिनाइयों से भरपूर वर्षों में ही सारे देश में अनगिनत साक्षरता केन्द्र चालू कर दिये गये थे। उनमें पढ़ने वालों को काम के दो घंटा सवेतन छुट्टी दी जाती थी। चौथे दशक के अन्त तक देश में निरक्षरता का लगभग पूर्ण उन्मूलन हो चुका था। विज्ञान के क्षेत्र में भी समाजवादी क्रान्ति ने विकास की व्यापक संभावनायें प्रस्तुत कीं। सारे सोवियत संघ में जल्द ही वैज्ञानिक शोध संस्थानों का विस्तृत जाल बिछ गया।

समाजवादी क्रान्ति की वजह से सोवियत संघ की महिलाओं की स्थिति में जबर्दस्त सुधार आया। सोवियत संघ उन पहले देशों में एक था जिसने महिलाओं को मतदान का अधिकार दिया। सोवियत सरकार ने ऐसी नीतियाँ बनायी जिससे महिलायें अपने घर की चारदिवारी को लाँघकर सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में बढ़चढ़ कर हिसा लेने लगीं। बड़े पैमाने पर शिशुगृहों, सार्वजनिक भोजनालयों आदि बनाये गये ताकि महिलाएँ नीरस घरेलू कामों से छुटकारा पाकर सामाजिक उत्पादन से जुड़ सकें। सोवियत राज्य ने मातृ-शिशु कल्याण पर विशेष ध्यान देते हुए सारे देश में प्रसूतिगृहों और प्रसव सहायता केन्द्रों का व्यापक जाल बिछाया गया जिनकी सेवायें भावी माताओं को निःशुल्क उपलब्ध थी। सभी मेहनतकश नारियों को प्रसवकाल के दौरान चार महीने का सवेतन अवकाश दिया जाता था। इसके अतिरिक्त शिशुगृहों और किंडरगार्टनों का व्यापक जाल भी बिछाया गया था जिसकी वजह से सोवियत महिलाओं की मुक्ति की दिशा में लम्बी छलांग लग पायी।

*

सोवियत संघ में वास्तविक जनवाद क़ायम होने का सबसे बड़ा उदाहरण सोवियतें थीं जो गाँव के स्तर की प्रतिनिधिमूलक संस्थायें थीं। सोवियतें किस प्रकार काम करती थीं इसकी एक झलक हमें रूसी क्रान्ति के चश्मदीद गवाह अमेरिकी पत्रकार अल्बर्ट रीस विलियम्स की पुस्तक 'अक्टूबर क्रान्ति और लेनिन' में मिलती हैं। इस पुस्तक में विलियम्स लिखते हैं, "सोवियतें जनता के दैनिक अनुभवों का अंग बन गयी थीं। इनके द्वारा उन्होंने अपनी हार्दिक आकांक्षायें पूरी की थीं। इन सोवियतों को चुनने वाले लोग मेहनतकश और शोषित जनसाधारण थे। बुर्जुआ वर्ग को वर्जित किया गया था। चुनाव की सारी नौकरशाही औपचारिकतायें ख़त्म कर दी गई थीं। जनसाधारण ख़ुद चुनाव की व्यवस्था और तारीख निर्धारित करते थे। उन्हें किसी भी चुने हुए व्यक्ति को कभी भी वापस बुलाने का पूरा अधिकार और पूरी आज़ादी थी।"

सोवियतों के बारे में लेनिन ने लिखा है, "इन सोवियतों के हाथ में केवल क़ानून बनाने और उन्हें लागू करने के अधिकार ही नहीं थे, बल्कि सोवियतों के सभी सदस्यों के मार्फ़त क़ानूनों को प्रत्यक्ष रूप से लागू करने के अधिकार भी थे। ताकि धीरे-धीरे समूची आबादी विधायी प्रकार्य और राजनीतिक प्रशासन के संचालन में पदार्पण कर सके।"

प्रबोधनकालीन आदर्शों स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के वास्तव में अमल में आने का दूसरा सबसे बड़ा उदाहरण चीन में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सम्पन्न हुई 1949 की नवजनवादी क्रान्ति के बाद देखने को मिला। क्रान्ति पूर्व चीन एक बेहद पिछड़ा हुआ अर्द्ध-सामन्ती और अर्द्ध-औपनिवेशिक देश था जहाँ की बहुसंख्यक किसान आबादी ग़रीबी, कंगाली, भुखमरी और कुपोषण से त्रस्त थी। हर साल लगभग 40 लाख लोग बीमारी और दवा के अभाव में दम तोड़ देते थे। वहाँ की 6 करोड़ आबादी अफ़ीम की लत का शिकार थी। वहाँ महिलाओं को दोयम दर्ज़े का नागरिक समझा जाता था, आज के भारत की तरह वहाँ भी कन्या भ्रूण हत्या आम बात थी, वहाँ भी विवाह तय करने में मुख्य भूमिका माता-पिता और रिश्तेदारों की होती थी और युवाओं को अपना जीवनसाथी चुनने का कोई अधिकार नहीं था। इसके अतिरिक्त वहाँ एक बर्बर प्रथा यह थी कि छोटी बच्चियों के पैरों को 2-5 वर्ष की आयु से ही एक ख़ास क़िस्म के छोटे से जूते से नत्थी कर दिया जाता था ताकि उनके पैर न बढ़ सकें और सुडौल और सुन्दर दिखें। ऐसे पिछड़े और बर्बर संस्कृति वाले देश में क्रान्ति ने जो किया वह किसी चमत्कार से कम नहीं था।

क्रान्ति के बाद चीन में योजनाबद्ध विकास की शुरुआत हुई जिसमें गाँवों एवं शहरों के अन्तर, कृषि एवं उद्योग के अन्तर तथा शारीरिक श्रम एवं मानसिक श्रम के अन्तर को ख़त्म करने पर सचेतन रूप से बल दिया गया। इस योजनाबद्ध विकास का नतीजा यह हुआ कि जहाँ भारत जैसे देश आज तक खाद्य समस्या और कुपोषण जैसी समस्याओं से जूझ रहे हैं वहीं चीन 1970 के दशक तक आते-आते इन समस्याओं से पूरी तरह मुक्त हो चुका था, उसकी वार्षिक औद्योगिक विकास दर औसतन दस फ़ीसदी से ऊपर और कृषि में विकास दर 3 फ़ीसदी से ऊपर थी, जीवन प्रत्याशा जो 1949 में 32 वर्ष थी वह 1976 में 65 वर्ष हो चुकी थी, शिशु मृत्यु दर में ज़बर्दस्त गिरावट देखने को आयी थी जिसका अन्दाज़ा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि 1970 के दशक की शुरुआत में शंघाई की शिशु मृत्यु दर न्यूयार्क सिटी से भी कम थी। स्वास्थ्य की समस्या को हल करने के लिए महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान स्वास्थ्य विश्वप्रसिद्ध 'बेयरफूट डाक्टर्स' अभियान चलाया गया जिसमें लाखों युवा किसानों और शहरी युवाओं को प्रारम्भिक चिकित्सा की तकनीकों का प्रशिक्षण देकर देश भर के गाँवों और कस्बों में भेजा गया। जहाँ अमेरिका जैसे विकसित देशों में सार्वभौमिक स्वास्थ्य व्यवस्था आज तक नहीं उपलब्ध हो पायी है वहीं चीन ने यह क्रान्ति के दो दशक बाद समाज के हर सदस्य को बेहद सस्ती दर पर चिकित्सा सेवा उपलब्ध कराकर समूचे विश्व को चकित कर दिया था।

क्रान्ति के बाद चीन में महिलाओं की स्थिति में गुणात्मक बदलाव आया। जहाँ क्रान्ति के पहले वे चहारदीवारियों में क़ैद रहती थीं, वहीं क्रान्ति के बाद बड़े पैमाने पर सामुदायिक भोजनालयों, सामुदायिक लॉण्ड्री, शिशु घरों आदि को बढ़ावा देने से महिलाएँ सामाजिक उत्पादन में बढ़चढ़ कर हिस्सा लेने लगीं। क्रान्ति के कुछ ही महीनों के भीतर विवाह क़ानून 1950 बनाया गया जिसमें लड़के और लड़कियों की मर्ज़ी से शादी, तलाक़ का अधिकार, बच्चों के बेचने और भ्रूण हत्या पर पाबन्दी लगा दी गई थी। पूँजीवादी देशों की तरह ये महज़ कागज़ पर दिखने वाले क़ानूनी प्रावधान नहीं थे बल्कि इनको वास्तव में अमल में लाया गया था जिसकी वजह से चीन के ज्ञात इतिहास में पहली बार सामाजिक और राजनीतिक जीवन में महिलाओं को वास्तव में पुरुषों से बराबरी का दर्ज़ा मिल सका।

1949 की क्रान्ति के तुरन्त बाद चीन में "ज़मीन जोतने वाले को" के नारे के आधार पर क्रान्तिकारी भूमि सुधार हुए जो किसी भी उत्तर-औपनिवेशिक देश की तुलना में सबसे जल्दी और सबसे प्रभावी तरीक़े से सम्पन्न हुए। ग़ौरतलब है कि हालाँकि 1949 की चीनी क्रान्ति वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में सम्पन्न हुई थी, फ़िर भी वह एक समाजवादी क्रान्ति नहीं बल्कि एक नवजनवादी क्रान्ति थी क्योंकि 1949 तक चीनी समाज में प्रभावी उत्पादन सम्बन्ध अर्द्ध-सामन्ती और अर्द्ध-औपनिवेशिक था जिसकी वजह से वहाँ मुख्य अन्तर्विरोध सामन्तवाद और उपनिवेशवाद से था। यही वजह थी कि क्रान्ति के बाद 1954 में जब चीन का पहला संविधान बना तो उसमें चीनी राज्य को सर्वहारा की तानाशाही वाला समाजवादी राज्य नहीं बल्कि सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित जनता का लोकतान्त्रिक राज्य घोषित किया गया। इस संविधान में सारी सत्ता जनता को देने की घोषणा थी और राज्य के कामकाज केन्द्रीय स्तर पर राष्ट्रीय जन-कांग्रेस और विभिन्न स्तरों पर स्थानीय जन-कांग्रेसों के ज़रिये चलाने की बात कही गई थी। इसमें चीन की सभी राष्ट्रीयताओं को समानता का अधिकार और भेदभाव एवं उत्पीड़न से आज़ादी की भी बात कही गई थी। शोषण की व्यवस्था को ख़त्म कर क्रमशः समाजवादी समाज की ओर बढ़ने की भी बात कही गई थी। इसमें समूची जनता के स्वामित्व वाले सार्वजनिक

उपक्रमों और राज्य फार्मों के अतिरिक्त स्वामित्व के अन्य रूपों जैसे कि सामूहिक खेती, सहकारी खेती और यहाँ तक कि निजी खेती और निजी उद्योगों के भी अधिकार दिये गये थे। परन्तु 1954 के संविधान बनने के कुछ ही वर्षों के भीतर ही चीन में समाजवादी निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो चुकी थी। 1958 में 'महान अग्रवर्ती छलांग' आन्दोलन के साथ ही जब समाजवादी संक्रमण ने आगे डग भरे तो जन-कम्यूनों का निर्माण पूरे चीन में एक व्यापक मुहिम के रूप में शुरू हुआ और जल्दी ही चीन की 50 करोड़ किसान आबादी 26,000 कम्यूनों में संगठित हो गई। पेरिस कम्यून के अमर नायक सर्वहारा जनवाद का जो मॉडल पेश करना चाहते थे, चीन के जन-कम्यूनों ने उन्हें साकार कर दिखाया। इन कम्यूनों ने तृण मूल स्तर पर जनवाद को लागू किया। कम्यून को अपने क्षेत्र के आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक फैसलों को लेने की पूरी आज़ादी थी। सस्ते, स्थानीय विधायी एवं कार्यकारी संस्था का यह जनवादी ढाँचा व्यापक जनता की पहलक़दमी व सर्जनात्मकता को जागृत करने के साथ ही सर्वहारा वर्ग की केन्द्रीय सत्ता के व्यापक आधार का कार्य भी करता था। आगे चलकर महान सर्वहारा सांस्कृतिक क्रान्ति के दौरान कम्यूनों और सोवियतों के प्रयोग को ही विस्तार देते हुए क्रान्तिकारी कमेटियों का गठन किया गया। इनके पीछे माओ का तर्क था कि पूँजीवादी पुर्नस्थापना को रोकने के लिए शासन और निर्णय की प्रक्रिया में जनता की प्रत्यक्ष भागीदारी ज़्यादा से ज़्यादा क़ायम करके सर्वहारा राज्य के आधारों को विस्तारित करना आवश्यक है। चीनी समाज में आये इन आमूलचूल बदलावों के मद्देनज़र 1954 का संविधान अप्रासंगिक हो चला था। अतः 1975 में एक नया संविधान बनाया गया जिसमें स्पष्ट रूप से घोषित किया गया कि चीन सर्वहारा वर्ग के नेतृत्व और मज़दूर-किसान संश्रय पर आधारित सर्वहारा की तानाशाही वाला एक समाजवादी राज्य है। इस संविधान में निजी सम्पत्ति के समूल नाश और जन-कम्यूनों और क्रान्तिकारी कमेटियों को वैधता देते हुए प्रावधान भी मौजूद थे।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि माओ की मृत्यु के बाद सत्तासीन हुई नयी पूँजीवादी सत्ता ने पहला काम यह किया कि क्रान्तिकारी कमेटियों को गैरक़ानूनी क़रार दे दिया। इसके कुछ ही वर्षों बाद गाँवों और कारखानों से जन-कम्यूनों को भंग करने की भी शुरुआत हो गई। ऐसा नये शासकों के लिए ज़रूरी था क्योंकि जन प्रतिनिधित्व की सर्वहारा संस्थाओं को भंग किये बिना वे निजीकरण और उदारीकरण की नीतियों को लागू कर ही नहीं सकते थे।

पेरिस कम्यून, सोवियतें, चीन के जन-कम्यून और क्रान्तिकारी कमेटियों के प्रयोगों ने यह साफ दिखाया कि स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के जिन आदर्शों से पूँजीपति वर्ग मुँह मोड़ चुका है उन्हें वास्तव में अमल में लाने की क्षमता केवल सर्वहारा वर्ग में ही है। इन प्रयोंगों ने यह भी साबित किया कि महँगी, भ्रष्ट, धोखाधड़ी से भरपूर पूँजीवादी संसदीय प्रणाली का विकल्प महज़ किताबी बात नहीं है, बल्कि सर्वहारा क्रान्तियों के गुजरे हुए प्रारम्भिक चक्र के दौरान ही मेहनतकश जनता इन्हें धरती पर साकार भी कर चुकी है।

भारतीय पूँजीवादी लोकतन्त्र के छलावे का विकल्प भी हमें सर्वहारा जनवाद की ऐसी ही संस्थायें दे सकती हैं जिन्हें हम लोकस्वराज्य पंचायतों का नाम दे सकते हैं। ज़ाहिर है ऐसी पंचायतें अपनी असली प्रभाविता के साथ तभी सक्रिय हो सकती हैं जब समाजवादी जनक्रान्ति के वेगवाही तूफ़ान से मौजूदा पूँजीवादी सत्ता को उखाड़ फेंका जायेगा। परन्तु इसका यह अर्थ हरगिज़ नहीं कि हमें पूँजीवादी जनवाद का विकल्प प्रस्तुत करने के प्रश्न को स्वतः स्फूर्तता पर छोड़ देना चाहिए। हमें इतिहास के अनुभवों के आधार पर आज से ही इस विकल्प की रूपरेखा तैयार करनी होगी और

उसको अमल में लाना होगा। इतना तय है कि यह विकल्प मौजूदा पंचायती राज संस्थाओं में नहीं ढूँढा जाना चाहिए क्योंकि ये पंचायतें तृणमूल स्तर पर जनवाद क़ायम करने की बजाय वास्तव में मौजूदा पूँजीवादी व्यवस्था के सामाजिक आधार को विस्तृत करने का ही काम कर रही हैं और इनमें चुने जाने वाले प्रतिनिधि आम जनता का नहीं बल्कि सम्पत्तिशाली तबकों के ही हितों की नुमाइंदगी करते हैं। ऐसे में हमें वैकल्पिक प्रतिनिधि सभा पंचायतें बनाने के बारे में सोचना होगा जो यह सुनिश्चित करेंगी कि उत्पादन, राजकाज और समाज के ढाँचे पर, हर तरफ़ से, हर स्तर पर उत्पादन करने वालों का नियन्त्रण हो – फ़ैसले लेने और लागू करवाने की पूरी ताक़त उनके हाथों में केन्द्रित हो। यही सच्ची, वास्तविक जनवादी व्यवस्था होगी।

आइये एक ऐसी व्यवस्था और शासनप्रणाली के बारे में सोचें, जहाँ गाँव-गाँव के स्तर पर, कारखानों के स्तर पर और शहरी मुहल्लों के स्तर पर किसान, मज़दूर और आम मध्यवर्गीय जनता अपनी पहल पर खड़ी की गई प्रतिनिधिमूलक पंचायती संस्थाओं में संगठित हो। वे अपने स्तर पर प्रशासकीय और न्यायकारी दायित्व भी सँभालें और ऊपर के स्तर के लिए अपने प्रतिनिधियों का प्रत्यक्षतः चुनाव करते हों जिसमें न तो धन की और न ही नौकरशाही की कोई भूमिका हो। ये पंचायतें गाँवों, मुहल्लों, जिलों और राज्यों से लेकर केन्द्रीय स्तर तक एक पिरामिडीय संरचना में एक दूसरे से सम्बद्ध होंगीं। निर्वाचक मण्डलों का आकार छोटा होगा ताकि ऐसा न हो कि कोई प्रत्याशी धन की कमी की वजह से अपनी बात लोगों तक नहीं पहुँचा सके। इस प्रकार यह सुनिश्चित किया जा सकता है कि हर आम नागरिक को चुनने और चुने जाने का समान अधिकार हो। पर शोषक वर्गों को यह अधिकार तभी मिलने चाहिए जब नयी व्यवस्था के प्रति उनकी वफ़ादारी सिद्ध हो जाये। निर्वाचकों को यह भी पूरा अधिकार हो कि चुने गये प्रतिनिधियों को वे जब चाहें वापस बुला सकते हों। हर स्तर की पंचायत के सदस्यों को अपने स्तर पर फैसले लेने और लागू करने का अधिकार हो, पर उनकी यह स्वायत्तता पूरे मेहनतकश राज्य के सम्पूर्ण हितों के मातहत हो, जिसकी देखभाल की ज़िम्मेदारी केन्द्रीय स्तर की पंचायत की हो। चुने हुए प्रतिनिधियों का वेतन आम मेहनतकशों के बराबर हो और उन्हें कोई भी विशेषाधिकार न प्राप्त हो। प्रशासन और प्रबन्धन का ज़्यादातर काम जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों की कमेटियों द्वारा अंजाम दिये जायें। यह एक ऐसी व्यवस्था होगी जिसमें नीतियाँ बनाने वाले (विधायिका) और उन्हें लागू करने वाले (कार्यपालिका) के बीच अन्तर नहीं होगा। ऊपर से नीचे तक इस पिरामिडीय संरचना में विकेन्द्रीकरण और केन्द्रीकरण दोनों के तत्व मौजूद होंगे। शुरू में वेतनभोगी नौकरशाही की मज़बूरी भी हो तो यह नौकरशाही मज़दूर राज्य के अवयव – अपने स्तर की पंचायत के मातहत हो और धीरे-धीरे नौकरशाही तन्त्र के सम्पूर्ण ख़ात्मे की प्रक्रिया जारी रहे। इस प्रकार के ढाँचे में नीचे से ऊपर तक जननिगरानी की वजह से भ्रष्टाचार की समस्या का भी समाधान सम्भव हो सकेगा।

मौजूदा व्यवस्था के अन्तर्गत व्यापक जनता की पहल पर गठित ऐसी प्रतिनिधि सभाओं को कोई संवैधानिक अधिकार भले ही न हासिल हो, लेकिन क्रान्तिकारी शक्तियों को जनता का आह्वान करना चाहिए कि वह बुर्जुआ संसदीय प्रणाली और फर्जी पंचायती राज्य के सारे छल-छद्म की जवाबी कार्रवाई के तौर पर गाँव-गाँव और औद्योगिक क्षेत्रों में, लोक स्वराज्य पंचायतों का गठन करना शुरू कर दे। हो सकता है कि ऐसी प्रतिनिधि सभा पंचायतों का गठन शुरुआती दौर में पूँजीवादी संसदीय प्रणाली को ख़ारिज करने की एक प्रतीकात्मक प्रक्रिया मात्र हो, पर जनसंघर्षों के आगे बढ़ने की प्रक्रिया में ऐसी प्रतिनिधि संस्थाओं का गठन और इनके अस्तित्व का बने रहना

एक कारगर हथियार बन सकता है और धीरे-धीरे ऐसी प्रतिनिधि संस्थाएँ जनता की क्रान्तिकारी समानान्तर सत्ता का केन्द्र बनकर उभर सकती हैं।

अतः हमें साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के विरुद्ध नयी सर्वहारा क्रान्ति की तैयारी के इस दौर में सच्चे जनवाद की बहाली के लिए लोकस्वराज्य पंचायतों के गठन का नारा बुलन्द करना होगा। साथ ही साथ हमें मात्र 11 फ़ीसदी लोगों का प्रतिनिधित्व करने वाली संविधान सभा द्वारा निर्मित जनविरोधी पूँजीवादी संविधान को रद्दोबदल करके एक नया संविधान बनाने के लिए सार्विक मताधिकार के आधार पर गठित एक नयी संविधान सभा बुलाने का नारा भी बुलन्द करना होगा।